ओ३म्

चयनिका

क्षितीश वेदालंकार

चयनिका

(चुने हुए लेखों का संकलन)

क्षितीश वेदालंकार

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

मूल्य : १२५.००

प्रकाशक : गोविन्दराम हासानन्द, ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६/
संस्करण : प्रथम, १९९१ / मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२

आत्मकथ्य

मेरे चिन्तन की एक विशेष दिशा रही है। जिस युग में मैंने होश सँभालना शुरू किया और जैसी मेरी शिक्षा-दीक्षा तथा संस्कार थे, उन सबका चिन्तन की उस दिशा में हाथ था। उस पीढ़ी के और उन परिस्थितियों में पले-ढले अधिकांश लोगों के चिन्तन पर उस दिशा का असर रहा है।

जब मैं गुरुकुल कुरुक्षेत्र में पंचम कक्षा में प्रथम आया तो मुझे ५ रु० पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुए। उस समय यही राशि बहुत थी। गुरुकुल में पैसा अपने पास रखने का नियम नहीं था। मैं इन पाँच रुपयों का क्या करता? महात्मा गांधी उस समय 'नवजीवन' पत्र निकालते थे। मैं उसका ग्राहक बन गया। प्रति सप्ताह पत्र मेरे पास आने लगा। उस उम्र में उसके लेखों को पढ़ने और समझने की तमीज तो क्या होती, पर मैं पत्र की फाइल क्रमवार सहेजकर रखता। कभी-कभी गुरुजन ही उसका लाभ उठाते।

सन् २९-३० का जमाना था। हम गुरुकुल में रोज रात को गर्मियों में भोजन के बाद पुलिस और सत्याग्रहियों का नाटक खेलते। छात्रों का एक दल पुलिस बनता और दूसरा दल सत्याग्रही। सत्याग्रही 'इनकलाब जिन्दाबाद' और 'भारत-माता की जय' के नारे लगाते हुए जुलूस निकालते और पुलिस वाले उनको घेरकर कोड़े लगाते। कोड़े अँगोछे के होते। अगले दिन पुलिस वाले सत्याग्रही बनते और सत्याग्रही पुलिस वाले। रोज यही नाटक दुहराया जाता। ऊबने का सवाल नहीं था।

उन्हीं दिनों हमें हिन्दी पढ़ाने के लिए एक नए अध्यापक आए। नाम था राजीवलोचन शर्मा, बलिया-निवासी। अच्छे कवि थे; देशभक्ति से भरी कविताएँ लिखा करते थे। कभी-कभी चन्द्रशेखर आजाद जैसे क्रान्तिकारियों के किस्से सुनाया करते। उससे हम छात्रों में भी वैसे ही भाव उभरते। उन्हीं दिनों गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी की चतुर्दश कक्षा के एक छात्र श्री सत्यदेव गुरुकुल कुरुक्षेत्र आए। उन्होंने हम छोटे-छोटे छात्रों को देश की तत्कालीन परिस्थिति, अंग्रेजों के विरुद्ध चलने वाले कांग्रेस के सत्याग्रह और देश के लिए मर-मिटने के लिए तैयार रहने के लिए खूब जोशीला व्याख्यान दिया। बाद में पता लगा कि गुरुकुल काँगड़ी का महाविद्यालय-विभाग बन्द हो गया है, अधिकांश अध्यापक और महाविद्यालय के छात्र सत्याग्रह करके जेल चले गए हैं। जो ब्रह्मचारी सत्यदेव कुरुक्षेत्र में भाषण देने आए थे, वे सहारनपुर जिले के सत्याग्रहियों के दलपति बने और अनेक साथियों

के साथ जेल गए। कौन कल्पना करेगा कि वही विद्रोही व्यक्ति आज पं० सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार के रूप में एक महान् उद्योगपति है और उसके औद्योगिक संस्थान विश्व के चार महाद्वीपों में फैले हुए हैं! उस समय वे विदेशी दासता से मुक्ति के लिए लड़े थे, आज ८० वर्ष की आयु पार करके भी आर्थिक दासता से मुक्ति के लिए संघर्षरत हैं।

छठी कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते हमारी कक्षा के सभी छात्र इतने आन्दोलित हो उठे कि एक दिन उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब हम पढ़ेंगे नहीं, सत्याग्रह करके जेल जाएँगे। गुरुकुल कुरुक्षेत्र में आठवीं कक्षा तक पढ़ाई होती थी। हमारी कक्षा के छात्रों की संख्या हमसे ऊपर की कक्षाओं के छात्रों से अधिक थी। हममें जोश भी अधिक था और हमारी कक्षा के कई छात्र अच्छे प्रतिभाशाली थे। इसलिए पंचम कक्षा से अष्टम कक्षा तक का भी नेतृत्व हमारी कक्षा के ही हाथ में था। हमारी कक्षा के छात्रों ने जब अपनी कक्षा का बहिष्कार कर दिया तो हमारी देखा-देखी हमसे ऊपर की कक्षाओं ने भी बहिष्कार कर दिया। हम सब विद्यार्थी गुरुकुल से निकलकर नारे लगाते हुए थानेसर पहुँचे। उस समय कुरुक्षेत्र तो केवल सूर्यग्रहण के मेले पर ही आबाद होता था, बाकी समय वीरान रहता था। जो कुछ था, वह थानेसर शहर ही था। यही थानेसर कभी महाराज हर्ष के समय स्थाण्वीश्वर के नाम से भारत-प्रसिद्ध राजधानी थी। हमें कुछ पता नहीं था कि क्या करना है। केवल अन्धा जोश था। शहर में जुलूस बनाकर गुजरते हुए किसी ने हमें नहीं पकड़ा। बच्चों को कौन पकड़ता? हैरानी से लोग देखते रहे कि क्या तमाशा है! चलते-चलते थक गए। गुरुकुल तो वापस जाना नहीं, क्योंकि स्वयं कक्षाओं का बहिष्कार करके आए हैं। लौटकर सन्निहित सरोवर के घाट पर बैठ गए। अब क्या करें?—समझ में नहीं आता था। बारी-बारी से गुरुजन हमें समझाने आए। पर हम कहाँ मानने वाले थे? धीरे-धीरे शाम हो गई। दिसम्बर का महीना था। अन्त में वही राजीवलोचन शर्मा समझाने आए जो हमें हमेशा देशभक्ति का पाठ पढ़ाया करते थे। सर्दी बढ़ने लगी। रात को जाते भी कहाँ? हम मान गए। गुरुकुल वापस लौट गए।

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता ने, जो कभी सरकारी सर्विस में डिप्टी मजिस्ट्रेट रहे थे और गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के प्रेमी थे, इस बीच छठी कक्षा को विद्रोही और शरारत की जड़ मानकर पिताओं को तार दे दिए—'सीरियस कंडीशन, कम सून!' अगले दिन से कइयों के पिता आने लगे। मेरे पिताजी भी आए। मुख्याधिष्ठाता ने उनसे कहा—'आपका पुत्र गुरुकुल का अनुशासन भंग करता है, अन्य साथियों को भी भड़काता है, सबसे आगे बढ़कर नारेबाजी करता है। इसे घर ले जाइए।' अर्थात् मुझे गुरुकुल से निकाल दिया गया। मेरे पिताजी व्यवहार-कुशल थे। शायद देश में उस समय की हलचल पर भी उनकी नजर थी। उन्होंने मुझे

समझाया—'बेटा ! तुम कई सालों से अपनी माँ से नहीं मिले हो; अपने भाई-बहनों से भी नहीं। घर चलो ! कुछ दिन बाद वापस आ जाना।' घर चला गया। पिताजी मुझे गाँव में छोड़कर रावलपिण्डी चले गए, जहाँ वे एक व्यापारिक प्रतिष्ठान में काम करते थे। मैं घर पर दिनभर एक कोने में बैठा तकली चलाया करता। गांधी का रंग चढ़ चुका था। रिश्तेदार और गाँव के लोग गुरुकुल के ब्रह्मचारी को देखने आते। फिर कहते—'हमारे गाँव में भी एक नया गांधी आया है।'

पिताजी एक महीने बाद रावलपिण्डी से गाँव आए। बोले—'बेटा ! बोलो कहाँ पढ़ना चाहते हो ? जिस स्कूल में कहो, भर्ती करवा देते हैं।' मैंने कहा—'पढ़ूँगा तो गुरुकुल में ही और सो भी उसी गुरुकुल में।' तब पिताजी ने बताया कि 'गुरुकुल वाले तो तुम्हें निकाल चुके हैं।' तब मुझे पिताजी द्वारा घर लाने का रहस्य समझ में आया। मैंने कहा—'फिर मैं और कहीं नहीं पढ़ूँगा। गाँव में ही खेती करके गुजारा कर लूँगा।' पिताजी मुझे लेकर कुरुक्षेत्र पहुँचे। गुरुकुल वालों ने मुझे वापस रख लिया। अपनी कक्षा में प्रथम आने वाले छात्र को कैसे छोड़ते ? साथियों ने स्वागत किया। पर कुछ साथी फिर वापस लौटकर गुरुकुल नहीं आए। कुछ के पिताओं ने गुरुकुल के अधिकारियों से माफी माँग ली और पुत्र को समझाया कि भविष्य में गुरुजनों का कहना मानना। तब तक हमारे अध्यापक राजीवलोचन भी गुरुकुल से जा चुके थे।

एक घटना और !—गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर हम छात्र ही पण्डाल की सजावट के लिए अपने हाथों से वेदमन्त्रों, सुभाषितों, श्लोकों और दोहों के मोटो बनाकर टाँगा करते। जब मैं सप्तम कक्षा में आया, तो न जाने मुझे क्या सूझी कि मैंने एक अंग्रेजी का मोटो बनाया। उससे पहले वहाँ अंग्रेजी का मोटो नहीं बना होगा। परम्परा ही नहीं थी। मैंने वह अंग्रेजी वाला मोटो मंच के ठीक पीछे ऐसे स्थान पर लगा दिया जहाँ आते ही सबसे पहले उसी पर दृष्टि पड़े। वार्षिकोत्सव का पहला दिन ! अम्बाला से कई गुरुकुल के भक्त, दानी, पर अंग्रेजों के पिट्ठू 'महापुरुष' आए। पण्डाल में घुसते ही उनकी नजर भी उस मोटो पर पड़ी। वे आगबबूला हो उठे। उन्होंने गुरुकुल के अधिकारियों से कहकर वह मोटो वहाँ से उतरवा दिया और कहा कि जिस विद्यार्थी ने यह मोटो बनाया है उसे गुरुकुल से तुरन्त निकाल दो। अधिकारियों को यह पता भी नहीं था कि वह किसने बनाया है। पता भी होता, तो शायद वे ऐसी गलती दुबारा न करते, जैसी एक बार पहले कर चुके थे। पाठक पूछेंगे—आखिर वह मोटो क्या था जिसने साँड के सामने लाल कपड़े का काम किया। वह मोटो था अब्राहम लिंकन का एक छोटा-सा वाक्य—

If slavery is not wrong,
nothing is wrong.

उस ज़माने के सरकार-परस्त इस वाक्य को कैसे पचाते ?

आठवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते मैंने खद्दर पहनने का नियम बना लिया। उसी वर्ष गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव पर गया तो स्थानीय गांधी आश्रम से खादी खरीदकर एक नेकर और एक कुर्ता सिलवा लिया। वही पहनता रहा। मैले हो जाने पर धो डालता। वे कब तक चलते ? घिसते-घिसते फटने लगे। एक दिन गुरुकुल के मुख्याध्यापक ने 'फटा कुर्ता पहनते हैं'—कहकर उसे और फाड़ दिया। अब मैं क्या पहनूँ ? तब गुरुकुल में छात्रों के लिए मिल का कपड़ा ही आता था। मुझे कहा गया—'स्टोर में जाकर नया कुर्ता और नई नेकर ले लो।' मैंने कहा—'मिल का कपड़ा मैं नहीं पहनूँगा। अब मैंने खद्दर पहनने का व्रत ले लिया है।' फलतः एक मास तक मैं केवल लंगोट पहनकर रहा—आश्रम में भी, विद्यालय में भी। अन्त में मेरे लिए खद्दर का एक अलग थान आया। उससे मेरा कुर्ता और नेकर सिये गये। धीरे-धीरे अन्य छात्र भी खादी की ज़िद करने लगे। तब सबके लिए खादी ही आनी शुरू हो गई, मिल का कपड़ा बन्द हो गया।

आठवीं कक्षा के बाद नवम और दशम कक्षा में पढ़ने के लिए गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में आ गया। वहाँ भी दशम कक्षा में एक बार मुझे गुरुकुल से निकाले जाने की नौबत आ गई। हुआ यह कि दसवीं कक्षा के छात्रों ने कोई शरारत की थी। उस शरारत से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था, पर समझा यही गया कि मैंने ही सबको भड़काया है। मुझसे जवाब तलब किये बिना ही मुझे गुरुकुल से निकालने का फैसला हो गया और रजिस्टर में लिखित रूप से दर्ज हो गया। पर मुझ तक आदेश पहुँचने से पहले ही मुझे साँप ने काट खाया। सारे गुरुकुल में हाहाकार मच गया। गुरुकुल के मुख्याध्यापक की आँखों में तो आँसू आ गए। कहने लगे—'हाय ! गुरुकुल का इतना होनहार विद्यार्थी ऐसे ही चल बसेगा !' उस समय गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता भी इन्द्रप्रस्थ आये हुए थे। वे भी घण्टों मेरी नब्ज पकड़े बैठे रहे। जब डॉक्टर ने सर्प-विष-विरोधी इंजेक्शन देने के कुछ घण्टे बाद मुझे खतरे से बाहर घोषित कर दिया, तभी वे मेरे पास से उठकर गए। उसके बाद मुझे निकाले जाने की किसी ने कोई चर्चा नहीं की। मुझे भी कई दिन बाद ही इस घटना के पूर्वापर-प्रसंग का ज्ञान हुआ।

१९३५ में, दशम कक्षा उत्तीर्ण कर गुरुकुल काँगड़ी के महाविद्यालय में पढ़ने के लिए आ गया। यहाँ भी जब अन्तिम वर्ष का छात्र था और मेरी स्नातक परीक्षा होने में केवल एक मास शेष था, तब सन् १९३९ के जनवरी मास में निजाम-हैदराबाद में आर्यसमाज का सत्याग्रह शुरू होने की खबर गुरुकुल पहुँचते ही मैं जेल जाने को तैयार हो गया। मेरी कक्षा के सब विद्यार्थी गुरुकुल के आचार्य जी के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि 'गुरुकुल के और विद्यार्थी भले ही सत्याग्रह में चले जाएँ, पर इसे मत जाने दीजिए। इसके बिना हमारी कक्षा श्रीहीन

हो जाएगी। यही तो कक्षा की नाक है ! गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर जब हम स्नातक बनेंगे और हमारा दीक्षान्त-संस्कार होगा, तब हम सबका प्रतिनिधित्व कौन करेगा ?' आचार्य जी ने मुझे स्नेहपूर्वक समझाया—'ये सब ठीक ही तो कहते हैं ! स्नातक-परीक्षा निकट है। तुम्हारा सारा जीवन दाँव पर है। ऐसी गलती मत करो ! पीछे पछताओगे। स्नातक बनने के बाद सत्याग्रह में चले जाना। तब तुम स्वतन्त्र होगे, हम भी नहीं रोक सकेंगे।' मैंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया—'पीछे जाने वाले और बहुत मिल जाएँगे, पर इस समय जाने वाला कौन है ? मैं अपने लिए नहीं, गुरुकुल के यश के लिए जाना चाहता हूँ कि सत्याग्रह में सबसे पहले सत्याग्रही गुरुकुल काँगड़ी के छात्र थे। परीक्षा का क्या है ! वह तो जेल से लौटने के बाद भी दी जा सकती है। यदि जेल से नहीं लौट सका, वहीं प्राणान्त हो गया, तब भी गुरुकुल का यश तो अक्षुण्ण रहेगा कि पहली आहुति 'यहाँ के छात्र ने दी !' इस पर आचार्य जी गम्भीर हो गए। मुझे और कुछ नहीं कहा। मेरे पिताजी के नाम एक चिट्ठी लिखी और सारी स्थिति बताते हुए कहा कि 'यह हमारे कहने से नहीं मानता, आप ही इसे समझाइए।' आचार्य जी ने वह चिट्ठी एक उपाध्याय (प्रोफेसर) को देकर हमारे जत्थे के साथ दिल्ली भेजा। मेरे पिताजी उस समय दिल्ली में ही थे। आचार्य जी ने उपाध्याय महोदय से कहा कि 'इसके पिताजी को मौखिक रूप से भी समझाना और जब तक वे लिखित स्वीकृति न दे दें, तब तक इसे जाने मत देना।' उस चिट्ठी का क्या हुआ, कैसे मैंने अपने पिताजी से स्वीकृति प्राप्त की—इत्यादि का वर्णन मैं अपनी 'निजाम की जेल में' पुस्तक में कर चुका हूँ, इसलिए यहाँ उसको दुहराना व्यर्थ है। निष्कर्ष यही है कि मैं अपने १४ साथियों के साथ, जासूसी उपन्यास के-से ढंग से, किसी तरह हैदराबाद पहुँचा, जबकि रियासत की सभी सीमाओं पर पुलिस की कड़ी नाकेबन्दी थी, और ऐन निजाम की नाक के नीचे, सत्याग्रह करके बन्दी बना और गुरुकुल को उत्तर भारत के प्रथम सत्याग्रही जत्थे का दुर्लभ यश मिला। यह एक तरह से मेरे बचपन के संस्कारों की इस रूप में परिणति थी।

यह है वह पृष्ठभूमि जिस पर मेरा चिन्तन परवान चढ़ा और उसे वह दिशा मिली जिसका मैंने शुरू में संकेत किया है। गांधी ने मेरे हृदय को और ऋषि दयानन्द ने मेरी बुद्धि को परिष्कार दिया। गांधी ने सहिष्णुता, समन्वय, स्थित-प्रज्ञता और धैर्य की प्रवृत्ति दी। ऋषि दयानन्द ने तर्कणा, शास्त्रों के मर्म को समझने की कुंजी, निर्भीकता और विचारों की दृढ़ता दी। गुरुकुल की शिक्षा ने संयम, सादगी, सात्त्विक जीवन का अनुराग और धन-वैभव के प्रति वितृष्णा प्रदान की। उपदेशकी ने अपने विचारों को जनग्राह्य ढंग से कहने की क्षमता दी और पत्रकारिता ने राजनीति के विश्लेषण की समझ तथा बात को कहने की वह कला दी जिससे अपने खरेपन में खारेपन से बचा जा सके। मैंने गांधी-युग देखा, नेहरू-युग

देखा, इन्दिरा-संजय-राजीव-युग देखा और अब आधुनिक युग में नीति-विहीन राजनीति का नग्न ताण्डव भी देख रहा हूँ।

मन में कभी सांसारिक महत्त्वाकांक्षा नहीं पाली। इसे आप मेरी विवशता भी कह सकते हैं। चाहे तो 'खट्टे अंगूर' कह लें, पर मेरे मन में राष्ट्रकवि माखनलाल चतुर्वेदी की 'भारतीय आत्मा' के नाम से लिखी ये पंक्तियाँ सदा घुमड़ती रहीं—

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जाते वीर अनेक॥

इससे मेरी मानसिक स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। फिर मेरे चिन्तन पर, लेखन पर, वक्तृत्व पर उसका असर क्यों न होता! यही कारण है कि मेरा चिन्तन सदा राष्ट्रपरक रहा। मेरे जीवन-वृत्त की परिधि का केन्द्रबिन्दु सदा राष्ट्र रहा, इसलिए अनेक लेखों में चिन्तन की उसी दिशा की झलक मिलेगी। कहीं-कहीं पुनरुक्ति भी हो सकती है, क्योंकि ये लेख विभिन्न समयों में लिखे गए हैं। पर नींव को छोड़कर, इमारत और जड़ को छोड़कर, वृक्ष की शाखाएँ कहाँ टिकेंगी! यही मेरा चिन्तन है, लेखन है, मेरा व्यक्तित्व है, 'मैं' हूँ।

जीवन के ७५ सोपान पार कर लेने पर, वैदिक व्यवस्था के हिसाब से मुझे संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो जाना चाहिए। पर मैं अपने-आपको इस योग्य नहीं पाता। मुझे किसी भी चीज़ से वैराग्य नहीं है—न प्रकृति से, न परिजन से, न जन से। सबसे अनुराग है, पर मोह किसी से नहीं। न पहले था, न अब है। मुझे आवागमन के चक्र से छूटने की भी आकांक्षा नहीं है। ऋषि दयानन्द मुक्ति से पुनरावर्तन मानते हैं। मैं इस पुनरावर्तन को पुनर्जन्म का प्रतीक मानता हूँ।

आगे सब-कुछ उस अन्तर्यामी के हाथ है।

२० अक्तूबर, १९९१ —**क्षितीश वेदालंकार**
(७६वें जन्मदिवस पर)

विषयानुक्रम

दयानन्द और आर्यसमाज

१. ऋषि दयानन्द के आने से पहले १३
२. मूलशंकर के बालसखा—इब्राहीम २५
३. स्वातन्त्र्य संघर्ष की दोनों धाराओं के जनक २७
४. ऋषि दयानन्द—१८५७ से १८७५ तक ३३
५. आर्यसमाज की स्थापना का महत्त्व ५७
६. आर्यसमाज की विचारधारा ६०
७. ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे ? ६९
८. स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्यसमाज का योगदान ७२

ईश्वर, वेद और सत्यार्थप्रकाश

९. ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन ७८
१०. ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) बुद्धिवाद की कसौटी पर १००
११. मैं कौन हूँ ? १०८
१२. ऋग्वेद में 'भारत' और 'भारती' ११७
१३. वाममार्ग का उद्भव, स्वरूप और विकास १२३

शिक्षा और संस्कृत

१४. शिक्षा का उद्देश्य १४१
१५. ग़लत दिशा देने वाली शिक्षा १४६
१६. भारत को इण्डिया मत बनाओ १५०
१७. व्याध का घातक तीर १५४
१८. क्या संस्कृत मृत भाषा है ? १५८
१९. बिना केन्द्रबिन्दु के वृत्त और परिधि कैसी ? १६२

धर्म, समाज और राजनीति

२०. धर्म और राजनीति १६६
२१. हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान १७८

२२. हिन्दू-विरोधी से राष्ट्र-विरोधी १८२
२३. हिन्दू राज्य ही क्यों ? १८७
२४. कुरीतियाँ कैसे पनपती हैं ? १९३
२५. इतिहास की गंगा का प्रदूषण १९७
२६. इस्लाम अपने ही आईने में २०१
२७. अल्पसंख्यकों की समस्या २०५
२८. आरक्षण या जातियुद्ध २०९

आर्य महापुरुष

२९. आर्य संस्कृति के प्रतीक—श्रीराम २१३
३०. राष्ट्रधर्म के पुरस्कर्ता—श्रीकृष्ण २१७
३१. दो गुरुदत्त २२५
३२. अपने लहू से लेखराम तेरी कहानी लिख गया २४४
३३. शिक्षा-क्षेत्र के दो दिशानायक महारथी २४८

विविध

३४. श्रीकृष्ण की द्वारका २६७
३५. ऋषि दयानन्द—मेरी दृष्टि में आप्त राष्ट्रपुरुष २७४
३६. उपदेशक-जीवन के संस्मरण ३०४

ऋषि दयानन्द के आने से पहले

ऋषि दयानन्द के आने से पहले भारत की स्थिति क्या थी, इस पर विचार करते समय सुदीर्घ इतिहास को दो खण्डों में बाँट सकते हैं– एक खण्ड वैदिक काल और दूसरा खण्ड अवैदिक काल। सामान्य दृष्टि से महाभारत से पूर्व के समय को हम वैदिक काल और उसके परवर्त्ती समय को अवैदिक काल कह सकते हैं। अवैदिक काल में किस प्रकार तन्त्र, वाम मार्ग, शैव, शाक्त, चार्वाक, आभाणक, बौद्ध व जैन आदि मतों की स्थापना हुई, इसका लम्बा इतिहास है।

वेद से विहीन होने के पश्चात् ही तन्त्र आदि मतों का प्रचलन हुआ। उसके बाद चार्वाकों ने जिस प्रकार वेद-विरोधी मत का प्रचार किया, उसके मूल में मुख्य कारण था ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रक्षिप्त वचन और महीधर आदि की वेदों का दूषित अर्थ करने की परम्परा। जब वेद के नाम पर यज्ञों में पशु-हिंसा के वीभत्स दृश्य उपस्थित होने लगे, तब इस उग्र हिंसा की प्रतिक्रिया बौद्ध और जैन मतों की अति-वादी अहिंसा के रूप में प्रकट होनी स्वाभाविक ही थी। संक्षेप में उसका चित्र यों बना सकते हैं—

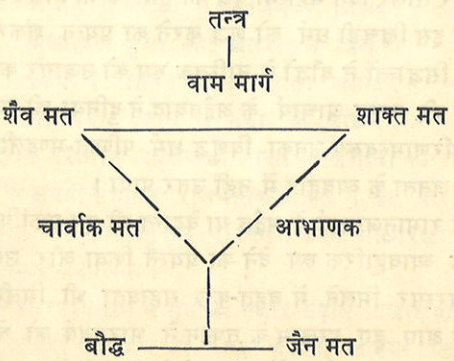

परन्तु मौर्य साम्राज्य के क्षय के साथ भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हुआ और पाटलिपुत्र के अन्तिम मौर्य-नरेश को मारकर शुंग वंश का राजा पुष्य-मित्र सिंहासन पर बैठा। उसे अपने साम्राज्य का विस्तार करने में उस युग के धार्मिक विद्रोह ने भी काफी सहायता दी। उसने बौद्ध युग में आई वैदिक धर्म की

विकृतियों को हटाकर बौद्धों से पहले की स्थिति को वापस लाने का प्रयत्न किया। पुष्यमित्र के समय बौद्ध धर्म के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने वैदिक धर्म पर अपनी स्थिर छाप छोड़ी और बौद्ध धर्म धीरे-धीरे भारत से विलुप्त होने लगा। यद्यपि पुष्यमित्र के काल से वैदिक धर्म जिस रूप से आने लगा वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत-कुछ भिन्न था, परन्तु गुप्त साम्राज्य के अन्त तक, ५५० ईसवी तक, हमें उसी धर्म का प्राधान्य मिलता है।

इस युग में विभिन्न भारतीय मतों में पारस्परिक संघर्ष और सहयोग, दोनों की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। भारतीयों की जिस सहिष्णुता और धार्मिक उदारता की चर्चा की जाती है, वह बहुत-कुछ इसी युग की देन है। इसी सहयोग का परिणाम था कि बौद्ध धर्म के वेद-विरोधी होते हुए भी पुराणों में महात्मा बुद्ध को विष्णु के दस अवतारों में गिना गया। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के मिश्रण से नई शाखा चल पड़ी जिसका नाम महायान पड़ा। नालन्दा तथा विक्रमशिला आदि विख्यात विद्यापीठ इसके गढ़ बने। इसी उदारता का परिणाम था कि विचार-भेद होते हुए भी, धर्म के नाम पर अत्याचार इस देश में नहीं हुए। परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि इसी उदारता ने भारतवर्ष के धर्म को खिचड़ी-धर्म बना दिया। जो उदारता एक गुण थी, वही एक दोष भी बन गई। विशुद्ध वैदिक धर्म इधर-उधर की मिलावट के कारण एक खासा अजायबघर बन गया। राजा हर्ष (६०६ ईसवी) के राजकाल में इस खिचड़ी धर्म का अच्छा अभिनय दिखाई देता है। श्रद्धालु राजा एक दिन शिव की पूजा करता है, दूसरे दिन सूर्य को अर्घ्य देता है और तीसरे दिन महात्मा बुद्ध की मूर्ति के आगे सिर झुकाता है।

इसके बाद इस खिचड़ी धर्म को शुद्ध करने का प्रयत्न शंकराचार्य ने किया। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों ने बौद्धों के नास्तिक रूप को उजागर करके एकेश्वरवाद की तो स्थापना की, परन्तु आचार्य के अद्वैतवाद ने दुनिया की व्यावहारिकता को भुला दिया। परिणामस्वरूप उनका विशुद्ध धर्म पण्डित-मण्डली के लिए ही रह गया और आम जनता के व्यवहार में नहीं उतर पाया।

इसके बाद रामानुजाचार्य ने अद्वैत या वेदान्त की इस एकांगिता को दूर करके उसे कुछ अधिक व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया और उससे भिन्न-भिन्न जातियों को परस्पर मिलने में बहुत-कुछ सहायता भी मिली, परन्तु तब तक पश्चिमोत्तर से आए हुए इस्लाम के तूफान ने भारतवर्ष को घेर लिया जिससे वैदिक धर्म की प्रगति रुक गई। जैसे बाज को देखकर चिड़िया अपने पंख सिकोड़-कर बैठ जाती है, वैसे ही इस्लाम के बवण्डर ने भारत के निवासियों के लिए सिवाय आत्मरक्षा के और कुछ सोचने का अवसर नहीं छोड़ा।

सन् १००० ईसवी से लेकर अब तक आर्य जाति को आत्मरक्षा के लिए इसी संघर्ष से गुजरना पड़ा। उसे इस्लाम और ईसाइयत के मुकाबले में अपनी आत्म-

रक्षा के लिए तरह-तरह के उपाय अपनाने पड़े। इस युग में व्याकरण, न्याय और काव्य के धुरंधर विद्वान् इस देश में पैदा हुए। परन्तु जाति के धार्मिक और सामाजिक संगठन पर उसका कोई व्यापक असर दिखाई नहीं देता। जाति ऐसे संकट में फँस गई थी जिससे व्याकरण की फक्किकाएँ और नव्य न्याय की कन्दलिकाएँ उद्धार नहीं कर सकती थीं।

इस्लाम के आगमन के बाद

११वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत पर मुसलमानों का पूरा आक्रमण प्रारम्भ होता है। यह आक्रमण केवल राजनैतिक नहीं था, मुख्य रूप में धार्मिक था। राजनीति उसका केवल एक माध्यम थी। 'तेगों के साए में पल कर बड़े होने वाले' भारत को अपनी तेग के जोर से ही मुसलमान बनाने आए थे। इस्लाम के रूप में जो नई शक्ति उदय हुई थी वह मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया को रौंदती हुई जब भारतवर्ष पहुँची, तब उस समय का छिन्न-भिन्न भारत जिस स्वल्प प्रयत्न से राजनैतिक पराधीनता में आ गया, इससे शायद आक्रमणकारियों को भी आश्चर्य हुआ हो। परन्तु यह निश्चय से कहा जा सकता है कि संसार के अन्य देशों में इस्लाम को जितनी सफलता मिली, उतनी सफलता भारत में नहीं मिली। इसी बात को मौलाना हाली ने यों लिखा है—

वो दीने हजाजी का बेबाक बेड़ा
निशां जिसका अकसाय आलम में चमका
न जैहू में अटका न कुलजम में झिझका
मुकाबिल हुआ कोई खतरा न जिसका
किये पै सिपर जिसने सातों समन्दर
वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।

कई सदियों तक पराधीन रहकर भी भारत मुसलमानों की राजनैतिक शक्ति के मुकाबले भले ही अपनी संगठित राजनैतिक शक्ति न खड़ी कर सका हो, किन्तु उसने धार्मिक संगठन में समयानुकूल परिवर्तन करके आत्मरक्षा के लिए अपने-आपको अवश्य सन्नद्ध कर लिया।

इस काल में भारतीय धर्म में हमें जो उतार-चढ़ाव दिखाई देते हैं वे दो प्रकार के हैं। एक ओर बाहरी आक्रमण को रोकने के लिए खाइयाँ खोदी जा रही थीं, दूसरी ओर धर्म का विश्वव्यापी रूप उपस्थित करके इस्लाम को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया जा रहा था। इन दोनों ही प्रयत्नों में बाहरी असर था। सती-प्रथा, परदा, खानपान के बन्धन, जात-पात के कड़े विधान तथा छूआछात—ये ऐसी बाड़ें थीं जिनका उद्देश्य इस्लाम से भारतीय धर्म की रक्षा करना था।

परन्तु जो बाँध इस्लाम की गति को रोकने के लिए बनाए गए थे वे पूरी तरह

लाभदायक सिद्ध नहीं हुए। उन्होंने शुद्ध हवा का प्रवेश रोक दिया और उन्नति के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ी। धर्म की प्रगतिशीलता के प्रवाह को किनारों से घेरकर खाई को मच्छर और कीचड़ का घर बना दिया। किले के अन्दर घुसे रहकर शत्रु को नष्ट नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो किले से निकलकर शत्रु पर टूट पड़ना ही एकमात्र उपाय है। दुर्भाग्य से उस समय के हिन्दू धर्म में यह माद्दा नहीं आ पाया। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक हम भारत को इन्हीं जंजीरों से बँधा पाते हैं।

सम्प्रदायों का बाहुल्य

धीर-धीरे आत्मरक्षा के लिए किले के अन्दर बैठे हुए हिन्दू मतावलम्बियों में भी आपस में फूट पड़ने लगी और अनगिनत सम्प्रदाय पैदा हो गए। इन सम्प्रदायों की संख्या का कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि ऋषि दयानन्द के आने से पहले जहाँ वैष्णवों के २० सम्प्रदाय थे, वहाँ शैवों के ७ और शाक्तों के १४ सम्प्रदाय थे। आश्चर्य की बात यह है कि एक ही मत के होने पर भी ये एक-दूसरे का विरोध करते थे और अपने को सच्चा तथा दूसरे को झूठा कहते थे। उस समय वैष्णवों के तत्कालीन सम्प्रदाय निम्न थे—

(१) श्री सम्प्रदाय, (२) वल्लभाचारी, (३) मध्वाचारी या ब्रह्म सम्प्रदाय, (४) सनकादिक सम्प्रदाय या नीमावत, (५) रामानन्दी या रामावत, (६) राधावल्लभी, (७) नित्यानन्दी, (८) कबीरपन्थी, (९) खाकी, (१०) मलूकदासी, (११) दादूपन्थी, (१२) रामदासी, (१३) सेनाई, (१४) मीराबाई, (१५) सखीभाव, (१६) चरणदासी, (१७) हरिश्चन्द्र, (१८) साधनापन्थी, (१९) माधवी, (२०) वैरागी और नागे संन्यासी।

शैवों के ७ बड़े भेद थे—

(१) संन्यासी दण्डी आदि, (२) योगी, (३) जंगम, (४) ऊर्ध्व बाहू, (५) गूदड़, (६) रूखड़, (७) कड़ालिंगी।

शाक्तों के मुख्य भेद निम्नलिखित थे—

(१) दक्षिणाचारी, (२) वामी, (३) कानचेलिए, (४) करारी, (५) अघोरी, (६) गाणपत्य, (७) सौरपत्य, (८) नानकपन्थी, (९) बाबा लाली, (१०) प्राणनाथी, (११) साध, (१२) सन्तनामी, (१३) शिव नारायणी, (१४) शून्यवादी। ('आर्य दर्पण'—१८८० जून ई०)

विदेशी तूफान

भारत इस दौर से गुजर ही रहा था कि १८वीं सदी में एक नया विदेशी तूफान शुरू हो गया। उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी आकांक्षाओं से ओतप्रोत

यूरोपियन जातियाँ अपनी आखेट-भूमि की टोह लगाती हुई भारत के समुद्री सीमान्तों पर उतरीं। यूरोपियन जातियाँ अपने साथ दो चीजें लाईं—एक ईसाइयत और दूसरी पाश्चात्य सभ्यता। इस्लाम तलवार के साथ आया था, इसलिए जिस वेग से वह फैला, उसी वेग से उसका प्रतिरोध भी हुआ। परन्तु ईसाइयत का प्रवेश दूसरे ढंग से हुआ। ईसाइयत के प्रचार में शिक्षणालय, प्रचार का संगठन, और प्रलोभन—ये तीन साधन प्रधान थे। ईसाइयों ने अपने स्कूल-कॉलेज खोलकर भारतीयों के मस्तिष्क को अपने विचारों से प्रभावित करने का प्रयत्न किया और उसमें उनको सफलता भी कम नहीं मिली। उनका प्रचार-सम्बन्धी संगठन पहले ही बहुत बढ़िया था। भारत में आकर जब उन्हें राज्य का प्रश्रय मिला तो भारत के सुदूरवर्ती जंगलों तक मिशनरियों को पहुँचने में कोई बाधा नहीं हुई। इसके अतिरिक्त जितने भारतवासी ईसाई बने, उनका सामाजिक दर्जा चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, किन्तु उनके ईसाई बनने में तरह-तरह के प्रलोभनों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। भारतवासियों ने अपने सहज विश्वासी मन से बिना किसी आशंका के ईसाइयों का और उनके द्वारा लाई गई पाश्चात्य सभ्यता का हृदय से स्वागत किया। कई प्रतिष्ठित भारतवासी, जो शायद तलवार का डर दिखाने पर अपना धर्म छोड़ने के बजाय तलवार के घाट उतर जाना ज्यादा पसन्द करते, वे भी ईसाइयत के इस मन्द विष (स्लो प्वाइज़न) के शिकार होकर स्वेच्छा से ईसाई बन गए। जिस पेचदार ढंग से ईसाइयत भारत के दुर्ग में प्रवेश कर रही थी, उसका एक परिणाम यह भी हुआ कि ईसाइयत और हिन्दूपन के भेद को समाप्त कर देने वाले आन्दोलन भी इस देश में प्रारम्भ हुए। यदि ब्रह्मसमाज के इतिहास को विस्तार से पढ़ा जाए तो प्रतीत होगा कि उसके नेताओं का उद्योग ईसाइयत और हिन्दू धर्म के मध्यम रूप को मिलाकर दोनों को साथ-साथ दीर्घजीवी बनाना था।

ईसाइयों ने किस प्रकार धीरे-धीरे इस देश के जीवन पर प्रभाव डाला, उसके कुछ थोड़े-से उदाहरण यहाँ देते हैं। सन् १८०० में लॉर्ड वैल्ज़ली ने फोर्ट विलियम में जो कॉलेज खोला था उसमें यह शर्त रखी थी कि वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति प्राध्यापक नहीं बन सकता जो ब्रिटिश सम्राट् के प्रति वफादारी की शपथ न ले और ईसाइयत के विरोध में निजी या सार्वजनिक रूप में कभी कोई वाक्य अपने मुख से निकाले। इस कॉलेज के सबसे बड़े पद पर एक पादरी को रखा गया था जिसका काम यह था कि भारत सरकार की सेवा में जाने के लिए फोर्ट विलियम में आने वाले लोगों को ईसाइयत की नैतिकता सिखावे। इतना ही नहीं, ६ फरवरी, १८०० को भारत का गवर्नर-जनरल, मुख्य न्यायाधीश और कमाण्डर-इन-चीफ तथा अन्य उच्च पदाधिकारी, पैदल कलकत्ते के नए चर्च में गए थे और उन्होंने मैसूर पर अंग्रेजों की विजय के लिए परमात्मा को धन्यवाद दिया था और सारे राष्ट्र को धन्यवाद-दिवस के रूप में वह दिवस मानने का आदेश दिया था। लॉर्ड

वैल्ज़ली ने ही सबसे पहले सरकार की ओर से बाइबल का बंगाली, हिन्दुस्तानी, मराठी, तमिल, परशियन और चीनी भाषा में अनुवाद के लिए सरकारी सहायता दी थी। श्रीरामपुर में १८१८ में जो कॉलेज खोला गया था, उसका उद्देश्य ही लोगों को ईसाई बनाना था। १८१८ में मिशन प्रैस ने ७०,००० ट्रैक्ट और पैम्फलैट छापकर बाँटे थे। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप मिशनरियों के आन्दोलन के उत्तर में उस समय के कुछ ब्राह्मणों ने मिलकर एक 'ब्राह्मणिकल मैगज़ीन' भी निकाली थी।

ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड केनिंग को गवर्नर-जनरल बनाकर हिन्दुस्तान भेजते समय साफ-साफ कह दिया था कि ब्रिटिश सरकार तुरन्त न सही, लेकिन अन्तिम रूप से ऐसा विश्वास करती है कि भारतवासियों का धर्मान्तरण हो जाएगा। १८२७ में एक ऐक्ट बनाया गया था जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि जो हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर लेगा उसके किसी केस का फैसला हिन्दू या मुसलमान न्यायाधीश नहीं कर सकता।

सामाजिक स्थिति

जहाँ तक सामाजिक अवस्था का सम्बन्ध है उसके लिए हम राजा राममोहन राय का यह उद्धरण उपस्थित करते हैं—

"बंगाल और तिरहुत के ब्राह्मणों में यह आम प्रथा है कि शादी के बहाने से कन्याओं का विक्रय किया जाता है और उनमें से कई ३०-४० तक लड़कियों से विवाह कर लेते हैं जिसका उद्देश्य केवल पैसा और वासना-पूर्ति होता है। आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रकार के कामों को ब्रिटिश राज्य का समर्थन प्राप्त है।"

वर्ण-व्यवस्था जिस विकृत रूप में प्रचलित थी उसमें भी गुण और कर्म के बजाय केवल जन्म को ही महत्त्व था। कोई छोटी जाति का व्यक्ति कभी किसी ऊँची जाति वाले के समकक्ष व्यवहार की आशा नहीं कर सकता था। कोई बड़े-से-बड़ा राजा भी चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, किसी ब्राह्मण को अब्राह्मण नहीं बना सकता था और किसी अब्राह्मण हिन्दू को चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली, सुशिक्षित और अन्य गुणों से सम्पन्न क्यों न हो, उसे ब्राह्मणत्व का दर्जा नहीं दे सकता था। एक जाति के लोग दूसरी जाति में विवाह करने को पाप समझते थे। नीची जातियों का जीवन इतना दयनीय था कि वे अपनी लड़कियों को छोटी उम्र में ही धनी मुसलमानों को बेच दिया करते थे।

विधवाओं की जैसी बुरी दशा थी उसका वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं। यद्यपि हिन्दू विधवा विवाह ऐक्ट बना हुआ था, किन्तु उस पर कभी अमल नहीं होता था। ऋषि दयानन्द को दुःखी होकर यहाँ तक कहना पड़ा था कि भारतवर्ष को जो दुर्दिन देखने पड़े हैं उसका कारण विधवाओं का अभिशाप ही है।

राजपूतों में और क्षत्रियों में कन्याओं के जन्म लेते ही उनको मार देने की

प्रथा थी। अकाल के दिनों में बंजारे और आदिवासी लोग अपने बच्चों को बेच दिया करते थे। किसी पशु या व्यक्ति के बीमार पड़ जाने पर यह समझा जाता था कि अमुक जादूगरनी के कारण यह बीमार हुआ है, इसलिए जिस महिला पर काले जादू का शक होता था उसे मार दिया जाता था। उड़ीसा की जंगली जातियों में नरबलि तक की प्रथा थी।

आर्थिक अवस्था

ऋषि दयानन्द के आने से पहले भारत की आर्थिक अवस्था क्या थी, इस पर भी थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है। १८वीं सदी तक भारत उद्योगों की दृष्टि से काफी विकसित था और इसकी अर्थ-व्यवस्था इतनी समर्थ थी कि ब्रिटेन के निवासियों को अपनी वस्तुओं को भारतीय बाजार में खपाना कठिन प्रतीत होता था। भारत की बनी हुई चीजें उस समय रोम तथा यूरोप के अन्य देशों में प्रचलित थीं और ढाका की मलमल तो पैरिस तथा लन्दन में इतनी लोकप्रिय थी कि अन्त में वहाँ की सरकारों को उनके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने को बाध्य होना पड़ा।

इस्पात का निर्माण इस हद तक पहुँच चुका था कि ईरान के व्यापारी उसे प्राप्त करने के लिए भारत आया करते थे और एशिया के अन्य देशों को उसका निर्यात किया करते थे। जहाज-निर्माण उस समय भारत का एक महत्त्वपूर्ण उद्योग था। लॉर्ड वैल्ज़ली ने अपनी जो रिपोर्ट लन्दन भेजी थी उसमें लिखा था कि कलकत्ता के बन्दरगाह पर भारत-निर्मित १०,००० टन के जहाज मौजूद हैं जो इंग्लैंड तक सामान ढोने के लिए पूरी तरह समर्थ हैं। यह उद्योग इस देश में इतना विकसित था कि लन्दन के बन्दरगाह पर भारतीय सामान से लदे हुए भारतीय जहाजों को देखकर ब्रिटिश जहाज-निर्माता चकित होते थे और ब्रिटिश जहाज-निर्माताओं ने यह शोर मचाना शुरू कर दिया था कि हिन्दुस्तान के जहाज इसी तरह लन्दन आते रहे तो हम और हमारे परिवार भूखे मर जाएँगे। शुरू में ब्रिटेन ने अपने कुछ जहाज भारत में ही बनाने का ऑर्डर भी दिया था। सुना है कि उस समय का एक भारत-निर्मित जहाज आज भी पोर्ट्स माउथ के बन्दरगाह पर खड़ा है। यह स्थिति देखकर अंग्रेजों ने यह नीति अपना ली कि देसी उद्योगों को हतोत्साहित किया जाए; धीरे-धीरे उन्हें समाप्त कर दिया जाए ताकि ब्रिटिश उत्पादों को आसानी से लोकप्रिय बनाया जा सके।

परिणामस्वरूप भारत से इंगलैण्ड जाने वाले भारतीय सामान पर भारी चुंगी लगा दी गई और इंग्लैण्ड से भारत आने वाले सामान पर चुंगी सर्वथा हटा दी गई या नाममात्र रहने दी गई। भारत को केवल अंग्रेज निर्माताओं के लिए कच्चा सामान बनाने वाला देश बना दिया गया। जब भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हुआ तब तक भारत बड़ा निर्माता देश नहीं रहा था और राष्ट्र की

आय का मुख्य साधन केवलमात्र खेती ही रह गया था। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री रमेशचन्द्र दत्त ने 'इण्डियन ट्रेड मैनुफैक्चरर्ज़ एण्ड फाइनेंस' की भूमिका में लिखा है कि ब्रिटेन की पार्लियामेंट ने ऐक्ट बनाकर भारत के छपे या रंगे किसी भी कपड़े का फर्नीचर या पोशाक के रूप में इस्तेमाल वर्जित कर दिया था। सन् १८१३ तक इंग्लैण्ड में भारत का रेशमी-सूती कपड़ा इंग्लैण्ड के बने कपड़े से ५० और ६० प्रतिशत तक सस्ता बिकता था। इसलिए ब्रिटिश उद्योगों को संरक्षण देने के लिए भारतीय वस्तुओं पर ७० से लेकर ८० प्रतिशत तक की ड्यूटी लगा दी गई। आरनॉल्ड टोयनबी ने लिखा है कि "ब्रिटिश उद्योग बिना संरक्षण के इतनी तेजी से कभी न बढ़ पाते, किन्तु ब्रिटिश उद्योगों को जिलाए रखने के लिए भारत को तथा अन्य उपनिवेशों को हमारे महान् निर्माताओं के स्वार्थों की वेदी पर बलि चढ़ा दिया गया।" ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रेशम का कपड़ा बनाने वालों को अपनी कम्पनी की फैक्टरी में काम करने पर मजबूर किया।

ब्रिटिश लोग भारत में अपना राज्य स्थिर करने के लिए कुछ प्रमुख वर्गों को प्रश्रय दे रहे थे। उन्होंने ऐसे जमींदारों की जमात खड़ी कर दी जो खुद तो खेती नहीं करते थे, किन्तु किसानों से लगान की वसूली के लिए जमीन के मालिक बने रहते थे। इस वर्ग को इतनी छूट दी गई कि धीरे-धीरे यह वर्ग राष्ट्रीय महत्त्व के प्रत्येक विषय में सब तरह से अपने मालिकों की वफादारी का परिचय देने लगा। बड़े-बड़े तालुकेदार, जमींदार, नवाब, राय बहादुर, वगैरह ब्रिटिश साम्राज्य के स्तम्भ बन गए। जिन तालुकेदारों ने १८५७ के विद्रोह में विद्रोहियों का साथ दिया था, लॉर्ड केनिंग ने उनकी जमीन जब्त कर ली थी और उनसे कहा था कि भविष्य में यदि तुम ब्रिटिश सरकार का साथ दोगे, तभी फायदे में रहोगे। सन् १८५७ के विद्रोह में उत्तर प्रदेश और बिहार के जिन इलाकों ने हिस्सा लिया था, उनके निवासियों को सब प्रकार के जीविका के साधनों से शून्य करके अंग्रेजों ने उन्हें अक्षरशः घसियारा बना दिया। इसलिए बाद के इतिहास में हम देखते हैं कि मोरिशस या फिजी या ब्रिटिश गुयाना या सुरीनाम आदि उपनिवेशों में कुली बनकर जाने वाले लोगों में अधिकांश लोग इसी प्रदेश के हैं क्योंकि यहाँ उनके पास जीविका का कोई और साधन नहीं बचा था।

देश की इस आर्थिक दुरवस्था को देखकर किसी भी सहृदय व्यक्ति का विचलित होना स्वाभाविक था। फिर ऋषि दयानन्द विचलित क्यों न होते?

राजनैतिक अवस्था

हजारों सालों से जिस ग्राम-व्यवस्था ने भारत को समृद्ध बना रखा था, अंग्रेजी राज्य ने उसी व्यवस्था को समाप्त कर दिया। मुसलमानों के शासन में और चाहे कुछ भी हुआ हो, परन्तु भारत के गाँव सुरक्षित रहे। भारत बड़ी-से-बड़ी लड़ाइयाँ

लड़ने के बाद भी पुनः उभरकर खड़ा हो गया, उसका कारण यही था कि उसके ग्राम सुरक्षित रहे। किन्तु अंग्रेजों ने जब गाँवों की प्रजातन्त्रीय प्रणाली और स्थानीय शासन, ग्रामीण शिक्षा और ग्रामीण उद्योगों को समाप्त कर दिया तो उससे सारे राष्ट्र का और जनता का जीवन इतना प्रभावित हुआ कि उसके बाद भारत खड़ा नहीं हो सका। श्रीमती एनी बीसेण्ट ने 'इण्डिया ए नेशन' नामक पुस्तक (पृष्ठ ५६ पर) लिखा है—"Indians hesitate, where they should act; they ask where they should take; they submit where they should resist; they lack self-confidence and the audacity that commands success."

सन् ५७ के विद्रोह के बाद जब शासन कम्पनी से हटकर ब्रिटिश ताज के हाथ में आ गया और विद्रोह शान्त हो गया, तब सैनिक अत्याचारों और दमन के कारण जनता इतनी मृतप्राय हो गई कि ब्रिटिश सत्ता के प्रति विद्रोह करने का उत्साह समाप्त हो गया। सभी वर्गों के लोग धीरे-धीरे जमीनें हथियाने और ब्रिटिश सरकार के सहयोग से जीवन की तरह-तरह की सुविधाएँ जुटाने में लग गए। महारानी विक्टोरिया ने जनता को न्याय और निष्पक्षता का आश्वासन दिया और गदर के बाद प्रशासन का सारा ढाँचा बदल दिया गया। सेना का भी पुनर्गठन किया गया और भारत में ७० हजार यूरोपियन और एक लाख ३५ हजार भारतीय सैनिक रखे गए। इतनी बड़ी इस सेना का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के सिवाय और कुछ नहीं था। ऐसी स्थिति में जब भारत के बुद्धिजीवियों ने देखा कि देश राजनैतिक दृष्टि से आगे नहीं बढ़ रहा, तब कई संस्थाएँ और संगठन जन्म लेने लगे। ब्रह्मसमाज १८५७ से पहले ही जन्म ले चुका था। दादा भाई नौरोजी ने भारत और इंग्लैण्ड में कुल मिलाकर लगभग ३० संस्थाएँ स्थापित की थीं। श्री राजुला लक्ष्मी नर्रासिहुलु चैट्टी ने मद्रास में 'नेटिव एसोसियेशन' की स्थापना की और विश्वनाथ नारायण मण्डलीक ने बम्बई में एक 'बॉम्बे एसोसियेशन' की स्थापना की।

सन् १८७० में भारतीय दण्ड संहिता में एक अनुच्छेद जोड़कर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध कुछ भी लिखने पर आजीवन देश-निर्वासन की व्यवस्था की गई। सन् १८७७ में अकाल से उत्पन्न हुई दुर्दशा के बारे में जब देसी अखबारों ने आन्दोलन शुरू किया, तब ब्रिटिश सरकार ने एक कानून बनाकर अखबारों के दमन के लिए मजिस्ट्रेटों को असीमित अधिकार दे दिये। इस प्रकार देश में ज्यों-ज्यों दमन की व्यवस्था हो रही थी, त्यों-त्यों राजनैतिक चेतना का भी सूत्रपात हो रहा था।

सांस्कृतिक अवस्था

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १७६५ में राजनैतिक सत्ता हथियाने के बाद भारतीयों

को शिक्षित करने के लिए कलकत्ता, मद्रास और बनारस में स्कूल खोले। कम्पनी शुरू-शुरू में केवल संस्कृत और अरबी ही सिखाना चाहती थी। भारतीयों को पाश्चात्य पद्धति से शिक्षा देने का उसका कोई इरादा नहीं था। परन्तु श्री चार्ल्स-ग्राण्ट का यह विचार था कि भारतीयों को पश्चिम का ज्ञान सिखाए बिना वे अपने अन्धविश्वासों और कुरीतियों से नहीं निकल सकते। इसलिए धीरे-धीरे अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से भारतीयों को शिक्षित करने के लिए ईसाई अध्यापकों की व्यवस्था की गई। इस शिक्षा का प्रारम्भ बंगाल में हुआ। शुरू-शुरू में बंगाली फिरंगियों को अपना माई-बाप समझते थे और हरेक चीज में उनकी नकल करने की कोशिश करते थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने अपने अंग्रेज प्रभुओं की तरह ही सोचना भी प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेजी के अखबार पढ़ना, क्लब में जाना और अंग्रेजी ड्रेस पहनना तथा सिगरेट और चुरुट पीना फैशन बन गया था। हरेक हिन्दुस्तानी चीज से घृणा प्रकट करना भी फैशन का हिस्सा बन गया। परन्तु बहुत जल्दी बंगाली बाबुओं ने जान लिया कि वे देश की सरकार में अंग्रेजों के समान दर्जा प्राप्त नहीं कर सकते। उनमें से कई लोगों ने इंगलैण्ड में जाकर आई० सी० एस० की परीक्षा भी पास की, परन्तु वहाँ भी उनकी महत्त्वाकांक्षा के पर कटकर रह गए।

भारतीय लोग स्वयं अपने दर्शन और तत्त्वज्ञान का उपहास करने लगे और भौतिकवाद तथा यथार्थवाद की विचारधारा जन्म लेने लगी। बर्कले और काण्ट के सामने भारतीय षड्दर्शनों को ठुकरा दिया गया और कालिदास के स्थान पर शेक्सपीयर और मिल्टन आ बैठे।

यहाँ यह उल्लेख करना और मनोरंजक होगा कि उस युग में जहाँ भारतीय लोग अपने धर्म और अपने दर्शन को तिलांजलि दे रहे थे, वहाँ यूरोपियन लोग संस्कृत की महिमा को समझने लगे थे और संस्कृत के कई ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करने लगे थे। संक्षेप में कहना चाहिए कि वे हमीं को हमारे प्राचीन वाङ्मय की महिमा से परिचित कराने लगे थे। कैरे ने १८०१ के बाद तीन खण्डों में वाल्मीकि रामायण का अनुवाद किया था। बम्बई सरकार ने ऐतरेय ब्राह्मण की २०० प्रतियाँ वितरित की थीं और बंगाल के स्कूल-कॉलेजों में 'शकुन्तला' का अंग्रेजी अनुवाद प्रतिभाशाली छात्रों को पुरस्कार के रूप में दिया गया था। रॉथ ने १८४६ में 'हिस्ट्री ऑफ दि वेद' नामक अपना निबन्ध प्रकाशित किया था। मैक्स-मूलर ने लगातार ३० साल तक वेद का अध्ययन करके उन पर अपना भाष्य प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया था और कनिंघम ने भारतीय कला और पुरातत्त्व की नींव डाल दी थी। इस सिलसिले में विलियम जोन्स का योगदान तो स्मरणीय है।

सन् ५७ में कार्ल मार्क्स ने लिखा था, "हिन्दुस्तान में जितने भी गृह-युद्ध,

आक्रमण, क्रान्ति, या विजय-अभियान हुए हैं, वे सब धरातल को छूकर ही रह गए हैं। इंग्लैण्ड ने भारतीय समाज के सारे ढाँचे को तोड़कर रख दिया है और उनके पुनर्निर्माण के कोई संकेत नजर नहीं आते। उसकी पुरानी दुनिया खत्म हो चुकी है और नयी दुनिया आई नहीं। इस स्थिति ने हिन्दुओं के मन में एक विचित्र तरह की उदासी और उदासीनता पैदा कर दी है और ब्रिटेन द्वारा शासित हिन्दुस्तान अपनी समस्त प्राचीन परम्पराओं और अपने प्राचीन इतिहास से कटकर रह गया है।"

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति

विभिन्न क्षेत्रों में ऋषि दयानन्द से पूर्व भारत की स्थिति का उल्लेख करने के पश्चात् कुछ अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। १८वीं सदी के अन्त से पहले फ्रांस में राज्य-क्रान्ति हो चुकी थी और उससे सारे पश्चिमी जगत् में समानता, स्वतन्त्रता और बन्धुता के नारे गूँजने लगे थे। सन् १७८३ में अमेरिका की ब्रिटिश नई आबादी ने ब्रिटेन से लड़कर आजादी हासिल की और यूनाइटेड स्टेट्स के नाम से एक नए राज्य की स्थापना की। जब नेपोलियन से अंग्रेजों की लड़ाई हुई, तब इंग्लैण्ड को अमेरिका के साथ एक बार और उलझना पड़ा। सन् १८१२ में दोनों की लड़ाई हुई जो दो साल तक जारी रही। नेपोलियन की हार के बाद ही इंग्लैण्ड और अमेरिका में पूरी तरह सुलह हो सकी। दक्षिण अमेरिका के स्पैनिश उपनिवेशों ने जब स्पेन से बगावत करके अपने देश को स्वतन्त्र कर लिया, तब ब्रिटेन ने अमेरिका से हमदर्दी दिखाई। उसके परिणामस्वरूप भविष्य में उनमें आपसी मेल हो गया।

सन् १८६१ में उत्तर और दक्षिण अमेरिका की रियासतों में गुलामी की प्रथा को लेकर संघर्ष छिड़ा—दक्षिण अमेरिका गुलामी की प्रथा को हटाने के लिए तैयार नहीं था, परन्तु उत्तरी अमेरिका ने हिम्मत से काम लिया और अन्त में विजय प्राप्त की। धीरे-धीरे दक्षिण अमेरिका के राज्यों को भी गुलामी की प्रथा हटाने के लिए मजबूर होना पड़ा और सन् १८६५ में जब यह लड़ाई बन्द हुई तो अमेरिका के ये राज्य फिर आपस में मिलकर एक हो गए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय सारे पाश्चात्य जगत पर फ्रांस की और अमेरिका की इन राज्यक्रान्तियों से उत्पन्न विचारों का असर बढ़ता जा रहा था। साथ ही कैथोलिक ईसाइयत के विरोध में स्वयं इंग्लैण्ड और जर्मनी में लूथर के नेतृत्व में जो धार्मिक क्रान्ति चल रही थी उसका भी असर कम नहीं था। उधर रूस में कार्ल मार्क्स की विचारधारा धीरे-धीरे अपने पाँव जमा रही थी। इस प्रकार एक तरह से सारा यूरोप जहाँ नये विचारों से आन्दोलित था, वहाँ अंग्रेज इस बात के लिए बहुत प्रयत्नशील थे कि किसी भी तरह फ्रांस की राज्य-क्रांति या अमेरिका

के गृह-युद्ध और रूस की बोलशेविक क्रान्ति की हवा भारत तक न पहुँचने पाए। इसीलिए वे सब तरफ से उसको जकड़ने में लगे हुए थे। परन्तु भारत की आत्मा अन्दर-ही-अन्दर उबल रही थी और किसी ऐसे व्यक्तित्व की प्रतीक्षा में थी जो वैसे अन्धकार और दुविधाओं से भरे दासता के वातावरण में आकर नयी रौशनी दे सके।

ऋषि दयानन्द के कार्यक्षेत्र में आने से पहले राष्ट्रहित में कई संस्थाएँ बनीं, परन्तु वे यह आशा करती थीं कि धीरे-धीरे नरमी से ही सब बुराइयाँ दूर हो जाएँगी। परन्तु ऋषि दयानन्द का विश्वास था कि यदि कुरीतियों, अन्धविश्वासों और पाखण्डों के विरुद्ध लुहार वाले घन का प्रयोग करके राष्ट्र को नहीं जगाया जाएगा तो एक दिन आर्य जाति समाप्तप्राय हो जाएगी। ऐसे समय ऋषि दयानन्द एक ऐसी विचारधारा को लेकर आए जो उनके समकालीन सब सुधारकों के विचारों से भिन्न थी। अन्य सुधारकों से ऋषि दयानन्द की तुलना करते हुए योगिराज श्री अरविन्द घोष ने लिखा है—

> "दयानन्द की कार्य करने की पद्धति बहुत भिन्न थी···। वह एक ऐसा व्यक्ति था जो निश्चित रूप से साफ़-साफ जानता था कि मुझे किस काम के लिए भेजा गया है। उसने अपनी अखण्ड पारदर्शी आत्मा से परिस्थितियों का आकलन किया, अपनी सामग्री स्वयं चुनी और एक जन्मजात कुशल कारीगर की-सी दक्षता से अपने विचारों को कार्यान्वित किया।"

[सार्वभौम आर्य महासम्मेलन (१३-१५ अगस्त, १९८०) के अवसर पर प्रकाशित लन्दन स्मारिका]

मूलशंकर के बालसखा—इब्राहीम

"जिन्हें आप लोग ऋषि दयानन्द कहते हैं तथा आज समग्र भारतवर्ष ही नहीं, प्रत्युत सारा संसार जिनकी विद्वत्ता और महत्ता पर मुग्ध है, उन महापुरुष के साथ मैं इसी टंकारा ग्राम की भूमि पर, इसी डेमी नदी के तटवर्ती रेतीले मैदानों में, इन्हीं खेतों के अन्दर, इन्हीं वनमालाओं में, कई साल तक बचपन में खेलता रहा हूँ। मुझे आज भी उनकी वह बचपन की सौम्य सूरत स्मरण है। उनकी आँखों में मुग्धता और तेज, उनके शरीर में सौन्दर्य और बल, उनके चेहरे पर सरलता और आग्रह, उनकी वाणी में मृदुता और ओज कूट-कूटकर भरा हुआ था।

"कितनी ही बार इसी स्थान पर जहाँ आज यह पंडाल सुशोभित है, मैंने उनके साथ बाल-क्रीड़ाएँ की थीं। कितनी ही बार इस डेमी नदी की धारा में मैं और वे हँसते-खेलते तैरे हैं। कितनी ही बार मैंने उनके उस बाल शरीर के साथ कुश्ती और मारपीट की है। यद्यपि मूल जी (मूलशंकर) आयु में मुझसे दो साल छोटे थे, तथापि उनके गौर शरीर में बड़ा बल था। वे अकेले ही मुझको और मेरे साथियों को बाल्य-संग्राम में पराजित कर दिया करते थे। सच पूछिए तो मूल जी बड़े उपद्रवी और हठी थे। परन्तु निर्बलों के साथ उनकी बड़ी सहानुभूति रहती थी। उनके पिताजी का नाम कर्सनजी त्रिवेदी था।

"करीब २३ साल की उम्र में हमने सुना कि वे अपनी सारी सम्पत्ति को ठुकरा-कर घर से भाग गए हैं और कहीं जाकर संन्यासी हो गए हैं। उनके पिताजी ने उनकी बड़ी खोज की थी। घर छोड़ देने के बाद मैंने उन्हें कभी नहीं देखा। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं उनके फिर भी दर्शन करता। परन्तु इसके बाद वे कभी इस ग्राम में नहीं लौटे और मेरी वह ख्वाहिश अधूरी ही रह गई।"

ये शब्द हैं उस जरा-जीर्ण, वृद्ध, इब्राहीम के जो ऋषि दयानन्द का बालसखा था, आयु में उनसे दो साल बड़ा था, और बचपन में उनके साथ खेला था। सन् १९२६ में, टंकारा में, ७ फरवरी से ११ फरवरी तक हुई जन्मस्थान-शताब्दी के समारोह में उसने ये शब्द कहे थे। उस समय उसकी आयु १०३ वर्ष की थी। उस समय ऋषि दयानन्द की बहन के वंश में पोपटलाल नामक व्यक्ति जीवित था जो उसी घर में रह रहा था जिसमें मूल जी का जन्म हुआ था। कर्सन जी अपने किसी उत्तराधिकारी पुत्र की अनुपस्थिति में अपनी पुत्री को और उसकी सन्तान को अपना वारिस बना गए थे। इन पोपटलाल के एक भाई प्रभाशंकर थे। एक नाम

प्राणशंकर और मिलता है। पोपटलाल का ही दूसरा नाम प्राणशंकर था, या प्राणशंकर पोपटलाल के तीसरे भाई थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

ऋषि की जन्म-शताब्दी मथुरा में १५ फरवरी से २१ फरवरी तक सन् १९२५ में हुई थी। आर्य जनता 'मथुरा जन्म शताब्दी' से तो भलीभाँति परिचित है, परन्तु टंकारा की जन्मस्थान-शताब्दी अब तक प्रायः अर्चित ही रही है। इसलिए उसके बारे में जनता अँधेरे में है। अब से ६५ साल पहले घटित उस घटना के प्रत्यक्षदर्शी भी कभी के दिवंगत हो चुके हैं। इसीलिए उस घटना का सम्पादकीय लेख के रूप में परिचय देना हमने आवश्यक समझा है।

टंकारा की उस जन्मस्थान-शताब्दी के समारोह में जो प्रमुख लोग सम्मिलित हुए थे उनके नाम निम्न हैं—

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी, स्वामी सर्वदानन्द जी, नारायण स्वामी जी, स्वामी शंकरानन्द जी, स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी, स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द जी, स्वामी परमानन्द जी, स्वामी अखण्डानन्द जी, स्वामी कृष्णानन्द जी, स्वामी विचारानन्द जी, आचार्य रामदेव जी, श्री महाराणी शंकर जी, श्री मायाशंकर जी, मास्टर आत्माराम जी, पं० अयोध्या प्रसाद जी, पं० वंशीधर विद्यालंकार, प्रो० विवेकानन्द विद्यालंकार, पं० विश्वमित्र कौशिक, पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, प्रो० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मौरवी-नरेश श्री लखधीर सिंह जी, वीरपुर-नरेश श्री हमीरसिंह जी, मोगर के ठाकुर साहब श्री केसरीसिंह जी, शाहपुर के श्री भूरेलाल जी व्यास, भावनगर के श्री नहरूभा साहब, कोट गांगड़ के ठाकुर साहब, डॉ० कल्याणदास जी, डॉ० मथुरा-दास जी (मोगावाले), महाशय परधू भाई जी, श्री जमनादास जी, श्री दामोदर सुन्दरदास, श्री विजयशंकर मूलशंकर जी, श्री विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार, श्री हरगोविन्द धर्मसिंह जी, मौरवी-नरेश के सेक्रेटरी श्रीमान् माणजी भाई और मौरवी के पुलिस-कमिश्नर तथा रेवेन्यू-कमिश्नर आदि।

इस टंकारा शताब्दी के प्रधान थे मौरवी-नरेश हिज़ हाइनेस श्रीमन्महाराजा साहेब श्री लखधीर सिंह जी, सभापति थे वीरपुर-नरेश श्रीमन्त हमीरसिंह जी और स्वागताध्यक्ष थे श्री मनुभा वर्मा।

स्वातंत्र्य संघर्ष की दोनों धाराओं के जनक—ऋषि दयानन्द

अन्य प्राणधारी जीवों से मनुष्य को अलग करने वाला कोई तत्त्व है, तो वह बुद्धितत्त्व ही है। इसीलिए गायत्री मंत्र में अन्य किसी पदार्थ की प्राप्ति की कामना न करके, **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** कहकर केवल बुद्धि को ही सन्मार्ग पर प्रेरित करने की प्रार्थना की गई है।

ऋषियों ने अपने बुद्धिबल से धर्म-अधर्म का, कर्तव्य-अकर्तव्य का और पाप-पुण्य का निर्धारण किया। आहार-निद्रा-भय-प्रजनन आदि में अन्य प्राणियों से समान होकर भी, मानव-जीवन को सर्वाधिक उपयोगी बनाने का नुस्खा भी मनुष्य ने अपने बुद्धिबल से निकाल लिया। वह नुस्खा है—धर्म के लिए जीवन अर्पण करना। धर्म की रक्षा का अर्थ है—साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश। गीतोक्त धर्म का यही सार है और पुरुष से 'पुरुषोत्तम' (उत्तम पुरुष = श्रेष्ठ पुरुष = आर्य) बनने का यही क्रम है। जिसने अपना जीवन दुष्टों के विनाश में और श्रेष्ठ पुरुषों के परित्राण में लगा दिया वह पुरुष से पुरुषोत्तम बन गया।

हिंसा और अहिंसा

इस प्रक्रिया में हिंसा या अहिंसा का प्रश्न गौण है। अहिंसा श्रेष्ठ है, धर्म है, पर उसे 'परम धर्म' कहकर जिस निरपवाद चरमावस्था तक पहुँचा दिया गया है, वह वैदिक धर्म को अभिप्रेत नहीं है। जब तक संसार में बातों से न मानकर केवल लातों की भाषा समझने वालों का अस्तित्व है, तब तक अहिंसा को निरपवाद (Absolute) बना देने से संसार में अन्याय और अत्याचार को प्रश्रय ही मिलेगा। वेद ने **'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह'** के द्वारा ब्रह्म-बल को श्रेष्ठ मानकर भी क्षत्र-बल को सदा उसके समान महत्त्व दिया है। **'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चर्चा प्रवर्तते'**—जब राष्ट्र शस्त्र के द्वारा रक्षित होगा, तभी वहाँ शास्त्र-चर्चा सम्भव होगी। वैदिक धर्म का आदर्श है—

अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः।
इदं शास्त्रमिदं शस्त्रं शापादपि शरादपि॥

—आगे-आगे चारों वेद और पीठ के पीछे बाणों से भरा तरकश तथा धनुष।

पहले शस्त्र, फिर शास्त्र। जो समझाने से भी, अहिंसात्मक शान्तिपूर्ण उपायों से भी ठीक रास्ते पर नहीं आता, उसके लिए शर-सन्धान आवश्यक है।

तुलसी-रामायण के अनुसार, जब मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम तीन दिन तक समुद्र से अनुनय-विनय करते रहे और समुद्र रास्ता देने को तैयार नहीं हुआ, तब शरीरधारी धर्म के उस अवतार ने भी अपने क्षात्र धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए कहा—

विनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीत।
लक्ष्मण बाण सँभालेहु, भय बिन होय न प्रीत॥

अहिंसा को चरम-परम कहकर अपवाद-शून्य बना देने वाले किसी 'मूर्खों के स्वर्ग' में रहते हैं। जब तक संसार में रावण, कंस, दुर्योधन और शिशुपाल रहेंगे, तब तक अहिंसा को अपवाद-शून्य नहीं बनाया जा सकता, न ही राम और कृष्ण के जीवन की संगति लगाई जा सकती है। कश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण के समय स्वयं 'अहिंसा के देवता' महात्मा गांधी ने सशस्त्र सेना भेजने का समर्थन किया था और राष्ट्र-नायक श्री जवाहरलाल नेहरू ने चीनी आक्रमण के समय अपनी ग़लती महसूस की थी। सच तो यह है कि चीनियों के इस विश्वासघात ने ही उनकी जान ली।

क्रान्तिकारी : निष्काम कर्मयोगी

यह सही है कि भारत को स्वतन्त्र कराने में महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए और कांग्रेस द्वारा अपनाए गए अहिंसात्मक सत्याग्रहों का बहुत बड़ा योग है, पर क्रान्तिकारियों की भूमिका को और उसी की एक शाखा के रूप में 'आजाद हिन्द फौज' के कर्तृत्व को—नकारना भयंकर भूल है। आज तक यह भूल होती रही—शायद जानबूझकर—इस खयाल से कि कहीं सत्ता में वे भी भाग न माँगने लग जाएँ। पर सत्ता का भोग क्रान्तिकारियों के दर्शन के ही विरुद्ध है। केवल त्याग और बलिदान—सो भी सर्वथा निस्स्वार्थ—यही क्रान्ति-दर्शन का मूल मंत्र है। एक तरह से कहा जा सकता है कि आधुनिक राजनैतिक नेता 'सकाम कर्मयोगी' भले ही बखाने जाएँ, पर गीता के 'निष्काम कर्मयोगी' तो केवल क्रान्तिकारी हैं।

निष्काम कर्मयोग की यही परम्परा आर्यसमाज को अपने प्रवर्तक ऋषिवर दयानन्द से विरासत में मिली है।

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार वाले रूप पर ही आज तक अधिक जोर दिया गया है, इस सीमा तक कि इनका राजनैतिक क्रान्तिकारी रूप अक्सर आँखों से ओझल रह गया है। इस राजनैतिक रूप को ओझल बनाए रखने में दो हेतु सबसे प्रमुख हैं। एक तो यह कि राजनीति के मंच पर अब तक इतने अधिक अवसरवादी गिरगिटिये 'सकाम कर्मयोगियों' का बोल-

बाला रहा है कि वे मंच पर अपने सिवाय किसी और को आने देना चाहते ही नहीं थे। दूसरा हेतु यह रहा है कि स्वयं आर्यसमाज में एक ऐसी बुजुर्ग पीढ़ी रही है जो संध्या-हवन के चौखटे के बाहर कभी आर्यसमाज को निकलने नहीं देना चाहती। ब्रिटिश शासन-काल में जो आर्यसमाजी सरकारी सेवा में थे, आर्यसमाज का राजनीति-विरहित केवल धार्मिक रूप उन्हें रास आता था और इससे उनके निजी स्वार्थ भी सुरक्षित रहते थे। इसके अलावा जो सम्पन्न, धनाढ्य और अभिजात वर्ग के लोग थे, जिनका अधिकतर सभाओं और आर्यसमाज के संगठनों तथा शिक्षा-संस्थाओं पर आधिपत्य था, उनको भी शोषण-मुक्त समतावादी समाज का नारा अखरता था, क्योंकि आर्यसमाज के इस क्रान्ति-धर्मी रूप से निहित स्वार्थों के सिंहासन चलायमान होते थे। कुछ ऐसे सुविधाभोगी बुद्धिजीवी भी रहे हैं जो आर्य-समाज के जनवादी और आन्दोलनकारी रूप से बिदकते हैं, क्योंकि इससे उन्हें बाढ़ की भीषण जलधारा में स्वयं विलुप्त हो जाने का डर लगता रहा है।

और तो और, अब भी आर्यसमाजियों का एक बहुत बड़ा प्रतिष्ठित वर्ग ऐसा है, जिसके गले में न तो ऋषि दयानन्द द्वारा सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति में भाग लेने की बात उतरती है, न ही उस वर्ग को क्रान्तिकारियों से कोई सहानुभूति है। ब्रिटिश-काल की दासता का और 'रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ' वाली आरामतलब कांग्रेसी राजनीति का संस्कार उनके मन पर इतना गहरा है कि वे अभी तक उससे उबर नहीं पाते।

सन् ५७ की राज्यक्रान्ति

जहाँ तक सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति का सवाल है, उसके सम्बन्ध में हम दो अकाट्य प्रमाणों की ओर संकेत कर देना चाहते हैं, जिनकी सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। पहला प्रमाण तो यह है कि ऋषि ने स्वयं सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में मूर्ति-पूजा के खण्डन वाले प्रकरण में संवत् १९१४ वि० (सन् १८५७ ई०) में द्वारका के मन्दिर पर अंग्रेजी फौजों के हमले का और बाघेर लोगों द्वारा उनके मुकाबले का वर्णन किया है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक तथ्य है जिसका किसी और इतिहास-लेखक ने उल्लेख नहीं किया है। निश्चय ही उक्त घटना यदि ऋषि-प्रेरित नेतृत्व में नहीं, तो उनकी जानकारी में अवश्य हुई है।

दूसरा तथ्य यह है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में साधुओं की बाकायदा सशस्त्र सेना मौजूद थी, जिसकी कई बार ईस्ट इण्डिया कम्पनी की फौजों से मुठभेड़ हुई थी और कई स्थानों पर उसे विजय भी प्राप्त हुई थी। और तो और, श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने 'आनन्दमठ' नामक उपन्यास में जिन पात्रों का चित्रण किया है, वे काल्पनिक नहीं, वास्तविक हैं। उन नामों के क्रान्तिकारी और साधु उस युग में मौजूद थे और ब्रिटिश शासन से वे निरन्तर लोहा ले रहे थे।

'वन्दे मातरम्' गीत भी केवल गीत नहीं, बल्कि उस युग के क्रान्तिकारियों की भावनाओं का शब्द-चित्र है, जिसे पूर्वी भारत के ऋषि बंकिम ने पश्चिम भारत के ऋषि दयानन्द के जीवन-काल में ही (सन् १८८२ में) शब्द-बद्ध किया था। क्रान्तिकारियों की भावनाओं के साथ इतना तादात्म्य उस गीत का न होता, तो वह इतना लोकप्रिय भी न होता; न ही 'वन्दे मातरम्' बोलने पर लोगों को जेलों में डाला जाता, न ही कोड़े लगते और न ही 'वन्दे मातरम्' का जयघोष करते हुए क्रान्तिकारियों की पंक्तियाँ फाँसी का फन्दा चूमतीं।

राष्ट्र और धर्म की एकात्मता

यहीं एक बात और भी कहने की है। धर्म का अर्थ है—परोपकार और परोपकार का अर्थ है—जाति और देश तथा मानवता के लिए अधिक-से-अधिक त्याग। जिसे महर्षि व्यास ने **"परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनन्"** कहा है, उसी की व्याख्या महात्मा बुद्ध ने की है—

चरथ भिक्खवे चारिकं, बहुजन हिताय।
बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय॥

और इसी त्रिशूल को पकड़कर पाश्चात्य दार्शनिकों ने "Greatest pleasure of the greatest number"—अधिक-से-अधिक लोगों का अधिक-से-अधिक सुख—को वास्तविक धर्म की परिभाषा में गिना है। वेद ने भूमि को माता कहा है और मानव को उसका पुत्र बताया है। क्रान्तिकारियों ने भी भारत को माता और स्वयं को उसका पुत्र कहा है। इसीलिए 'वन्दे मातरम्' के द्वारा वे भारत माता की वन्दना करते थे। अपने देश को 'फादरलैण्ड' कहने वाले मातृ-भूमि, भारतमाता और वन्देमातरम् द्वारा मातृ-वन्दना के विचार की सूक्ष्मता को आसानी से हृदयंगम नहीं कर सकते। भारतमाता की वन्दना, उसकी रक्षा और पराए शासन से उस माता की मुक्ति हमारी केवल राजनीति नहीं है, वह हमारा धर्म भी है। यहीं आकर क्रान्तिकारियों की राजनीति धर्म से जुड़ जाती है। यही कारण है कि क्रान्तिकारियों ने भारत माता को शक्ति की अधिष्ठात्री देवी, असुर-दलसंहारिणी, दश प्रहरणधारिणी दुर्गा माता के रूप में देखा है। यह दुर्गा माता आध्यात्मिक क्षेत्र में जगज्जननी जगदम्बा है, और भौतिक क्षेत्र में भारतमाता है। इस गुत्थी को समझे बिना यह बात समझ में नहीं आ सकती कि योगिराज अरविन्द घोष जैसे क्रान्तिकारी अध्यात्म की ओर कैसे मुड़ गए। हमारा धर्म और हमारा राष्ट्र भिन्न नहीं हैं। राष्ट्रभक्ति हमारा धर्म है, वह मानवीय कर्तव्य है। जो धर्म अपने अनुयायियों को राष्ट्र के प्रति वफादारी नहीं सिखाता, या जिसकी वफादारी अपने धर्म-संस्थापक के प्रति और अपने हम-मजहबों के प्रति पहले है और राष्ट्र के प्रति बाद में, हमारी दृष्टि में वह धर्म कहलाने के लायक नहीं है। **'खाके-वतन** का मुझको हर

जर्रा देवता है'—यही असली राष्ट्रवाद है। धर्म, अध्यात्म और राष्ट्र की यह एकात्मता भारतीय चिन्तन की निजी विशेषता है और क्रान्तिकारियों ने इसी एकात्मता को जिया है।

ऋषि दयानन्द ने जिस वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया है, यही उसका व्यापक रूप है। इसलिए हम बार-बार कहते हैं कि वेद और राष्ट्र—ये दो आर्यसमाज की भुजाएँ हैं। जो इन दोनों भुजाओं में से किसी एक भुजा को छोड़ या तोड़ देना चाहते हैं, वे आर्यसमाज को लूला कर देना चाहते हैं। ऋषि दयानन्द से पहले के भाष्यकारों ने वेद को केवल धर्मग्रन्थ के रूप में देखा था; ऋषि दयानन्द उसे धर्मग्रन्थ के साथ-साथ राष्ट्रीय ग्रन्थ के रूप में भी प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इसीलिए वे वेद पर इतना बल देते थे। इसीलिए उन्होंने सन् १८७७ के दिल्ली-दरबार में सब धार्मिक नेताओं को बुलाकर वेद पर एकमत करना चाहा था। यह देश का दुर्भाग्य था कि वे सब नेता अपनी-अपनी संकीर्णताओं से निकलकर इस ऊँचाई तक नहीं उठ सके। पर इससे ऋषि के मिशन की महत्ता में अन्तर नहीं पड़ता।

स्वाधीनता-संग्राम की दो धाराएँ

आज तक भी ऋषि की महानता को पूर्ण रूप से हृदयंगम नहीं किया गया है। हम यहाँ राजनैतिक क्षेत्र की ही चर्चा कर रहे हैं। हमारे स्वाधीनता-संग्राम की दो धाराएँ रही हैं—एक शान्ति-धारा और दूसरी क्रान्ति-धारा। शान्ति-धारा के भी दो अंग रहे हैं—एक नरम और दूसरा गरम। यह नरम और गरम वाली शान्ति-धारा और क्रान्तिकारियों वाली क्रान्ति-धारा, दोनों किस प्रकार ऋषि दयानन्द के आशीर्वाद से और उनके चरण-तल से प्रवाहित होती हैं—यह देखकर आश्चर्य होता है।

महात्मा गांधी हमारे राष्ट्र-पिता हैं और शान्ति-धारा के सबसे समर्थ भगीरथ हैं। दादाभाई नौरोजी को राष्ट्रपितामह कहा जाता है। पर इतिहास का बारीकी से अध्ययन करने पर पता लगता है कि दादाभाई नौरोजी यदि पितामह हैं, तो ऋषि दयानन्द प्रपितामह हैं। क्योंकि राजनीति के क्षेत्र में 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'—इस नारे के सबसे प्रबल प्रचारक बेशक लोकमान्य तिलक रहे, पर तिलक से पहले 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग करने वाले दादाभाई नौरोजी थे। सम्भवतः आज के कांग्रेसी नेताओं को यह जानकर आश्चर्य होगा कि नौरोजी ने 'स्वराज्य' शब्द सत्यार्थप्रकाश से ग्रहण किया था। एक आर्यसमाजी विद्वान् ने इस बात में शंका प्रकट की थी। परन्तु सन् १८८० में सार्वभौम आर्य महासम्मेलन के अवसर पर लन्दन जाने पर यह बात पुष्ट हुई कि शुरू-शुरू में श्यामजी कृष्ण वर्मा के निवास-स्थान पर आर्यसमाज का सत्संग लगता था। उस सत्संग में दादाभाई नौरोजी भी नियम-पूर्वक जाया करते थे और आर्यसमाज की उपस्थिति-पंजिका

में नौरोजी के कई जगह हस्ताक्षर हैं। जो नौरोजी आर्यसमाज के सत्संग में जाते थे, वे सत्यार्थप्रकाश से अपरिचित रहे हों, यह सम्भव नहीं। और जो सत्यार्थप्रकाश से परिचित हो, वह 'स्वराज्य' शब्द से अपरिचित रह जाए, यह सम्भव नहीं। इसलिए नौरोजी ने 'स्वराज्य' शब्द सत्यार्थप्रकाश से लिया, यह सत्य है।

अब शान्ति-धारा की इस गरम दल की उपधारा का क्रम यों चला—दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपतराय, सरदार अजीत-सिंह, सरदार किशनसिंह, सरदार भगतसिंह आदि।

रही शान्ति-धारा की नरमदल वाली उपधारा। उसके जनक महादेव गोविन्द रानाडे माने जाते हैं, जो ऋषि दयानन्द के प्रथम शिष्यों में हैं। श्री रानाडे ने ही पूना में ऋषि दयानन्द को बुलाकर उनके १५ ऐतिहासिक व्याख्यान करवाए थे और उनको पुस्तकाकार छपवाया था। रानाडे के शिष्य थे—गोपालकृष्ण गोखले, गोखले के शिष्य महात्मा गांधी; महात्मा गांधी के साथी—सरदार पटेल, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद और मोतीलाल नेहरू, तथा गांधी जी के शिष्य-सम उत्तराधिकारी—पं० जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गांधी।

जहाँ तक क्रान्ति-धारा का सवाल है, उसके लिए यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उसके स्रोत भी ऋषि दयानन्द हैं। ऋषि के पट्टशिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा, उनके शिष्य—वीर सावरकर, भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, मदनलाल धींगड़ा, आदि। श्यामजी कृष्ण वर्मा क्रान्तिकारियों के पिता कहे जा सकते हैं, तो ऋषि दयानन्द क्रान्तिकारियों के पितामह।

इस प्रकार शान्ति-धारा और क्रान्ति-धारा—दोनों के जनक ऋषि दयानन्द हैं और यों भारत के स्वाधीनता-संग्राम का सर्वप्रथम प्रवर्तक सर्वातिशायी व्यक्तित्व कोई है, तो वह ऋषि दयानन्द का है।

जब तक इन तथ्यों का समावेश नहीं होगा, तब तक स्वधीनता-संग्राम का कोई भी इतिहास अधूरा रहेगा। क्या अपनी प्रशस्तियों का काल-पात्र गाड़ने वाले इन तथ्यों की चिन्ता करेंगे?

('आर्यजगत्' के क्रान्तिवीर-अंक, २१ फरवरी १९८२ का सम्पादकीय)

ऋषि दयानन्द—१८५७ से १८७५ तक

अनेक शतियों के बाद भारत में ऋषि दयानन्द के रूप में एक ऐसे महामनीषी ने जन्म लिया था जिसने इस देश के भूत और वर्तमान को मिलाकर एक सुखद-सुन्दर भविष्य के स्वप्न से समस्त राष्ट्र को आविष्ट कर दिया। उसमें केवल अद्भुत पाण्डित्य ही नहीं था, तपस्या और ब्रह्मचर्य में अद्वितीय आस्था ही नहीं थी, उद्दीप्त राष्ट्रीय चेतना भी थी और वह समस्त मानव-जाति को बुद्धि-विरुद्ध और नैतिकता-विरुद्ध मान्यताओं तथा अन्धविश्वासों से बचाकर भारत के माध्यम से अपनी वैचारिक क्रान्ति को संसारव्यापी बनाना चाहता था।

लगभग वही समय था जब यूरोप में स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुता की लहर चल रही थी और कार्ल मार्क्स ने आर्थिक शोषण से मानव-जाति को मुक्त करने के लिए एक नए समाजवादी तत्त्वज्ञान का मन्त्र दिया था। समस्त यूरोप में विज्ञानमूलक औद्योगिक क्रान्ति जड़ जमती जा रही थी। इन दोनों तत्त्वों ने मिलकर सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण को ही नहीं, धार्मिक और नैतिक पुरानी परम्परागत मान्यताओं को भी झकझोरना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु दुर्भाग्यवश भारत पराधीनता के पाश में आबद्ध था। विदेशी शासन सब तरह से भारत का अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए आर्थिक और राजनैतिक शोषण करने में ही रुचिबद्ध था। इस शोषण में सबसे दुःखद था बौद्धिक शोषण। ब्रिटिश राज्य-सत्ता ने चाहा, या नहीं चाहा, पर जिस वैचारिक और वैज्ञानिक वात्या ने यूरोप को एक सिरे से दूसरे सिरे तक हिला दिया था, उसकी गन्ध भारत में भी पहुँच गई थी। पर जिस बौद्धिक शोषण की बात हम कह रहे हैं, उसके कारण उस नई हवा को भारत का शिक्षित और बुद्धिजीवी-वर्ग अंग्रेजी शासन की देन समझने लगा था। उसकी सीधी प्रतिक्रिया यह थी कि उसे भारत की प्रत्येक पुरानी चीज से वितृष्णा पैदा हो गई थी और वह मन, वचन, कर्म से ब्रिटिश शासन का समर्थक बन गया था।

इस तरह देश में दो वर्ग बन गए थे—एक वह जो आँखें मलकर निद्रा त्यागने को आतुर था, पर वह चारों दिशाओं में ब्रिटिश शासन के प्रतापी सूर्य की चकाचौंध से ग्रस्त था, और दूसरी ओर भारत का वह विशाल जन-समुदाय था जो चिर-कालीन मोह-निद्रा को छोड़कर जागने को तैयार नहीं था। उस समय यदि कोई प्रहरी आधी रात को यह आवाज लगाता—"ओ सोने वालो जागो!" तो इन सोने वालों को उस प्रहरी पर ही क्रोध आता कि यह हमें क्यों जगा रहा है? उन दोनों

वर्गों के अवशेष स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आज भी देश में देखे जा सकते हैं, भले ही किञ्चित् परिवर्तित रूप में। इस प्रसंग का विस्तार विषयान्तर हो जाएगा, इसलिए इसे यहीं छोड़ना ठीक है।

महामनीषी दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध हैं, उनमें दो निर्विवाद हैं और तीसरा विवाद के घेरे में है। प्रथम है—'थियोसोफिस्ट' पत्र में, जो थियोसोफिकल सोसाइटी का उस समय मुखपत्र था, अंग्रेजी में छपा विवरण जो ऋषि के जीवन-काल में ही छपा; और दूसरा है—पूना-प्रवचनों में ('उपदेश मंजरी' के नाम से प्रकाशित) दसवाँ प्रवचन जिसमें ऋषि द्वारा स्वयं वर्णित अपनी जीवन-कथा है। ये दोनों निर्विवाद हैं। तीसरा है—अपने कलकत्ता-प्रवास के समय ऋषि द्वारा संस्कृत में लिखवाया गया आत्मकथ्य, जिसका बंगला में अनुवाद किया गया। यह तीसरा विवरण ही विवादास्पद है जिस पर आर्यसमाज के विद्वान् एकमत नहीं हैं। एकमति न होने का प्रमुख कारण यह है कि ऋषि के जीवन के जिन वर्षों की गतिविधियों के बारे में उक्त प्रथम दो विवरण सर्वथा मौन हैं, उन वर्षों का विशद स्पष्टीकरण इस तृतीय विवरण में उपलब्ध है।

ऋषि-जीवन के वे कौन-से अज्ञात वर्ष हैं जिनके बारे में प्रथम दो विवरण मौन हैं? सामान्यतया वे सन् १८५६ से सन् १८६० तक के चार वर्ष हैं जिनके बारे में कोई विवरण उपलब्ध नहीं हैं। सन् १८५५ में ऋषि दयानन्द पहली बार हरिद्वार में कुम्भ-मेले पर गए थे और उसके बाद वे उत्तराखण्ड की यात्रा पर चले गए थे। चार वर्षों के 'गैप' के बाद सन् १८६० में वे मथुरा में गुरु विरजानन्द की कुटिया के द्वार पर दस्तक देते दिखाई देते हैं और तीन या साढ़े तीन वर्ष तक अपने गुरु के चरणों में शान्तिपूर्वक विद्याध्ययन करते हैं। गुरु विरजानन्द के पास विद्याध्ययन प्रारम्भ करते समय ऋषि दयानन्द की आयु ३६ वर्ष थी। यह आयु न तो उद्दाम यौवन की है, जब मनुष्य का मन आकाश के तारे तोड़ने को उद्यत होता है और पाँव जमीन पर नहीं टिकते, न ही यह ऐसी प्रौढ़ावस्था की आयु है कि मन की उमंगों का शरीर साथ न दे सके। यह आयु यौवन और प्रौढ़त्व की ऐसी सन्धिवेला है जब जीवन की धारा बरसाती नदी की तरह कूल-कछारों को तोड़ती-फोड़ती नहीं, बल्कि शीतकालीन स्थिर-शान्त प्रवाह से खेतों को सींचती और जन-जन को आप्यायित करती चलती है। यह ऋषि के उत्तरवर्ती जीवन को स्थिरता देने की तैयारी का काल है।

गुरु विरजानन्द के पास आने से पूर्व ऋषि दयानन्द के जीवन के चार वर्ष कहाँ बीते—इस विषय में प्रथम दो विवरण केवल इतना बताते हैं कि १८५५-५६ में वे गंगा और नर्मदा के तट पर भ्रमण करते रहे और उसके बाद दोनों विवरण एक-दम चुप हैं। स्वयं बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय—जिन्होंने आर्यसमाजी न होते हुए भी अनेक वर्षों तक खोज करने के पश्चात् अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से ऋषि का अद्भुत

जीवन-चरित्र लिखा है – लिखते हैं :

"इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते कि नर्मदा के उत्पत्तिस्थान के दर्शन के पश्चात् उन्होंने क्या-क्या किया, कहाँ-कहाँ गए, किस-किस नये योगाभ्यास के उद्देश्य से किस-किस योगी के पास गए। वस्तुतः इस पहाड़ी ग्राम के वृक्ष के नीचे रात्रि-भर विश्राम करके जब वे अगले दिन सन्ध्योपासना के पश्चात् आगे जाने को उद्यत हुए, उसके पीछे का उनका जीवन न केवल हमारे ही लिए अन्धकार में छिपा हुआ है, बल्कि संसार के लिए भी अज्ञात है।" (महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित, भाग-१, पं० घासीराम द्वारा लिखित, पृष्ठ ८९। यहाँ 'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती'—लेखक श्री भवानीलाल भारतीय, पृष्ठ ३७ से उद्धृत)

नर्मदा का उद्गम अमरकण्टक के पास है। उसके चारों ओर बीहड़ जंगल है। ऐसी सघन अरण्यानी को देखकर महाकवि बाण द्वारा वर्णित अरण्य का वर्णन बिना स्मरण आए नहीं रहता। ऐसा ही सघन वन बस्तर में भी है जिसे वाल्मीकि-रामायण में वर्णित दण्डकारण्य के रूप में इतिहासविदों ने स्थापित किया है। इसी बस्तर में लंका नामक एक गाँव भी है और उस प्रदेश की प्रमुख नदी इन्द्रावती है। जिस स्थान पर पूरी-की-पूरी नदी प्रपात के रूप में सैकड़ों फुट ऊपर से गिरती है, उस स्थान को आज भी चित्रकूट कहा जाता है। कुछ पुरातत्त्वज्ञ इसी प्रदेश को रावण की लंका मानने की बात भी करते हैं। लेखक ने स्वयं दो बार अमरकण्टक की ओर एक बार बस्तर की यात्रा की है और ऐसे वनवासी (जिन्हें गलती से 'आदिवासी' कहा जाता है) भी उसे मिले हैं जो अपने-आपको गर्वपूर्वक रावण का वंशज बताते हैं।

नर्मदा के उद्गम के बाद

नर्मदा के उद्गम के बाद प्रसंगोपात्त बात केवल इतनी है कि नर्मदा नदी का उद्गम या अमरकण्टक की यात्रा किसी भी अवस्था में ऋषि के जीवन के चार बहुमूल्य वर्ष लेने की स्थिति में नहीं हैं। पर यह स्पष्ट है कि अमरकण्टक उत्तर और दक्षिण भारत को विभाजित करने वाली विन्ध्याचल की शृंखला का द्वार है और नर्मदा नदी भी उत्तर और दक्षिण को विभाजित करने वाली और दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है। कभी-कभी लगता है कि विन्ध्य और नर्मदा, दोनों आसेतु-हिमाचल-प्रसूत भारतमाता की कटि की मणिमेखला हैं। इसीसे यह कल्पना भी जन्म लेती है कि नर्मदा नदी के उद्गम को देखने के बाद कहीं ऋषि दक्षिण भारत की ओर तो नहीं निकल गए? जिस तरह साधु लोग भागीरथी गंगा के उद्गम-स्थान गोमुख=गंगोत्री से लेकर उसके समुद्र में मिलने के स्थान – गंगा सागर-– तक की यात्रा करना परम पुण्य मानते हैं, उसी तरह नर्मदा नदी के उद्गम-स्थान अमरकण्टक से लेकर उसके समुद्र में मिलने के स्थान भरुच (प्राचीन नामक भृगु-

कच्छ) तक की यात्रा करना भी पुण्यप्रद माने जाने की साधु-परम्परा रही है। गंगा और नर्मदा की यह परिक्रमा केवल पुण्यप्रद ही नहीं, प्रत्युत भारत के इस विशाल भूखण्ड के जन-जीवन के अध्ययन का भी मार्ग है। जिस युग में आधुनिक युग जैसे संचार-साधन नहीं थे, उस युग में साधुओं की यह पदयात्रा ही उन्हें जन-जीवन से जोड़ती थी।

इसलिए सन् १८५६ से सन् १८६० तक के चार वर्षों के अज्ञात जीवन के सम्बन्ध में एक समाधान यह निकलता है कि दयानन्द इन चार वर्षों में नर्मदा और गंगा के तटवर्ती प्रदेशों का, और सम्भवतः दक्षिण भारत का भी भ्रमण करते रहे। परिव्राजक शब्द की सार्थकता और किस प्रकार सिद्ध होगी? परिव्राजक के लिए रात्रि से अधिक किसी स्थान पर निवास और विश्राम वर्जित किया गया है। दयानन्द नर्मदा के उद्गम के साथ चार वर्ष तक खूँटे की तरह बँधे रहे, इसे कौन मानने को तैयार होगा?

यह खामोशी क्यों?

फिर सीधा प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि चार वर्ष तक ऋषि इन प्रदेशों का भ्रमण करते रहे, तो इसमें छिपाने की या मौन की क्या बात थी? पर कहावत है—'खामोशी भी एक अन्दाज़ेबयाँ है।' कभी-कभी मौन, वैखरी वाणी से भी अधिक मुखर होता है। तभी तो कहा है—

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तूच्छिन्नसंशयाः।

गुरु ने मौन रहकर ही व्याख्यान दिया और शिष्यों के सारे संशय छिन्न-भिन्न हो गए। परन्तु ऐसे गुरु के जब तक उस मौन को हृदयंगम करने वाले ऊहावान् शिष्य नहीं होंगे, तब तक गुरु का मौन व्याख्यान भी **'भस्मनि आहुतम्'**—राख में डाली गई आहुति बनकर रह जाएगा। हमें लगता है कि यह मौन अकारण नहीं, सकारण है और साभिप्राय भी।

वह कारण क्या हो सकता है? यह इस तथ्य से पता लगता है कि सन् १८५५-५६ में जन-विद्रोह भूमिगत जल की तरह अन्दर-ही-अन्दर उबल रहा था और इस विद्रोह के मुख्य केन्द्र नर्मदा और गंगा के तटवर्ती प्रदेश ही थे। सन् १७५७ में प्लासी की लड़ाई में अंग्रेजों की विजय से भारत में ब्रिटिश शासन की जड़ जमनी शुरू हुई थी, इसलिए उसके ठीक सौ वर्ष बाद सन् १८५७ में राष्ट्र को अंग्रेजों के पंजों से मुक्त कराने के लिए कुछ राष्ट्रचेता राजनेताओं की धमनियों में रक्त उबलने लगा हो, तो इसमें क्या आश्चर्य है! सन् १८५५-५६ से ही उस अभियान की भूमिगत तैयारी प्रारम्भ हो गई थी, जो १८५७ में जमीन के ऊपर आ गया। कमल और रोटी का प्रतीक जहाँ-जहाँ पहुँचा, वहीं विद्रोह की योजना भी पहुँची। अंग्रेजों ने तो उस विस्फोट को गदर या सिपाही-विद्रोह की संज्ञा दी ही, पर अपने दिमाग

को अंग्रेजों की अल्मारी में गिरवी रखने वाले भारतीय बुद्धिजीवी भी इस राज्य-क्रान्ति का उचित मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे। वे यही कहते रहे कि जिन कुछ राजाओं और सामन्तों के राज्य और जागीरदारियाँ छिन गई थीं, यह उनका वैयक्तिक विद्रोह था और देश की आजादी से उसका कोई वास्ता नहीं था। उत्तर-भारत के जिस इलाके में यह विद्रोह हुआ, उसे देखते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह कोई राष्ट्रव्यापी जन-विद्रोह या राज्यक्रान्ति थी। इस राज्य-क्रान्ति का अवमूल्यन करने वाले कुछ ऐसे लोग भी थे जिनको अंग्रेजों के साथ सहयोग करने और अपने देश-बन्धुओं से गद्दारी करने के एवज में रायबहादुर, नवाब, जागीरदार आदि के खिताब, खिलअतें और पुरस्कार मिलने लगे थे। इन लोगों के निहित स्वार्थ थे, इसलिए उनका वैसा करना स्वाभाविक था। परन्तु कुछ लोग सचमुच ही ईमानदारी से अंग्रेजों के शासन को, कानून और व्यवस्था को तथा मुगलकालीन पिण्डारी डाकुओं की लूटमार से बचाकर शान्ति-स्थापन को अंग्रेजी शासन का वरदान समझते थे। इसलिए इस विद्रोह को अनुचित बताते हुए वे इसे जनान्दोलन मानने को तैयार नहीं थे। उनका कहना यही था कि विद्रोह के संचालकों में स्वदेश-प्रेम या राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी और उनके सामने राष्ट्र की स्वतन्त्रता का कोई आदर्श विद्यमान नहीं था।

आज जिसे हम राष्ट्रीयता कहते हैं, वह सर्वथा नई चीज है। मध्ययुग में संसार के किसी भी देश में आधुनिक राष्ट्रीयता का तत्त्व विद्यमान नहीं था। सामन्त-पद्धति के कारण उस समय लोगों की वफादारी अपने स्वामी के प्रति हुआ करती थी, देश के प्रति नहीं। जिन लोगों की भाषा, धर्म, संस्कृति एवं परम्पराएँ एक हों वे एक राष्ट्रीयता के अंग होते हैं, यह भावना मध्ययुग में पैदा ही नहीं हुई थी। इसलिए १८५७ में भी राष्ट्रीयता की इस भावना का समुचित विकास नहीं हुआ था, यह सही है। पर जिन तत्त्वों में राष्ट्रीयता का विकास होता है, वे तत्त्व विद्यमान थे और विद्रोह के नेताओं ने उन्हीं तत्त्वों का सहारा लेकर ऐसे भयंकर विस्फोट की योजना तैयार की थी जिसके कारण ब्रिटिश राज्य की नींव हिल गई थी। इस विद्रोह में केवल राजा ही नहीं, हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के सैनिक और जनता जिस रूप में शामिल थे, उसके कारण इसे स्वाधीनता-संग्राम कहना ही उचित होगा। आज भी यह देश प्रान्तीयता, प्रादेशिकता, पृथक् भाषा या सम्प्रदाय आदि की संकीर्ण भावनाओं से कहाँ उबर पाया है? फिर अब से सवा सौ साल पहले यह कैसे सम्भव होता कि विद्रोहियों के समक्ष राष्ट्रीयता का वही अर्थ होता, जो आज हमारे सामने है? उस समय यूरोप के भी किसी देश में राष्ट्रीयता का वह आदर्श नहीं था।

सीधी बात यह है कि यदि दयानन्द का सन् १८५७ के इस विद्रोह से कोई वास्ता नहीं था, तो उस मौन की आवश्यकता नहीं थी जो मौन स्वयं मुखर

होकर बोलता है। यदि विद्रोह से उनका सम्पर्क था, तो मौन सर्वथा उचित था, क्योंकि अंग्रेजों का शासन रहते 'आ बैल, मुझे मार' में कोई बुद्धिमानी नहीं थी। यह भीरुता नहीं थी, नीतिमत्ता थी।

विरोधी तर्क

इस स्थापना के विरुद्ध दो तर्क दिये जाते हैं। पहला तर्क तो यह है कि जिसको ऋषि ने स्वयं गोपनीय रखा, किसी और को उसे उजागर करने का क्या अधिकार है ? यह तर्क हमारी समझ में नहीं आया। मानव-मन की जिज्ञासा कभी समाप्त नहीं होती। यह उसका स्वाभाविक गुण है। अज्ञात की खोज ने ही तो वैज्ञानिकों को ज्ञान-विज्ञान के आधार पर इतने नए-नए आविष्कार करने की क्षमता दी है। सृष्टि और प्रकृति के रहस्यों को अनावृत करना यदि भौतिक विज्ञान है, तो मानव-मन की परतों को उघाड़कर उसके क्रियाकलाप का विश्लेषण करना मनोविज्ञान है। जिज्ञासा दोनों के मूल में है। इसलिए उक्त चार वर्षों के मौन के रहस्य को हमें समझने का प्रयत्न करना ही होगा।

दूसरा तर्क यह है कि ऋषि की मनोदशा योगियों को खोजकर उनसे योगविद्या के रहस्यों को समझने की थी, किसी राजनीति-प्रधान विद्रोह में सक्रिय भाग लेने की नहीं थी। इस तर्क में भी हमें दम नहीं लगता। पहले तो ऋषि की मनोदशा का सही आकलन करने का निर्णय भी सिवाय ऋषि के और कोई नहीं कर सकता। इस विद्रोह में सक्रिय रूप से ऋषि के लिप्त होने का विरोध इसलिए भी किया जाता है कि इस काम को ऋषि के गौरव को घटाने वाला माना जाता है। परन्तु हम इससे भी सहमत नहीं। हमें किसी क्रान्तिकारी के विद्रोह-जन्य राज्यक्रान्ति में शामिल होने में और योगाभ्यास की साधना में भी परस्पर विरोध दिखाई नहीं देता। राज्यक्रान्ति यदि स्थूल शारीरिक क्रान्ति है तो योगाभ्यास सूक्ष्म मानसिक क्रान्ति है। क्रान्ति दोनों जगह है, केवल रूप बदल गया है। कितने ही क्रान्तिकारी हैं, जो यौवन में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रहे, जिन्होंने अपने क्रान्ति-सम्बन्धी कार्यों के लिए अनेक वर्षों तक कारावास का दण्ड भोगा, किन्तु बाद में अध्यात्म की ओर मुड़े तो योगी बन गए। योगिराज अरविन्द घोष इस प्रकार के प्रमुख उदाहरण हैं। वे यौवन में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रहे, बाद में प्रौढ़ावस्था में योग की ओर मुड़ गए। ऋषि दयानन्द के जीवन में भी यह क्रान्तिकारी वृत्ति न होती तो न वे घर-बार छोड़ते, न युवावस्था में संन्यास लेते, न आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करते, न एकान्तवास में मोक्षसाधना को ठुकराकर जनाकीर्ण कर्मसंकुल कर्मक्षेत्र में कूदकर खम ठोकते। इसलिए हमें १८५७ की राज्यक्रान्ति में उनके भाग लेने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता।

रही यह बात कि १८५७ के संग्राम में उन्होंने किस रूप में भाग लिया, यह

हमेशा विवादास्पद रहेगा, क्योंकि ऐसे किसी भी प्रसंग में 'इदमित्थम्' का अन्तिम वाक्य कहना सदा कठिन होता है।

कलकत्ता-कथ्य

कलकत्ता के कथ्य के सम्बन्ध में कुछ तथ्य ध्यान देने योग्य हैं। जब ऋषि दयानन्द कलकत्ता गए थे तब २२ से ३१ मार्च १८७३ के मध्य उन्होंने एकान्त में ग्रन्थ-रचना की, इस बात का उल्लेख ऋषि से योग सीखने वाले, आदि-ब्रह्मसमाज के प्रचारक श्री हेमचन्द्र चक्रवर्ती ने अपनी एक पुस्तक में किया था, जो बंगला में लिखी गई थी और उसका नाम 'दयानन्द प्रसंग' था। इस पुस्तक में कलकत्ता में ऋषि के चार मास तक निवास का वर्णन था। श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री ४५ वर्ष तक बंगला भाषा में लिखे गए ऋषि दयानन्द की जीवनी-सम्बन्धी मूल लेखों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे। उन्हीं मूल लेखों के आधार पर उन्होंने सन् १९६८ में उनका क्रमबद्ध अनुवाद हिन्दी में करके 'सार्वदेशिक' पत्र में 'महर्षि दयानन्द की अज्ञात जीवनी' नाम से एक लेख-माला प्रकाशित करवाई, जो ५ जनवरी १९६९ से लेकर ८ नवम्बर १९७० तक के अंकों में धारावाहिक रूप से चलती रही। इसी अज्ञात जीवनी से ऋषि दयानन्द की उन यात्राओं की जानकारी मिली जो उन चार वर्षों में की गई थीं, जिनके बारे में अन्य दो जीवनियाँ मौन थीं और जिनके बारे में आर्य जनता की उत्सुकता लगातार बनी हुई थी।

इस अज्ञात जीवनी से तीन नई यात्राओं का पता लगा जो उन्होंने १८५५–६० के मध्य में की थीं। पहली यात्रा थी कुम्भ-मेले के उपरान्त उत्तराखण्ड की, जिसमें गढ़वाल के श्रीनगर से लेकर कश्मीर के श्रीनगर तक उनका जाना और वहाँ से अमरनाथ, कंगन, गन्धरबल, मट्टन (मार्तण्ड), कार्गिल, लेह, हिमिस गोम्पा तक जाना और वहाँ से वापस उत्तराखण्ड आना शामिल है। इस दूसरी उत्तराखण्ड की यात्रा में गंगोत्री से गंगासागर तक की यात्रा शामिल है। यह यात्रा १८५६-५७ में की गई थी। तीसरी यात्रा नासिक से प्रारम्भ हुई और कन्याकुमारी तथा धनुष्कोटि में जाकर समाप्त हुई। इस तीसरी यात्रा में कर्नाटक, तमिलनाडु के अधिकांश प्रदेश और उस समय दक्षिण भारत में विद्यमान रियासतों की यात्रा भी शामिल है। इस प्रकार लगभग भारत-भर की यात्रा इनमें पूरी हो जाती है। ऊपर हमने नर्मदा के स्रोत से दक्षिण भारत की ओर प्रयाण की जो सम्भावना व्यक्त की है, वह भी इस प्रकार सही हो जाती है। कुछ लोग अज्ञात जीवनी के इस प्रसंग को प्रामाणिक नहीं मानते और इसे कल्पना-प्रसूत बताते हैं।

परन्तु कलकत्ता के आर्यबन्धु बताते हैं कि श्री पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री गप्प लगाने वाले व्यक्ति नहीं थे और उन्होंने सचमुच ही अत्यन्त निष्ठापूर्वक ऋषि की अज्ञात जीवनी की खोज में अनेक वर्ष लगाए थे। फिर भी हम यह मान लेते हैं कि

सम्भव है, उनसे भी कहीं अतिरंजना हो गई हो। आखिर कोई भी लेखक सर्वज्ञ नहीं होता। फिर यह भी सम्भव है कि उनके लेखन में कहीं आधुनिक खोजों के आधार पर ज्ञात नई बातों का भी समावेश हो गया हो। पर केवल इसी कारण उनके समस्त परिश्रम को मिथ्या और कपोलकल्पित बता देना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। दीनबन्धु वेदशास्त्री के पक्ष की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि ऋषि दयानन्द ने अपनी जीवनी संस्कृत में बोलकर लिखवाई थी और बाद में उसी संस्कृत का बंगला भाषा में अनुवाद किया गया था। वेदशास्त्री जी को बंगला भाषा के छोटे-छोटे पुर्जे उन १२ बंगाली परिवारों से प्राप्त हुए थे जो ऋषि के कलकत्ता-प्रवास के समय उनके सम्पर्क में आए थे। प्रश्न यह है कि संस्कृत में लिखित वह मूल लेख कहाँ है जिसका बंगला में अनुवाद किया गया था? वह मूल लेख अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सका। वेदशास्त्री जी ने जो जीर्ण-शीर्ण पुराने कागजात के पुर्जे बाद में श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी को—जिन्होंने उसी अज्ञात जीवनी को 'योगी का आत्मचरित' के नाम से पुस्तकाकार छपवाया था—दिये थे, वे भी सब बंगला भाषा के ही थे, संस्कृत के नहीं। हो सकता है कि मूल संस्कृत-लेख वेदशास्त्री जी के परिवार में कहीं सुरक्षित हों, पर वेदशास्त्री जी के दिवंगत हो जाने के पश्चात् उनके परिवार के लोग इस विषय में कोई सहयोग करने को तैयार नहीं हैं। इसलिए अब मूल संस्कृत-लेख की प्राप्ति की कोई आशा भी नहीं है। जब तक मूल संस्कृत-लेख उपलब्ध नहीं होता, तब तक केवल बंगला भाषा के पुर्जे-पुर्जियों के आधार पर लिखित जीवनी के बारे में संशय की अंगुली उठती ही रहेगी और यह जीवनी साध्य कोटि में ही बनी रहेगी। पर इतने मात्र से वह नगण्य नहीं हो जाती।

फिर भी हम यह समझते हैं कि अज्ञात जीवनी के कई प्रसंग जो पहले असंगत और अपुष्ट समझे जाते थे, बाद में और खोज होने पर सुसंगत और परिपुष्ट सिद्ध हुए; उससे इस अज्ञात जीवनी के अन्य प्रसंगों के भी सत्य होने की सम्भावना बढ़ती है। इसलिए सन्तुलित दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री जी के अनेक-वर्षव्यापी परिश्रम और दौड़-धूप को सर्वथा नकारने के बजाय, ऋषि के कलकत्ता के तथाकथित आत्मकथ्य में वर्णित तथ्यों की संगति लगाने का प्रयत्न किया जाए। भोपाल के इंजीनियर बन्धुवर आदित्यपाल सिंह पिछले दस वर्षों से इसी काम में लगे हुए हैं और उन्होंने पिछले दिनों 'थियोसोफिस्ट' में वर्णित और पूना-प्रवचन में वर्णित विवरणों का तथा कलकत्ता के आत्मकथ्य में वर्णित विवरण का तुलनात्मक अध्ययन करके कुछ सुसंगत निष्कर्ष निकाले हैं और उन निष्कर्षों की पुष्टि में नई खोजों के आधार पर अन्य स्रोतों से प्राप्त सामग्री का भी यथास्थान समावेश किया है। उन्होंने 'अपना जन्मचरित्र' नामक पुस्तक में इन तीनों आत्म-

कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन और उसके निष्कर्ष उपस्थित किये हैं। सही दृष्टि-कोण यही है जो आर्य विद्वानों को अपनाना चाहिए।

स्वातन्त्र्य समर के प्रति रुख

१८५७ के स्वातन्त्र्य समर के प्रति ऋषि का क्या रुख रहा होगा, यह सत्यार्थ-प्रकाश में वर्णित उनके इस लेख से पता लगता है—"जब संवत् १९१४ (अर्थात्) सन् १८५७) के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहाँ गई थीं? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की, शत्रुओं (अर्थात् अंग्रेजों) को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी नहीं तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके (अर्थात् अंग्रेजों के) धुर्रे उड़ा देता और वे (अर्थात् अंग्रेज) भागते फिरते अर्थात् भारत छोड़कर चले जाते।" इतना ही नहीं, इस काल में भारतीयों को युद्ध करने की प्रेरणा भी उन्होंने अवश्य दी होगी, यह परोक्ष रूप से उनकी 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' नामक पुस्तक से पता लगता है जो बच्चों को संस्कृत सिखाने के लिए प्रश्नोत्तर के रूप में लिखी गई थी। एक प्रश्नोत्तर देखिए—

प्रश्न—इस समय सभा में किस विषय पर विचार करना चाहिए?
उत्तर—युद्ध अर्थात् लड़ाई का।

प्रश्न—उसके साथ युद्ध करना चाहिए या नहीं?
उत्तर—यदि वह धर्मात्मा हो तब तो उससे युद्ध करना योग्य नहीं, और जो पापी हो तो उसके साथ युद्ध करना ही चाहिए। वह अन्याय से प्रजा को पीड़ा देता है, इस कारण से बड़ा पापी है।
प्रश्न—यदि ऐसा है तो शस्त्र-अस्त्र फेंकने या चलाने में और युद्ध में कुशल, बड़ी लड़ने वाली, खजाना और अन्नादि सामग्री सहित सेना युद्ध के लिए भेजनी चाहिए।
उत्तर—सच है, इसमें हम सब लोग सम्मति देते हैं।

जरा सोचकर देखिए तो आपको लगेगा कि यह प्रश्नोत्तरमय वार्तालाप उसी ढंग का है जो १८५७ के स्वातन्त्र्य समर का कोई नेता आम जनता के साथ करता। इसके अतिरिक्त 'सत्यार्थप्रकाश' के दशम समुल्लास में यह प्रकरण भी देखिए—"विदेशियों का आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना व बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षणा, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। (यह संकेत क्या १८५७ में विद्यमान परिस्थितियों की ओर नहीं है?) कोई कितना ही

करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह से रहित, अपने और पराये के पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुख-दायक नहीं है।"

इस सन्दर्भ को पूरी तरह हृदयंगम करने के लिए १ नवम्बर, १८५८ को महारानी विक्टोरिया द्वारा इलाहाबाद में की गई क्षमादान की इस घोषणा के साथ जोड़कर देखना चाहिए—"हम स्वयं ईसाइयत के सत्य पर दृढ़ता से विश्वास करते हैं और धर्म से प्राप्त सन्तोष को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, पर साथ ही अपनी प्रजा के किसी भी भाग पर अपने विश्वास को थोपने की इच्छा और अधिकार को अस्वीकार भी करते हैं। हम अपने इस शाही संकल्प की घोषणा करते हैं कि किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाएगा और धार्मिक विश्वास या मान्यता के आधार पर किसी को अपमानित नहीं किया जाएगा और न ही किसी को अयोग्य ठहराया जाएगा, प्रत्युत सबको समान और निष्पक्ष रूप से कानून की सुरक्षा प्राप्त होगी, और हम अपने अधीन समस्त कर्मचारियों और अधिकारियों को यह सख्त ताकीद करते हैं कि वे हमारी समस्त रियाया पर धार्मिक विश्वास और पूजा की विधि में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से बाज आवें, अन्यथा उन्हें हमारे कोप का भाजन बनना पड़ेगा।" जरा सोचकर देखिए कि सत्यार्थप्रकाश का उक्त सन्दर्भ महारानी विक्टोरिया की इस घोषणा का करारा प्रत्युत्तर है या नहीं? १८५७ के समर से बिना जोड़े इस सन्दर्भ की सही संगति नहीं लग सकती।

दीनदयाल कौन है?

सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य समर के प्रति ऋषि का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाने के बाद यह प्रश्न शेष रहता है कि ऋषि ने यदि उसमें सक्रिय भाग लिया, तो किस रूप में लिया? अज्ञात जीवनी का कहना है कि उस समर के तत्कालीन नेता नाना साहब धुन्धु पन्त, अजीमुल्ला खाँ, बाला साहब, तात्या टोपे, बाबू कुँवर सिंह, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और बंगाल के श्री गोविन्दराय से स्वामी जी का सम्पर्क था और ये नेता हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर चण्डी पर्वत के शिखर पर एकान्त में उनसे मिले थे और समर की पूर्व-योजना के सम्बन्ध में उनसे विचार-विनिमय किया था। उस विद्रोह में कमल और चपाती का जो प्रतीक चुना गया था, वह मूल रूप से ऋषि का ही सुझाव था जिसे अन्य सबने स्वीकार कर लिया था। अज्ञात जीवनी का कहना है कि विद्रोह के समर्थन में साधुओं को संगठित करने का दायित्व ऋषि ने सम्भाला था। साधुओं के ऐसे सशस्त्र संगठन उस समय विद्यमान थे और अंग्रेजी सेना से उनकी कहीं-कहीं मुठभेड़ भी हुई थी, इसके प्रमाण अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। नर्मदा और गंगा-तट की परिक्रमा तथा दक्षिण भारत का भ्रमण ऋषि ने इसी

उद्देश्य से किया था।

उक्त विद्रोह में साधुओं का भी सक्रिय योगदान था, इस विषय में इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् दिवंगत श्री पं० सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'आर्यसमाज के इतिहास' के प्रथम खण्ड के अन्तिम अध्याय में ब्रिटिश अभिलेखागार से प्राप्त बाबा सीताराम की गवाही का उल्लेख किया है। बाबा सीताराम को मैसूर के पास गिरफ्तार किया गया था। उनकी लम्बी गवाही मेजर एच० बी० देवरा के समक्ष हुई थी जो १८ जून से २५ जून, १८५८ तक चली थी। इस गवाही की पुष्टि उन्ही दिनों फ्रेंच में लिखे गए एक उपन्यास से भी होती है जो अंग्रेजी में 'मरियम – १८५७ के भारतीय गदर की कहानी' (Marium—A story of the Indian Mutiny of 1857) नाम से अनूदित हुई थी।

सैनिक कमीशन द्वारा यातना दिये जाने के पश्चात् बाबा सीताराम ने यह स्वीकार किया था कि इस विद्रोह का संचालन नाना साहब के गुरु 'दस्सा बाबा' ने किया है जो कांगड़ा से परे कालीधार की तरफ रहते हैं और जिनकी आयु १२५ वर्ष है। उनका एक शिष्य दीनदयाल है जो दक्षिण भारत में काम कर रहा है। दक्षिण-भारत के अनेक राजाओं को और तिरुपति के शिवराम बाबा को पत्र लिखकर इस विद्रोह में सहयोग देने के लिए लिखा है। सीताराम बाबा ने यह भी बताया कि सिन्धिया-नरेश की दादी बैंजीबाई कई वर्षों से इस विद्रोह की योजना बना रही थी। इधर नाना साहब भी ऐसे ही प्रयत्न में लगे थे। दस्सा बाबा के परामर्श से दोनों सहयोग करने को तैयार हो गए और आगे की योजनाएँ इन दोनों के सहयोग से ही बनीं। सीताराम की गवाही से यह भी पता लगा कि दक्षिण भारत में काम कर रहे दीनदयाल अकेले नहीं थे, उनके साथ बीस साधु और थे। वे साधु मालाएँ और जटाजूट तथा बाजूबन्द धारण किया करते थे और पत्र आदि उन्हीं में छिपाकर रखा करते थे।

श्री सत्यकेतु जी का अनुमान है कि दस्सा बाबा और दीनदयाल ये दोनों नाम एकदम सही नहीं हैं और असली नामों को गोपनीय रखने के लिए ही सीताराम ने उक्त नाम दे दिये हैं। उनके कथनानुसार दस्सा बाबा नाम से अभिप्राय दशनामी साधु से हो सकता है। शंकराचार्य ने साधुओं के जो दस संगठन बनाए थे, वे दशनामी कहलाते हैं। उन्हीं दशनामी साधुओं में सरस्वती, तीर्थ और भारती आदि उपनाम धारण करने वाले साधु भी सम्मिलित हैं। वे दशनामी साधु शस्त्र भी धारण करते थे और उनकी सेनाएँ युद्ध में भी भाग लिया करती थीं। अंग्रेजों से जहाँ-जहाँ उनकी मुठभेड़ हुई उसे इतिहास में 'संन्यासी विद्रोह' की संज्ञा दी गई है। नाना साहब और रानी झाँसी के पक्ष में दशनामी साधुओं के महानिर्वाणी अखाड़े ने रणक्षेत्र में शस्त्र लेकर संघर्ष किया था। सोरम गाँव की सर्वखाप पंचायत के रिकॉर्ड में उन साधुओं के नाम स्वामी पूर्णानन्द और स्वामी ओमानन्द दिये गए हैं,

जिनकी आयु क्रमशः ११० और १६० वर्ष बताई गई है।

फिर यह दीनदयाल कौन है? पं० सत्यकेतु जी का अनुमान है कि यह साधु ऋषि दयानन्द हो सकता है। दयानन्द उस समय दक्षिण भारत में भ्रमण कर रहे थे, यह 'अज्ञात जीवनी' से पता लगता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि असली नाम को छिपाने के लिए जो दूसरा नाम प्रयुक्त किया जाता है उसमें असली नाम की छाया भी छिपी रहती है। सम्भवतः यही बात दयानन्द और दीनदयाल के सम्बन्ध में भी हुई है।

१८५७ के बाद

१८५७ का समर सन् १८५८ में समाप्त हो गया और अंग्रेजों ने भयंकर दमन करके उस विद्रोह को कुचल दिया। दयानन्द ने इस विद्रोह को विफल होते अपनी आँखों से देखा और उसके कारणों पर गम्भीरता से विचार किया और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि भारत में भारतीयों का धर्म सुरक्षित रहे और देश की प्रभुसत्ता भारतीयों के हाथ में रहे, इसके लिए आवश्यक है कि वेदों की विशुद्ध शिक्षा भारतीयों को दी जाए; वे अन्धविश्वासों और साम्प्रदायिक रागद्वेष से पराङ्मुख हों, तभी वे धीरे-धीरे इस योग्य हो सकेंगे कि अपना शासन स्वयं कर सकें और अन्ततः उन्हें पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो जाए। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए दयानन्द को अपने मन में कम मन्थन नहीं करना पड़ा होगा; परन्तु उसे क्रियान्वित करना एक लम्बी प्रक्रिया थी। सन् १८५८ के बाद भी यदि दयानन्द ने दो वर्ष तक अवधूत-वेश में रहकर और भ्रमण किया तो उसका कारण भी यही प्रतीत होता है कि विद्रोह में अपने सक्रिय योगदान को गोपनीय रखने के लिए ही वे अज्ञातवास में घूमते रहे; देश की तात्कालिक परिस्थितियों को अपनी आँखों से देखकर उनका मानसिक आकलन करते रहे। जब दो वर्ष के अन्दर उस विद्रोह की दावाग्नि की राख भी इधर-उधर बिखर लुप्त हो गई, तो सन् १८६० के नवम्बर मास के उत्तरार्ध में एक दिन मथुरा में गुरु विरजानन्द की कुटिया पर उपस्थित हो गए।

सन् १८५६ से सन् १८६० तक जो उथल-पुथल ठण्डी हो चुकी थी, उसके प्रत्यक्ष द्रष्टा और प्रत्यक्ष भोक्ता बने ऋषि दयानन्द की जीवनी का आगामी पथ इतना पिच्छिल नहीं है; न वह गोपनीय है, न ही विवादास्पद है। सन् १८६४ के सितम्बर-अक्तूबर मास तक वे गुरु विरजानन्द के चरणों में विद्याध्ययन करते रहे। वहाँ से मनुष्यकृत ग्रन्थों की अपेक्षा ऋषिकृत (आर्ष) ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की और आर्ष विद्या के प्रचार की दीक्षा लेकर वे गुरु विरजानन्द से विदा हुए और इससे पूर्व तक उनके उनके मन में जहाँ कहीं संशय थे, उनका भी निराकरण हो गया। पर गुरु-दक्षिणा के रूप में गुरु ने जो सारा जीवन माँग लिया, उसे देश-हित में अर्पित करने के लिए अभी और साधना की आवश्यकता थी। परिव्राजक फिर

निकल पड़ा अपने मन्तव्यों का प्रचार करने नगर-नगर और ग्राम-ग्राम का भ्रमण करने।

आगामी लगभग दो वर्ष उन्होंने आगरा, ग्वालियर, जयपुर, अजमेर-पुष्कर आदि निकटवर्ती स्थानों में कभी योगाभ्यास और कभी अध्ययन करने और कभी वैष्णव और भागवत मत का तथा रामानुज मत का खण्डन करते बिताए। शुरू-शुरू में उन्होंने वैष्णव मत के मुकाबले में कहीं-कहीं शैव मत का मण्डन भी किया, क्योंकि घर से निकलने के बाद गुजरात के विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते हुए वैष्णव मतावलम्बियों की पोपलीला वे भलीभाँति देख चुके थे। पर प्रतीत होता है कि शैव मत का यह मण्डन केवल वैष्णव मत के खण्डन के लिए ही उन्होंने आकस्मिक रूप से अपनाया था, अपनी पारिवारिक शैवमतीय परम्परा के मोह के कारण नहीं।

सन् १८६६ में अजमेर में उनकी रेवरेंड ग्रे, रॉबिन्सन शूल ब्रेड और मौलवी मुराद अली से बहस हुई जिसे उनकी ईसाई और मुसलमान धर्म-प्रचारकों से पहली मुठभेड़ कहा जा सकता है। अजमेर में ही उनकी ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट कर्नल ब्रुक से भेंट हुई जिसमें उन्होंने इस बड़े अंग्रेज अधिकारी से गोहत्या बन्द करवाने का आग्रह किया। १८६६ के उत्तरार्ध में ही उनकी गुरु विरजानन्द से अन्तिम भेंट हुई जिसमें सम्भवतः उन्होंने अपने गुरु से ली दीक्षा को पूरा करने के सम्बन्ध में अपनी गतिविधियों का विवरण दिया हो, कुछ संशयात्मक विचारों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया हो और आगे के कार्य के लिए नई प्रेरणा ली हो। इतना स्पष्ट है कि इस भेंट के बाद फिर कभी उन्होंने शैव मत का मण्डन नहीं किया।

पाखण्ड-खण्डिनी पताका

सन् १८६७ में फिर हम उन्हें कुम्भ के मेले पर हरिद्वार में उपस्थित पाते हैं। इस महापर्व पर जिस प्रकार समस्त भारत की नब्ज को पहचानने का, तथा सभी प्रान्तों के साधु-सन्तों से और भक्त तीर्थयात्रियों से परिचय का अवसर सुलभ हो सकता था, वैसा और कहीं नहीं। पर सन् १८५५ के कुम्भ वाले दयानन्द से सन् १८६७ के कुम्भ पर विद्यमान दयानन्द एकदम बदला हुआ था। पहले यदि युवावस्था के लिए अत्यन्त स्वाभाविक, सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के लिए उत्सुक और सहयोगी दयानन्द था, तो इस बार का दयानन्द विद्या और तप से मँजा हुआ, ४५ वर्ष की आयु का, विचारों की परिपक्वता की ओर अग्रसर, ऐसा आदित्य ब्रह्मचारी था जो सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति से भी बड़ी एक नई क्रान्ति के लिए सन्नद्ध था। यह अवधूत संन्यासी सारे संसार के पाखण्डों से अकेला ही संघर्ष करने को कटिबद्ध था और इसीलिए उसने कुम्भ के मेले पर पाखण्ड-खण्डिनी पताका गाड़ दी। यह उसके आत्मविश्वास का परिणाम था और उस शिक्षा का द्योतक था जिसकी ओर भविष्य में उसको बढ़ना था। अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व थी यह

पाखण्ड-खण्डिनी पताका। इससे पहले कभी किसी ने इस प्रकार की पताका का नाम भी नहीं सुना होगा। यह दयानन्द की समस्त मतमतान्तरों के पाखण्डों को खुली चुनौती थी।

गांगेय प्रदेश

कुम्भ के बाद दयानन्द फिर निकल पड़े गंगा और यमुना के विस्तृत मैदान की ओर, जो शायद संसार का सबसे बड़ा और सबसे घनी आबादी वाला प्रदेश है और जिसे 'भारत की आत्मा' कहा जा सकता है। गंगातट का पहले वाला भ्रमण भौगोलिक और राजनैतिक अधिक था; इस बार का यह भ्रमण पाखण्ड-खण्डिनी पताका को सार्थक करने का वैचारिक अभियान था। इस गांगेय प्रदेश के भ्रमण का विस्तृत वर्णन डॉ० भवानीलाल भारतीय ने अपने ग्रन्थ 'नव जागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती' में बड़े परिश्रम और खोजपूर्ण ढंग से दो अध्यायों में प्रस्तुत किया है। आज भी ऋषि दयानन्द के अनुयायी जितनी अधिक संख्या में इस प्रदेश में मिलेंगे, उतने और कहीं नहीं मिलेंगे। इन सब स्थानों की यात्रा का विवरण यहाँ देना सम्भव नहीं है। लगभग दो वर्ष तक इस अभियान के दौरान जिन विचारों का प्रचार वे करते रहे, उसे निम्न प्रकार समाहित किया जा सकता है (यह ध्यान रहे कि यह आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व का काल है। उस समय जिन मन्तव्यों का वे प्रचार किया करते थे, वही आगे जाकर आर्यसमाज की स्थापना की आधार-भूमि बने)।

इस कालावधि में कई महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ हुए और कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ भी घटीं, पर सबके मूल में आठ गप्पें थीं, जिनका ऋषि खण्डन करते थे और आठ सत्य थे जिनका वे मण्डन करते थे। इस समय तक वे संस्कृत ही बोलते थे, इसलिए स्थान-स्थान पर वे इन आठ गप्पों और आठ सत्यों को संस्कृत में छपवाकर प्रचारित भी करते थे। हम यहाँ पाठकों की सुविधा के लिए उनका हिन्दी-अनुवाद दे रहे हैं। आठ गप्पें ये हैं—

आठ गप्प और आठ सत्य

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि जितने मनुष्य-कृत ग्रन्थ हैं वे सब पहली गप्प हैं।
२. पाषाणों को देव समझकर पूजना, दूसरी गप्प है।
३. शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि सम्प्रदाय, तीसरी गप्प हैं।
४. तन्त्र-ग्रन्थों में वर्णित वाममार्ग, चौथी गप्प है।
५. भाँग आदि का नशा करना, पाँचवीं गप्प है।
६. परस्त्री-गमन, छठी गप्प है।
७. चोरी करना, सातवीं गप्प है।

८. छल, कपट, अभिमान और असत्य भाषण, आठवीं गप्प है।

ये आठों गप्पें हैं इनको छोड़ देना चाहिए।

इसी प्रकार वे जिन आठ सत्यों का प्रचार करते थे, वे इस प्रकार हैं—

१. ऋग्वेद आदि इक्कीस शास्त्रीय ग्रन्थ प्रामाणिक हैं, यह प्रथम सत्य है।

२. ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुसेवा करते हुए अपने धर्म के अनुष्ठानपूर्वक वेदों का अध्ययन करना, द्वितीय सत्य है।

३. वेदप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्म का पालन, सन्ध्यावन्दन और अग्निहोत्र आदि करना, तृतीय सत्य है।

४. ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् ही विवाह करना, पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान, ऋतुकाल में ही अपनी पत्नी के साथ समागम, और श्रुति-स्मृति-वर्णित आचार का अनुष्ठान करना, चतुर्थ सत्य है।

५. शम-दम-तप का आचरण, यम-नियम से लेकर समाधि-पर्यन्त उपासना और सत्संगपूर्वक वानप्रस्थाश्रम का सेवन, पंचम सत्य है।

६. विचार-विवेक-वैराग्य से लेकर पराविद्या का अभ्यास करते हुए संन्यास ग्रहण करके सब कर्मों का फल त्याग करना, षष्ठ सत्य है।

७. ज्ञान-विज्ञान के द्वारा सब अनर्थों की जड़ जन्म-मरण, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, लोभ-मोह और संग-दोष का त्याग करना, सप्तम सत्य है।

८. अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, सत्त्व, रज, तम—सब क्लेशों से निवृत्ति पाकर पंचमहाभूतों से परे मोक्षरूपी स्वराज्य की प्राप्ति, आठवाँ सत्य है।

इन आठ सत्यों को ग्रहण करना चाहिए।

काशी-शास्त्रार्थ

जिस पाखण्ड-खण्डिनी पताका का हरिद्वार के कुम्भ-मेले पर ऋषि ने उद्यापन किया था, उसका विजय-शंख बजता है १६ नवम्बर सन् १८६९ को काशी-शास्त्रार्थ के समय। पण्डितों और पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध काशी नगरी में इस शास्त्रार्थ से पाखण्ड के गढ़ को ध्वस्त किए बिना पाखण्ड-खण्डिनी पताका कैसे सार्थक होती! काशी-नरेश के तत्त्वावधान में आयोजित इस शास्त्रार्थ-समर में काशी की नाक समझे जाने वाले और अपनी विद्या के अभिमान में नाक पर मक्खी न बैठने देने वाले इक्कीस धुरन्धर पण्डित एक ओर, और दूसरी ओर केवल कौपीनधारी एकाकी दयानन्द और पचास हजार की उत्सुक जनमेदिनी दर्शक और श्रोता बनकर उपस्थित—देखें कि इस शास्त्रार्थ-समर में विजय की माला किसके गले में पड़ती है।

दयानन्द की केवल एक ही चुनौती थी—वेद से मूर्ति-पूजा सिद्ध कर दो। काशी की यह पण्डित-मंडली अन्य अनेक शास्त्रों की भले ही जानकार रही हो, पर इनमें से किसी की भी वेद में गति नहीं थी। काशी में दर्शनों और व्याकरण की ही

पाण्डित्य-परम्परा रही है, वेदाध्ययन की नहीं (भले ही कुछ पण्डित किसी मन्त्र का अर्थ जाने बिना केवल वेदपाठ के अभ्यासी रहे हों)! यदि वेद के पण्डित भी होते तो क्या कर लेते ? क्योंकि जब वेद में मूर्तिपूजा का विधान है ही नहीं तो वे कहाँ से निकाल लाते ? यही तो कारण था कि इस शास्त्रार्थ के बाद भी अनेक बार ऋषि काशी गए और हर बार उन्होंने वही चुनौती दी, पर कभी कोई पण्डित मूर्तिपूजा को वेदानुमोदित सिद्ध करने सामने नहीं आया। ऐसी स्थिति में वही हुआ, जिसकी सम्भावना थी और जिसकी पण्डितों ने पहले से ही तैयारी कर रखी थी। जब वे ऋषि की चुनौती का उत्तर नहीं दे सके तो कोलाहल करते हुए उठकर खड़े हो गए और उनके अनुयायियों ने दयानन्द पर ईंटों-पत्थरों की वर्षा शुरू कर दी। यदि उस समय पुलिस-अधिकारी सजग न रहते तो सम्भव है कि उपद्रवियों की भीड़ 'शेषं कोपेन पूरयेत्' की उक्ति के अनुसार ऋषि को 'संगसार' ही कर देती। इस दिन की इस घटना के लिए बाद में स्वयं काशी-नरेश ने ऋषि के पुनः काशी आने पर अपने प्रासाद में बुलाकर उनके समक्ष गम्भीर खेद प्रकट किया था और ऋषि को शॉल आदि से सम्मानित किया था।

इस शास्त्रार्थ की सारे देश में चर्चा हुई। जिस स्थान पर यह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था—आनन्द बाग में—अब वहाँ अमेठी-नरेश राजा रणञ्जयसिंह ने, जो कभी उत्तर प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान भी रहे थे, एक शिलालेख स्थापित करवा दिया है जिस पर निम्न श्लोक अंकित हैं—

शास्त्रद्वन्द्वांकचन्द्राब्दे वैक्रमे कार्तिके सिते।
भौमे मासि तिथौ दिव्ये मूर्तिपूजाविनिर्णये॥
अमेठ्यानन्दबागेऽस्मिन् काशिराजसभापतौ।
जनौघे विपुले वादः प्रवृत्तः श्रुतितत्परः॥
विशुद्धानन्दसुप्रज्ञैर्बालशास्त्र्यादिभिर्बुधैः ;
शास्त्रार्थमकरोत् साकं दयानन्दो यतिर्महान्॥
भगवान्बख्शभूपाल - वचनात् तत्सुतः सुधीः।
अलेखयच्छिलालेखं श्रीमान् राजा रणञ्जयः॥

—अर्थात् १९२६ विक्रमी कार्तिक शुक्ला द्वादशी मंगलवार के दिन मूर्तिपूजा-सम्बन्धी निर्णय करने हेतु अमेठी राज्य के आनन्द बाग में काशीराज के सभापतित्व में विशाल समुदाय के समक्ष वेद पर आधारित शास्त्रार्थ हुआ। विशुद्धानन्द तथा बालशास्त्री जैसे लोकविश्रुत विद्वानों के साथ महान् यति दयानन्द ने यह शास्त्रार्थ किया। राजा भगवान्बख्श के आदेश से उनके बुद्धिमान् पुत्र राजा रणञ्जयसिंह ने इस शास्त्रार्थ की स्मृति में यह शिलालेख लगवाया।

१८७० में प्रयाग में कुम्भ-मेला लगा तो वहाँ ऋषि दयानन्द की रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट हुई। उन्होंने ऋषि से कलकत्ता आने

का आग्रह किया क्योंकि काशी-शास्त्रार्थ की हवा वहाँ भी पहुँच चुकी थी और कलकत्ता के ब्रह्मसमाजी ऋषि दयानन्द की इस मान्यता से बहुत प्रभावित हुए थे कि मूर्तिपूजा वेदानुमोदित नहीं है। वे भी मूर्तिपूजा तथा अन्य कुरीतियों का खंडन किया करते थे, परन्तु उनके पास वेदादि शास्त्रों का पाण्डित्य नहीं था। उस समय कलकत्ता भारत की राजधानी थी, और अंग्रेजी शिक्षा के कारण शिक्षित वर्ग में समाज-सुधार की जो नई चेतना जागृत हो रही थी उसका केन्द्र भी वही थी। उस समय भारत-भर के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों का नेतृत्व जैसे बंगाल के इन मनीषियों के ही हाथ में था।

कलकत्ता-प्रवास

ऊपर हमने गंगा के जिस विशाल मैदान और सबसे अधिक घनी आबादी वाले प्रदेश की चर्चा करते हुए उसे 'भारत की आत्मा' कहा है, उसमें मुख्य रूप से आधुनिक उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल (अविभाजित) आते हैं; और गौण रूप से उनके एकदम साथ लगने वाले अन्य प्रान्त। ऋषि काशी-शास्त्रार्थ के बाद पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के विभिन्न भागों को पादाक्रान्त करते हुए १६ दिसम्बर १८७२ को कलकत्ता पहुँचे और वहाँ लगभग चार मास अर्थात् १६ अप्रैल १८७३ तक रहे। ऋषि के जीवन में और आर्यसमाज के इतिहास में इस कलकत्ता-प्रवास का बहुत महत्त्व है।

कलकत्ता में उस समय जितने प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे उनमें से शायद ही कोई बचा हो जिसकी ऋषि से भेंट न हुई हो। ऋषि भी नए युग की इस नई विचारशील पीढ़ी के नवनीत से मिलकर अवश्य प्रभावित हुए होंगे। विचारों की नवीनता और क्रान्तिकारिता के अतिरिक्त ऋषि की कुछ ऐसी अद्वितीय विशेषताएँ थीं जिनसे जन-सामान्य के साथ बुद्धिजीवी भी आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकते थे। यदि जन-सामान्य उनकी तेजस्वी आकृति, सुदीर्घ और दृढ़ देहयष्टि तथा निर्भीकता देखकर उनकी ओर खिचा चला आता था तो शिक्षित तथा बुद्धिजीवी लोग संस्कृत के एक धुरन्धर पण्डित के मुख से सनातनी अन्ध-परम्परा के विपरीत अत्यन्त आधुनिक विचारों का प्रतिपादन—सो भी वेदादि शास्त्रों के आधार पर, देखकर दंग रह जाते। उनकी तर्क-प्रवणता और प्रत्युत्पन्नमतिता तो दिग्गजों के भी छक्के छुड़ा देती।

कलकत्ता में जिन प्रमुख व्यक्तियों से ऋषि की भेंट हुई उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—बाबू केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बाबू देवेन्द्रनाथ ठाकुर, बैरिस्टर उमेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय, बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन, पं० सत्यव्रत सामश्रमी, द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, समुद्रनाथ ठाकुर, त्रिदेव भट्टाचार्य, कृष्णदास पाल, राजा राजेन्द्रनाथ मलिक, महाराज जितेन्द्रनाथ ठाकुर, उत्तरपाड़ा के प्रसिद्ध

जमींदार जयकृष्ण मुखोपाध्याय, भूदेव मुखोपाध्याय, राजेन्द्रपाल मित्र, राजनारायण वसु, रामतनु लाहिड़ी, प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रमेशचन्द्र दत्त आई० सी० एस०, डॉ० महेन्द्रलाल सरकार, प्रतापचन्द्र मजूमदार, उमेशचन्द्र मित्र, आचार्य सूर्यकान्त चौधरी, रजनीकान्त गुप्त, यतीन्द्रमोहन ठाकुर, द्वारकानाथ गांगुलि, गंगाधर कविराज, अक्षयकुमार दत्त, महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि। ये लोग उस समय के बुद्धिजीवी, समाज-सुधारक, राष्ट्रहितचिन्तक सम्भ्रान्त वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। ऋषि के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर ही इन लोगों ने ऋषि का पूर्व-चरित्र जानने की इच्छा प्रकट की। तब आचार्य केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी ओर से कुछ ऐसे संस्कृतज्ञ पण्डितों को लेखक के रूप में नियुक्त कर दिया जो ऋषि के उपदेशों को यथाशक्ति लिपिबद्ध करते रहें।

ऊपर जिस कलकत्ता-कथ्य की चर्चा हुई है वह इसी समय, २२ से ३१ मार्च १८७३ तक एकान्त में ग्रन्थ-प्रणयन के रूप में उल्लिखित हुआ है। सार्वजनिक रूप से यह घोषित हुआ था कि ऋषि दस दिन तक मौन धारण कर एकान्तवास करेंगे। यह मौन और एकान्तवास इसी ग्रन्थ-प्रणयन के निमित्त था, जिसे इतने दशाब्दों बाद श्री पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री ने वर्षों तक परिश्रम करके पुर्जे-पुर्जे बटोरकर 'ऋषि दयानन्द की अज्ञात जीवनी' के नाम से संकलित किया था और अपनी ओर से क्रमबद्ध रूप दिया था।

राष्ट्रीय चिन्तन

ऋषि के जीवन में और आर्यसमाज के इतिहास में यदि हमने इस कलकत्ता-प्रवास को महत्त्वपूर्ण कहा है तो उसमें एक कारण यह भी है कि इस समय राष्ट्रीयता के नाम से हम जिस आधुनिक राष्ट्र-राज्य की स्थापना की कल्पना करते हैं, उस कल्पना को कदाचित् सर्वप्रथम कलकत्ता के इन मनीषियों ने ही हृदयंगम किया था और वे उस दिशा में निरन्तर चिन्तन करते रहते थे। उसी राष्ट्रीयता के स्वरूप के निखार के लिए जहाँ समाज को सशक्त बनाने के निमित्त वे आधुनिक शिक्षा पर और सामाजिक कुरीतियों के तथा अन्धविश्वासों के निवारण पर बल देते थे, वहीं राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी और देवनागरी के महत्त्व को भी भलीभाँति समझने लगे थे। शारदाचरण मित्र नामक बंगाली विद्वान् ने 'देवनागर' नामक पत्र निकालकर भारत की समस्त भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि अपनाने का आन्दोलन प्रारम्भ किया था और इसीलिए ब्रह्मसमाज के अन्यतम नेता बाबू केशवचन्द्र सेन ने ऋषि को परामर्श दिया था कि यदि आप अपने विचारों को भारत के जन-जन तक पहुँचाना चाहते हैं तो संस्कृत में भाषण देना छोड़कर हिन्दी में भाषण देना प्रारम्भ कीजिए। साथ ही यह परामर्श दिया था कि आपको जंगलों,

पर्वतों और एकान्त को छोड़कर अब शहरों में और बस्तियों में जाकर भी अपने विचारों का प्रचार करना चाहिए; और जब बस्तियों में जाना है तो केवल कौपीन-धारण छोड़कर संन्यासी के सामान्य वस्त्र धारण करें तो अच्छा रहेगा। सदाशयता और राष्ट्रीयता की भावना से दिये गए इन परामर्शों को उसी सदाशयता और राष्ट्रीयता की भावना से ऋषि ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। गुजराती भाषा-भाषी, हिन्दी से सदा अनभिज्ञ और संस्कृत के पण्डित ने अपनी मातृभाषा गुजराती और पाण्डित्य की भाषा संस्कृत के मोह को छोड़कर, उसके बाद से न केवल हिन्दी में भाषण देना प्रारम्भ कर दिया, प्रत्युत अपने सब ग्रन्थ भी हिन्दी में लिखे। इतना ही क्यों, उसने यह भी घोषणा की : "मेरी आँखें उस दिन को देखने के लिए तरसती हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक समग्र भारतवर्ष हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनावेगा।" यह थी संकीर्ण प्रादेशिक चिन्तन से ऊपर उठकर राष्ट्रीय चिन्तन की विजय, जिस चिन्तन को हमारे राष्ट्रीय नेता आज तक क्रियान्वित नहीं कर पाए हैं।

अब तक ऋषि का धर्म-सम्बन्धी चिन्तन प्राचीन वैदिक धर्म की पुनःस्थापना तथा हिन्दू समाज में धर्म के नाम पर फैली बुराइयों को उखाड़ फेंकने तक सीमित रहा था। परन्तु भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता में आकर और वहाँ के मनीषियों से सम्पर्क के बाद उनके सामने यह भी स्पष्ट हो गया कि वैदिक धर्म की वास्तविक विजय तब तक सम्भव नहीं जब तक उसके प्रचलित रूप पर ईसाइयों और मुसलमानों के आक्रमण की कार्य-प्रणाली को समझकर उसका प्रतिकार न किया जाए। बंगाल ही प्रारम्भ में ईसाई प्रचारकों की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रहा था और राजा राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन जैसे प्रबल समाज-सुधारक भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके थे। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह आदि का विरोध करते हुए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे व्यक्ति जिस प्रकार नारी-शिक्षा, जाति-पाँति-उन्मूलन और विधवा-विवाह आदि के पक्ष में आन्दोलन कर रहे थे, उससे भी वे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। इसके अलावा इससे पूर्व आर्ष विद्या के प्रचार के लिए वे केवल वैदिक पाठशालाओं की स्थापना पर जोर दिया करते थे, पर कलकत्ता आकर शिक्षा के नए आयामों की ओर भी उनका ध्यान गया और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को शिक्षा में शामिल करने की उपयोगिता समझ में आई।

और सबसे बड़ी बात यह कि कलकत्ता में ब्रह्मसमाजियों के सम्पर्क और उनकी संस्थाओं के अवलोकन से ऋषि के मन में धर्म-प्रचार, कुरीति-निवारण और सामाजिक उत्थान को सुसंगठित रूप देने के लिए एक अलग संगठन की उपयोगिता भी प्रतीत हुई। इसलिए यह मानना होगा कि इसके दो वर्ष बाद आर्यसमाज के रूप में उन्होंने वैदिक धर्म, आर्य संस्कृति और देश के पुनरुत्थान के निमित्त जिस आन्दोलन को जन्म दिया उसकी रूपरेखा, संगठन का ढाँचा, कार्यक्रम तथा प्रचार-

प्रणाली बहुत-कुछ ब्रह्मसमाज के अनुकरण पर ही तैयार हुई थी। 'आर्यसमाज' के नामकरण में भी 'समाज' शब्द संभवतः 'ब्रह्मसमाज' शब्द से अभिप्रेरित है। कलकत्ता के इन मनीषियों से मिलकर शिक्षा, इतिहास, साहित्य, पुरातत्त्व और आधुनिक विज्ञान-सम्बन्धी क्षेत्रों में होने वाली नई गतिविधियों से भी परिचय हुआ। इस प्रकार उनका यह कलकत्ता-प्रवास उनकी भावी कार्य-प्रणाली को निश्चित करने की दृष्टि से बहुत उपयोगी रहा।

कलकत्ता में जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में ऋषि आए, वे उस युग में अपने-अपने क्षेत्रों के प्रसिद्ध व्यक्ति थे। उदाहरणार्थ, उमेशचन्द्र बनर्जी भारतीय ईसाई थे और सन् १८८५ में अ० भा० राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष बने थे। अक्षयकुमार दत्त सम्पादक, पत्रकार और लेखक थे। राजनारायण वसु प्रखर राष्ट्रवादी, अनेक ग्रन्थों के लेखक और योगिराज अरविन्द घोष के नाना थे। यतीन्द्रमोहन ठाकुर बंगाल के गवर्नर की कौंसिल के सदस्य थे। भूदेव मुखोपाध्याय प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री थे और हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्षपाती थे। राजा राजेन्द्रलाल मित्र रॉयल एशियाटिक सोसायटी के अध्यक्ष और प्रसिद्ध प्राच्य-विद् थे। रमेशचन्द्र दत्त प्रसिद्ध इतिहास-लेखक और साहित्यकार थे और कांग्रेस के अध्यक्ष बने थे। रमेशचन्द्र मित्र कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश थे। प्रतापचन्द्र मजूमदार शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में ब्रह्मसमाज के प्रवक्ता बने थे।

इस कलकत्ता-प्रवास के प्रसंग को हम श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक संस्मरण से समाप्त करना चाहते हैं। ११ जनवरी, १८७३ को श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर के जोड़ासांको-स्थित निवास-स्थान पर ब्रह्मसमाज का माघोत्सव मनाया गया। उसमें ऋषि दयानन्द को सानुरोध निमन्त्रित किया गया। ब्रह्मसमाज के गण्यमान्य व्यक्तियों की उपस्थिति में ऋषि का धर्मोपदेश हुआ। माघोत्सव की समाप्ति पर देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने ऋषि से अपने ही वैभवपूर्ण प्रासाद में निवास का आग्रह किया, पर ऋषि को वैभव रुचिकर नहीं था, इसलिए वे अपने ही निवास-स्थान पर लौट आए। रवि बाबू अपने शब्दों में लिखते हैं—

"स्वामी दयानन्द ब्रह्मसमाज के माघोत्सव पर हमारे घर आए थे। ब्रह्मसमाज के करीबन सभी नेता वहाँ उपस्थित थे। मेरे पिताजी ने स्वामी जी का खूब स्वागत-सत्कार किया और उन्हें प्रासाद की ऊपरी मंजिल के कमरे में ठहराया। स्वामी जी के उज्ज्वल चक्षु, सहास्य मुख, तेजोमय वार्तालाप, सरल और मधुर आचरण से सभी लोग मुग्ध हो गए। हम सभी भाइयों ने उनका पादस्पर्श करके प्रणाम किया था। उन्होंने हम सबको आशीर्वाद दिया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, अक्षयकुमार दत्त, राजनारायण वसु और हेमचन्द्र चक्रवर्ती से उनका वेद और ब्रह्मसमाज-विषयक वार्तालाप हुआ। पिताजी के आदेशानुसार हम कई भाइयों ने सम्मिलित कण्ठ से वेद और उपनिषदों के कई मन्त्र स्वामी जी को सुनाए। स्वामी जी इससे

बहुत प्रसन्न हुए। स्वामी जी ने हमारे घर में केवल एक गिलास दूध पीया था।" २१ फरवरी, १९३५ को जब रवि बाबू ने लाहौर में डी० ए० वी० कॉलेज के छात्रों को सम्बोधित किया था, तब भी इससे मिलता-जुलता संस्मरण सुनाया था।

कलकत्ता के बाद

कलकत्ता-प्रवास के बाद दयानन्द बर्दवान और हुगली होते हुए भागलपुर, पटना, छपरा, डुमरांव और आरा आदि स्थानों का भ्रमण करते रहे। वहाँ व्याख्यान देते रहे और पौराणिक पण्डितों से शास्त्रार्थ भी करते रहे। उसके बाद इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद और कासगंज की यात्रा में भी यही क्रम जारी रहा। सन् १८७३ के दिसम्बर मास में अलीगढ़ के कलक्टर राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० ने उन्हें अलीगढ़ आमन्त्रित किया। अलीगढ़ में ही ऋषि की अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संस्थापक और प्रगतिशील मुस्लिम नवयुवकों के प्रेरणा-पुरुष सर सैयद अहमद खाँ से भेंट हुई। अलीगढ़ में सर सैयद के निवास-स्थान पर भी ऋषि का भाषण हुआ। राजा जयकृष्णदास ने ऋषि से आग्रह किया कि वे अपने उपदेशों और विचारों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कर दें तो उससे दूरस्थ जनता भी लाभान्वित होगी।

तदनन्तर हाथरस, मुरसान, वृन्दावन, मथुरा, इलाहाबाद होते हुए, वहाँ व्याख्यान देते हुए सन् १८७४ के मध्य में वे पुनः काशी पहुँचे और सत्यार्थप्रकाश बोलकर लिखवाना प्रारम्भ किया। बनारस में ही उन्होंने पहला हिन्दी भाषण दिया। बनारस से ही सत्यार्थप्रकाश का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी अनुपस्थिति के कारण और हिन्दी का पूर्ण अभ्यास न होने से कई त्रुटियाँ रह गईं, जिसे देखते हुए ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश का दूसरा संस्करण स्वयं अपने हाथ से उदयपुर में बैठकर लिखा। यही दूसरा संस्करण इस समय सर्वत्र मान्य है।

सन् १८७४ के उत्तरार्ध में जबलपुर और नासिक आदि स्थानों पर होते हुए, व्याख्यान देते और शास्त्रार्थ करते हुए बम्बई वालों के आग्रह से बम्बई पहुँचे। उस समय गुजरात और महाराष्ट्र दोनों बम्बई प्रान्त में ही शामिल थे। बम्बई में उनकी प्रार्थनासमाज के नेताओं से भेंट हुई। वहाँ उन्होंने वैष्णव मत और वल्लभाचार्य के मत का जबरदस्त खण्डन किया। बम्बई के अधिकांश प्रतिष्ठित सेठ-साहूकार वल्लभ-मतानुयायी थे। उन्हीं लोगों में से अनेक वल्लभमतानुयायी, स्वामी जी के व्याख्यानों को सुनकर उनके भक्त बन गए। बम्बई में ही उन्होंने 'वल्लभाचार्य मत खण्डन' पुस्तक लिखी, अद्वैत मत का खण्डन किया, मूर्तिपूजा के विरोध में भाषण दिये, ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का भाष्य प्रकाशित किया और गुजराती तथा मराठी-अनुवाद सहित उसे अनेक विद्वानों के पास अवलोकनार्थ भेजा। परन्तु ग्रिफिथ जैसे आंगल और विशुद्धानन्द जैसे पौराणिक विद्वान् उससे सहमत नहीं हो सके।

'वेदान्तिध्वान्त निवारण', 'पंच महायज्ञ विधि' और 'संस्कारविधि' बम्बई में ही लिखी गई। उनके विरोधी उनको मारने की धमकी देने लगे। कुछ लोगों ने अंग्रेज अधिकारियों का दयानन्द को कोपभाजन बनाने के लिए उनके बारे में यह प्रचार भी किया कि १८५७ के विद्रोह में दयानन्द ने विद्रोह के नेता नाना साहब का साथ दिया था। (१८५७ के स्वातन्त्र्य-समर में ऋषि के सक्रिय योगदान का यह भी एक प्रमाण है कि उस समय भी कुछ लोगों को इस बात की जानकारी थी।) तभी ऋषि के प्रशंसकों और भक्तों ने उनसे आग्रह किया कि अपने मन्तव्यों के प्रचार के लिए वे बाकायदा एक संगठन की स्थापना करें।

आर्यसमाज की स्थापना

ज्यों-ज्यों वल्लभ-मतानुयायी अपने स्वार्थों पर आघात होते देख तिलमिलाने लगे, त्यों-त्यों उनके दुराचार और अनाचार के भण्डाफोड़ से विचलित होकर ऋषि के भक्त बने वल्लभ-मतानुयायियों ने ही ऋषि से अलग संगठन की स्थापना का अधिकाधिक आग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। पर ऋषि को कोई उतावली नहीं थी, क्योंकि कलकत्ता में वे ब्रह्मसमाज का विघटन देख चुके थे। वे अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, नडियाद, राजकोट आदि गुजरात के स्थानों की यात्रा पर चल पड़े।

वहाँ से लौटकर सन् १८७५ के जनवरी मास में वे पुनः बम्बई आए तो आर्य-समाज की स्थापना पर सक्रिय रूप से विचार प्रारम्भ हुआ। एक बार प्रार्थना-समाज को ही आर्यसमाज का रूप देने की चर्चा भी चली, पर वह भी कृतकार्य नहीं हुई। आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना से पूर्व ऋषि ने वैसा आग्रह करने वालों के समक्ष अपनी स्थिति मार्मिक शब्दों में स्पष्ट की—

"भाई, हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। मैं तो वेद के अधीन हूँ और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई-कई बात में किसी-किसी में कुछ-कुछ भेद है, सो विचार करने से आप ही छूट जाएगा। मैं संन्यासी हूँ, और मेरा कर्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ इसके बदले जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करता रहूँ। मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूँ। चाहे कोई मेरी स्तुति करे या निन्दा करे, मैं अपना कर्तव्य समझ के धर्म-बोध कराता हूँ। कोई चाहे माने वा न माने, इसमें मेरी कोई हानि या लाभ नहीं है।"

जब एक सज्जन ने पूछा कि यदि हम समाज की स्थापना करें तो इसमें कोई हानि है क्या? तब स्वामी जी ने कहा

"आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, समाज स्थापित कर लो। इसमें मेरी कोई मनाई नहीं है। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय हो जाएगा। मैं तो जैसा अन्य को उपदेश देता हूँ वैसा ही आपको भी करूँगा, और इतना लक्ष्य में रखना कि मेरा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है,

और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे यदि कोई मेरी गलती आगे पाई जाए, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसी को भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जाएगा और इसी प्रकार से 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' करके इस भारत में नाना प्रकार के मत-मतान्तर प्रचलित होके, भीतर-भीतर दुराग्रह रखके धर्मान्ध होके लड़कर नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है, इससे यह भी एक मत बढ़ेगा। मेरा अभिप्राय तो यह है कि इस भारतवर्ष में नाना मत-मतान्तर प्रचलित हैं वो भी, वे सब वेदों को मानते हैं। इससे वेदशास्त्र-रूपी समुद्र में यह सब नदी नाव पुनः मिला देने से धर्म-ऐक्यता होगी। और धर्म-ऐक्यता से धार्मिक और व्यावहारिक सुधारणा होगी और इससे कला-कौशल आदि सब अभीष्ट सुधार होके मनुष्यमात्र का जीवन सफल होके अन्त में अपना धर्म-बल से अर्थ, काम और मोक्ष मिल सकता है।"

('मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास' पृष्ठ ८-९)

इन दोनों उद्धरणों से ऋषि का मनोगत भाव स्पष्ट हो जाता है। इसी भावना के अनुसार १० अप्रैल, १८७५ (चैत्र शुक्ला पंचमी, संवत् १९३२ विक्रमी, शनिवार) को गिरगाँव मुहल्ले में प्रार्थनासमाज के निकट एक पारसी सज्जन डॉ० माणेक जी अदेर जी की वाटिका में सायंकाल साढ़े पाँच बजे एक सभा में विधिवत् आर्यसमाज की स्थापना की गई। प्रारम्भ में आर्यसमाज के २८ नियम स्वीकार हुए जो बाद में लाहौर में संशोधित होकर दस रह गए और इस समय समस्त आर्य जगत् में तथा अन्यत्र वही 'आर्यसमाज के दस नियम' के नाम से प्रचलित और मान्य हैं।

लोकतन्त्रीय रूप

आर्यसमाज की स्थापना के साथ ही उसके अधिकारियों का निर्वाचन हुआ और आरम्भिक सदस्यों की संख्या सौ रही। ऋषि दयानन्द ने, जिसने आजन्म गुरुडम, अवतारवाद और पैगम्बरवाद का विरोध किया, स्वयं आर्यसमाज का संरक्षक बनना भी स्वीकार नहीं किया और अपनी गिनती सामान्य सदस्य के रूप में की एवं रजिस्टर में सदस्य-सूची में ही अपना नाम अंकित करने की अनुमति दी। जैसे राजनीति में अधिनायकवाद या तानाशाही है, वैसे ही धार्मिक क्षेत्र में गुरुडम या अवतारवाद है। इससे जो दोष सम्प्रदायों में पैदा हो जाते हैं उनका उदाहरण इस्लामी फतवों में या स्वर्णमन्दिर के हुकमनामों में देखा जा सकता है। सम्प्रदायों में आपसी विद्वेष का सबसे बड़ा कारण भी यही एकाधिकारवाद है। जो भारत सदियों की दासता के कारण अपना स्वाभिमान खो चुका था, उसके लिए उस युग में लोकतन्त्रीय पद्धति पर आधारित किसी संगठन की कल्पना करना भी अवश्य था। ऐसे समय देश की धार्मिक और सामाजिक उन्नति के लिए तथा मानव-मात्र के कल्याण की कामना से स्थापित आर्यसमाज का लोकतान्त्रिक संविधान ऋषि की

अपूर्व दूरदर्शिता का परिचायक है।

लोकतन्त्र की प्रणाली में भी कमियाँ सम्भव हैं, परन्तु मानव-मात्र की गरिमा जैसी लोकतन्त्र में सुरक्षित है, वैसी किसी अन्य प्रणाली में नहीं। ऋषि दयानन्द मानव की उसी गरिमा के पुरस्कर्ता थे, उसकी निष्पक्ष बुद्धि पर विश्वास करते थे और इसीलिए उन्होंने यहाँ तक कह दिया—"मैं कोई सर्वज्ञ नहीं हूँ। मुझसे भी गलती हो सकती है। आप लोग बुद्धिपूर्वक विचार करके उसमें सुधार कर सकते हैं।" इसमें असली प्रयोजन तो मानव-कल्याण है, अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि का उपाय है, और यह भावना है—

यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति मे मतम्।

—जिससे प्राणियों का अधिक-से-अधिक कल्याण हो, मेरी दृष्टि में वही सत्य है। आर्यसमाज की नींव में इसी सत्य की उपासना है। सत्य की यही मशाल ऋषि दयानन्द आर्यसमाजियों को विरासत में दे गए हैं और एक तरह से कह गए हैं—

अब तुम्हारे हवाले वतन साथियो!

इस विरासत को सँभालकर रखना प्रत्येक आर्यसमाजी का कर्तव्य है।

सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् ऋषि के कार्यकलाप का विवरण इस लेख की सीमा के बाहर है। अन्त में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सतत विकासशील, सतत खोजी और देश-हित की कामना से सतत अनुप्राणित ऋषि के जीवन का सन् १८५७ से लेकर सन् १८७५ तक का यह काल इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसको जाने बिना न ऋषि के व्यक्तित्व का सही आकलन किया जा सकता है, न उनके कर्तृत्व का।

('आर्यसन्देश' ऋषिबोधांक, २४ फरवरी, १९९०)

आर्यसमाज की स्थापना का महत्त्व

अब से एक सौ चौदह वर्ष पूर्व सन् १८७५ (संवत् १९३२ विक्रमी) में चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को आर्यसमाज की स्थापना हुई थी। अन्य इतिहासकार कदाचित् इस छोटी-सी घटना को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना महत्त्व हमारी दृष्टि में दिया जाना चाहिए। इसका मुख्य कारण यह है कि अधिकांश इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं को पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण से देखने के आदी हो गए हैं। खासतौर से अंग्रेजी भाषा में लिखने वाले इतिहासकार हिन्दी-प्रधान और राष्ट्रीयता-प्रधान आन्दोलनों को आँखों से ओझल करने के अभ्यस्त हैं।

सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति के विफल कर दिए जाने के बाद देश में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं। शासकों ने तो उसके बाद अपना सारा जोर इस बात पर लगाया कि किसी तरह भारतवासियों को बौद्धिक और मानसिक दृष्टि से इतना गुलाम बना दिया जाए कि वे अंग्रेजों के राज को और अंग्रेजी को अपने लिए वरदान समझने लगें। दूसरी ओर राष्ट्रभक्त मनीषियों ने राष्ट्र को समाज-सुधार और राजनैतिक चैतन्य की दृष्टि से आगे बढ़ाने के लिए अनेक छोटे-मोटे आन्दोलन भी शुरू किये। इन आन्दोलनों को मुख्य रूप से ब्राह्म समाज, प्रार्थना समाज और देव-समाज नामक आन्दोलनों का नाम दिया गया। ये तीनों देश के बुद्धिजीवियों के द्वारा संचालित सुधारवादी आन्दोलन थे, परन्तु इनका क्षेत्र बहुत सीमित था। ब्राह्म समाज देश के पूर्वी भाग तक, प्रार्थना समाज देश के पश्चिमी भाग तक और देव समाज उत्तर भारत के बहुत थोड़े-से भाग तक सीमित होकर रह गए। ये आन्दोलन न केवल स्थान की दृष्टि से सीमित थे, अपितु अपनी विचारधारा और अंग्रेजी-शिक्षित बुद्धिजीवियों की विशेष मान्यताओं से बँधे होने के कारण जन-साधारण को प्रभावित करने में असमर्थ थे। ये आन्दोलन सामाजिक कुरीतियों के निवारण के लिए तो किसी हद तक सजग थे, परन्तु उनकी यह सजगता पश्चिमी विचारों से प्रभावित थी। इसीलिए वे भारतीय अस्मिता के सशक्त वाहन नहीं बन सके।

उक्त तीनों आन्दोलन आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व विद्यमान थे। प्रार्थना-समाज पश्चिमी भारत में ब्राह्म समाज का ही प्रतिरूप था। उसकी देखादेखी ही बाद में उत्तर भारत में देवसमाज पनपा।

लगभग उन्हीं वर्षों में ऋषि दयानन्द भी भारत की तात्कालिक दुर्दशा से

मर्माहत होकर तीव्र मानसिक मन्थन से गुजर रहे थे। उनके मन में कैसा मन्थन रहा होगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। जो व्यक्ति भरी जवानी में अहर्निश ज्ञान की खोज में देश के विभिन्न भू-भागों का परिभ्रमण करता रहता है, और उसके इस परिभ्रमण से न सघन वन छूटते हैं, न हिमाच्छादित पर्वत छूटते हैं और न ही संतप्त मरुस्थल छूटते हैं—उस अवधूत संन्यासी की मानसिक बेचैनी की कल्पना तो करिये ! स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने इस अवधूत संन्यासी से भेंट और साक्षात्कार के पश्चात् अपने हृदय का उद्‌गार इस रूप में प्रकट किया था — "इस अद्‌भुत व्यक्ति से भेंट होने के पश्चात् मुझे तो ऐसा लगा जैसे कि इसके हृदय में दिन-रात राष्ट्रप्रेम की ज्वाला धधकती रहती है।" यह उद्‌गार ऋषि की अन्तर्-वेदना की एक झाँकी देने के लिए पर्याप्त है। सचमुच ही उस युग में इस अवधूत संन्यासी को छोड़कर कोई और ऐसा विद्वान्, मनीषी और समाज-सुधारक दृष्टि-गोचर नहीं होता जो सचमुच ही दिन-रात राष्ट्र की दुर्दशा और परवशता से चिन्तित हो और उसको स्वतन्त्र तथा उसके अतीत गौरव के अनुकूल उसे सर्व-शिरोमणि देखने को लालायित हो।

किसी लक्ष्य के लिए लालायित होना अलग बात है, किन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई रचनात्मक उपाय खोज पाना सहज नहीं होता। उस दुष्कर कार्य को सहज बनाने के लिए जो दृढ़ आधार हमें चाहिए—शारीरिक भी, बौद्धिक भी और मानसिक भी—वह उस युग के अन्य किसी नेता में दिखाई नहीं देता। ऋषि दयानन्द ने न केवल सकल देश का परिभ्रमण किया, जहाँ कहीं पता लगा कि अमुक विद्वान्, ज्ञानी और योगी विद्यमान है, उसकी सेवा में उपस्थित होकर निरन्तर विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया और योग के विविध अंगों का अभ्यास किया, प्रत्युत साथ ही उस अद्‌भुत संन्यासी को इस प्रकार घूमते-घूमते देश की दुर्दशा का जो साक्षात्कार हुआ, उससे वह जिस रचनात्मक खोज में लगा था उसके लिए और अधिक व्यग्र हो उठा। ऊपर जिन आन्दोलनों की हमने चर्चा की है उन आन्दोलनों की वैचारिक और भारतीय अस्मिता-सम्बन्धी दुर्बलताओं का भी उसने पर्यालोचन किया और अन्त में अपने समस्त अभियान के परिणामस्वरूप उसने आर्यसमाज की स्थापना करके उसके माध्यम से अपना लक्ष्य प्राप्त करने का स्वप्न देखा।

न केवल स्वराज्य, प्रत्युत भारत के स्वधर्म, स्वभाषा, स्वसंस्कृति और स्व-साहित्य की पहचान ही आर्यसमाज की पहचान है। भारत जिस किसी माध्यम से अपने 'स्व' को, और अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को व्यक्त कर सके, वही तो उसकी अस्मिता है ! उस अस्मिता का मूल वह वैदिक विचारधारा है जो सृष्टि के आदि से किसी-न-किसी तरह निरन्तर प्रवाह के रूप में चलती चली आई है। ऋषि दयानन्द ने इस प्रवाह के उत्स के रूप में वेद को पहचाना और आर्यसमाजरूपी

भवन की दृढ़ आधारशिला उसी अक्षय ज्ञाननिधि की शिला पर स्थापित की।

सन् १८५७ से लेकर सन् १८७५ तक का जो रिक्त स्थान है, उसकी सही पूर्ति का माध्यम यदि किसी ने सुझाया तो वे ऋषि दयानन्द थे और वह माध्यम भी आर्यसमाज था। आर्यसमाज का यह आन्दोलन किसी वर्ग-विशेष, किसी सम्प्रदाय-विशेष और किसी स्थान-विशेष से सम्बद्ध नहीं था, बल्कि यह सर्वथा असाम्प्रदायिक, विशुद्ध राष्ट्रीय, अखिल भारतीय मंच था जिसमें भारत के 'स्व' की सही रूप में अभिव्यक्ति हुई थी। आर्यसमाज की स्थापना के दस वर्ष बाद सन् १८८५ में अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना हुई। परन्तु इस कांग्रेस को अखिल भारतीय मंच बनने में कम-से-कम ५० वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। कांग्रेस की स्थापना के ५० वर्ष बाद तक भी अगर राष्ट्र की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और शैक्षणिक चेतना का कोई एकमात्र सबसे सशक्त आधार था तो वह केवल आर्यसमाज ही था। सन् १९२० के पश्चात् कांग्रेस ने जो अखिल भारतीय मंच का रूप धारण किया, वह कथा अलग है और उसकी दिशा भी अलग है। परन्तु आर्यसमाज पहले स्वराज्य, और अब सुराज्य के लक्ष्य-माध्यम से भारत की अस्मिता को उजागर करने के लिए प्रतिबद्ध है। वह लक्ष्य अभी तक अप्राप्त है। एक तरह से कहा जा सकता है कि स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस तो लक्ष्यविहीन हो गई, इसलिए निरुपयोगी भी हो गई। परन्तु आर्यसमाज की चुनौतियाँ ज्यों-की-त्यों कायम हैं, जैसे परतन्त्र भारत में, वैसे ही स्वतन्त्र भारत में भी।

हमारे बार-बार भारतीय अस्मिता की बात पर जोर देने से पाठक यह न समझें कि यह किसी संकुचित राष्ट्रवाद का प्रचार है, बल्कि भारतीय अस्मिता ही मानवीय अस्मिता की असली संदेशवाहिका है। इसलिए 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' को चरितार्थ करने के लिए सबसे पहले इकाई के रूप में हमें भारत को ही परीक्षण-स्थली बनाना पड़ेगा। इस महान् कार्य की पूर्ति की आशा सिवाय आर्यसमाज के, किसी अन्य संस्थात्मक आन्दोलन से नहीं की जा सकती।

इस सन्दर्भ को समझे बिना आर्यसमाज की स्थापना के महत्त्व को समझना कठिन होगा।

('आर्यजगत्' २ अप्रैल, १९८९ का सम्पादकीय)

आर्यसमाज की विचारधारा

संसार में विभिन्न मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों की कोई कमी नहीं है। परन्तु आर्यसमाज न कोई मत है, न कोई सम्प्रदाय। जब कोई अनपढ़ देहाती यह कहता है कि "हिन्दू और मुसलमान नाम तो सदा से ही सुनते आए हैं, किन्तु 'आर्या' और 'आर्यासमाज' का नाम पहले कभी नहीं सुना"—तब यह उसकी अज्ञता का ही द्योतक होता है। 'आर्य' शब्द उतना ही पुराना है जितना वेद; और उन दोनों का अविना-भाव सम्बन्ध है। तथापि 'आर्यसमाज' शब्द अपेक्षाकृत नया है। इसलिए प्रत्येक के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'आर्यसमाज' की स्थापना की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

सच तो यह है कि आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कोई नई बात नहीं कही, प्रत्युत ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त प्राचीन ऋषि-महर्षि जो भी कुछ कहते आए, काल-क्रम से उस पर पड़े आवरण को हटाकर उन्होंने उसी उद्‌घोष को दुहराया और वेद-प्रतिपादित, शाश्वत, सत्य सनातन धर्म की रक्षा के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना की। इस दृष्टि से आर्यसमाज को कोई पृथक् मत, मजहब या सम्प्रदाय न कहकर एक ऐसा आन्दोलन कहना चाहिए जो बुद्धिवाद का आश्रय लेकर वैदिक धर्म के शुद्ध स्वरूप को जनता के सामने उपस्थित करता है। इसलिए यदि आर्यसमाज को समझना हो तो वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रतिपादित सचाइयों को समझना पर्याप्त है।

परन्तु आधुनिक दृष्टि से आर्यसमाज के स्वरूप को समझने के लिए अन्य मतों से—या कहना चाहिए—अन्य विचारधाराओं से—उसका कहाँ मतभेद है—यह बताना आवश्यक है। जिस प्रकार संसार के अन्य सब धर्म-ग्रन्थों में कुछ बातें वेद से मिलती-जुलती हैं (और उन समानताओं का आधार केवल वेद ही हो सकता है, क्योंकि अन्य सब धर्म-ग्रन्थों के बारे में हमें मालूम है कि इतिहास के किस काल में किस विशिष्ट महापुरुष द्वारा उस ग्रन्थ का प्रणयन और उस मत का प्रवर्त्तन हुआ, जबकि वेद के बारे में इस प्रकार की बात नहीं कही जा सकती), ठीक उसी प्रकार यह सम्भव है कि संसार के अन्य मतानुयायियों में कुछ बातें वैदिक धर्मावलम्बियों से मिलती-जुलती हों, परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैदिक धर्म की अपनी एक विशिष्ट विचारधारा है। आर्यसमाज उसी का पोषक है। हम आर्यसमाज की

आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारधारा पर यहाँ प्रकाश डालेंगे, किन्तु स्थान की सीमा को देखते हुए संक्षेप से ही ऐसा करना सम्भव है।

आध्यात्मिक विचारधारा

आर्यसमाज आस्तिकता का पक्षपाती है, परन्तु अन्य आस्तिक मतों से आर्यसमाज की आस्तिकता भिन्न है। अन्य आस्तिक मत किसी-न-किसी साकार या व्यक्ति-रूप ईश्वर (Personal God) में विश्वास करते हैं या अनेक देवों को आराध्य मानते हैं, जबकि आर्यसमाज केवल एक निराकार, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर में विश्वास करता है। निराकार ईश्वर अवतार लेकर या जन्म धारण करके साकार नहीं बन सकता। सर्वज्ञ ईश्वर को किसी कालविशेष की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। ईश्वर सर्वव्यापक है, इसलिए वह किसी मन्दिर, मस्जिद या गुरुद्वारे में, या क्षीर सागर और कैलास में, या चौथे या सातवें आसमान पर विराजमान नहीं हो सकता। सर्वशक्तिमान् होने के नाते रावण या कंस या शिशुपाल जैसे अत्याचारियों को मारने के छोटे-मोटे कार्यों के लिए उसे अवतार लेने की भी आवश्यकता नहीं। निराकार होने के नाते किसी मूर्ति में ईश्वर के विग्रह की कल्पना करना गलत है और न ही मूर्ति के माध्यम से उसकी उपासना की जा सकती है। ईश्वर का साक्षात्कार केवल आत्मा के अन्दर ही सम्भव है क्योंकि वहाँ आत्मा और परमात्मा दोनों एक-साथ विद्यमान हैं, जबकि मूर्ति में परमात्मा की विद्यमानता स्वयं सिद्ध होने पर भी किसी तरह जीवात्मा की विद्यमानता सिद्ध नहीं की जा सकती। परमात्मा का दर्शन वहाँ ही सम्भव है जहाँ आत्मा और परमात्मा दोनों ही विद्यमान हों, और वैसा स्थान केवल जीवात्मा में ही सम्भव है, मूर्ति में नहीं। इसलिए अष्टधा या नवधा भक्ति से या अनेकधा पूजा-विधियों से नहीं, प्रत्युत योगदर्शन द्वारा वर्णित अष्टांग-योग के मार्ग से ही, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश है, परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है।

जहाँ तक दार्शनिक विचारधारा का सम्बन्ध है, आर्यसमाज त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन सनातन सत्ताओं को स्वीकार करता है। वैज्ञानिक प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते, बौद्ध तथा जैन जीवात्मा से आगे नहीं बढ़ते, वेदान्ती ब्रह्म के सिवा किसी और की सत्ता स्वीकार नहीं करते। अथ च, ईसाई और मुसलमान जीव और प्रकृति को भी ईश्वर की ही रचना मानते हैं। आर्यसमाज इन सबसे भिन्न—ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनों को अनादि मानता है। यह आर्यसमाज का ऐसा बुनियादी सिद्धान्त है जिससे अन्य सब मतवादियों का विरोध होते हुए भी एक तरह से उन सबका इसमें समन्वय हो जाता है। केवल प्रकृतिवादी, केवल जीववादी या केवल ईश्वरवादी का दृष्टिकोण एकांगी है और उनकी यह

एकांगिता सृष्टि-तत्त्व की युक्ति-युक्त व्याख्या करने में समर्थ नहीं है, जबकि आर्य-समाज का त्रैतवाद समस्या का परिपूर्ण समाधान उपस्थित करता है।

सामाजिक विचारधारा

वैदिक धर्म ने मानव के व्यक्तिगत विकास के लिए जहाँ जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया है, वहाँ सामाजिक जीवन के विकास के लिए उसे चार वर्णों में विभक्त किया है। यदि एक वाक्य में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि 'वर्ण और आश्रम' ही वैदिक समाज का मुख्य आधार है। परन्तु आधुनिक हिन्दू समाज में वर्ण और आश्रम के नाम पर जैसी अव्यवस्था फैली हुई है, आर्यसमाज उसका समर्थक नहीं है।

चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वेद में 'शतायुर्वै पुरुषः' कहकर मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष की मानी गई है। इसमें प्रथम पच्चीस वर्षों में सदाचारपूर्वक विद्याध्ययन करना एवं अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों का विकास करना होता है। नींव जितनी मजबूत होगी, इमारत भी उतनी ही मजबूत होगी। इसलिए ब्रह्मचर्याश्रम में उन सब शक्तियों का अधिक-से-अधिक सम्पादन करना होता है जो आगामी जीवन में व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी हो सकती हैं। इस नींव की दृढ़ता के लिए ही गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के अनुसार नगरों के दूषित वातावरण से दूर जंगल में गुरु के चरणों में बैठकर विद्यार्थी जहाँ विद्याध्ययन करता है वहाँ साथ ही ब्रह्मचर्य की भी साधना करता है। ऐसे गुरुकुल का स्नातक केवल पुस्तक-ज्ञान का पण्डित नहीं होगा, किन्तु जीवन में सदाचार का उदाहरण उपस्थित करेगा। जिस राष्ट्र में ऐसे सदाचारी युवक होंगे उसमें भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी और बेईमानी आदि आजकल के सामाजिक और राजनैतिक अभिशापों की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का नम्बर आता है। गृहस्थाश्रम भी भोग-विलास का 'फ्री लाइसेन्स' नहीं है, किन्तु धर्मपूर्वक अर्थ और काम—जिनका पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ काम, मोक्ष) में महत्त्वपूर्ण स्थान है—की साधना के लिए गृहस्थाश्रम एक आवश्यक सीढ़ी है। परिवार के प्रति प्रेम की साधना से ही मनुष्य धीरे-धीरे विश्व-प्रेम और ईश्वर-प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इस आश्रम में जितना महत्त्व पुरुष का है उससे कम नारी का नहीं। नारी और पुरुष दोनों मिल-कर गृहस्थाश्रमरूपी रथ के दो पहियों का काम करते हैं। एक भी पहिये में विकार होने से रथ की गति में व्यवधान आ जाएगा। नारी घर की साम्राज्ञी है, वही ऐसा केन्द्र है जिसके चारों ओर गृहस्थ की परिधि चक्कर काटती है। इसीलिए आर्य-समाज ने स्त्री-शिक्षा को पुरुषों की शिक्षा से कम महत्त्व नहीं दिया और समाज के

प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों को पुरुषों के साथ समानता के स्तर पर रखा।

तीसरा आश्रम वानप्रस्थ है। ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थाश्रम में रहकर, उसके बाद गृहस्थ के बन्धन से निकलकर समाज के कार्य में जुट जाना ही वानप्रस्थाश्रम का उद्देश्य है। आजकल जितनी उपेक्षा इस आश्रम की होती है उतनी किसी और आश्रम की नहीं। ५०-५५ वर्ष की आयु के पश्चात् भी गृहस्थी बने रहने से जहाँ पारिवारिक झंझट बढ़ते हैं और बच्चों के स्वावलम्बी बनने में विलम्ब होता है, वहाँ समाज-सेवा का क्षेत्र भी कार्यकर्त्ताओं से शून्य रहता है। सच तो यह है कि राष्ट्र के बच्चों की शिक्षा की समस्या को हल करना वानप्रस्थियों के ही हाथ में है। गृहस्थाश्रम के मोह से निकले परिपक्व आचरण वाले वानप्रस्थी ही बच्चों के मनोविज्ञान को ठीक-ठीक समझ सकते हैं और उनके सामने सदाचारमय जीवन का आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। गृहस्थी बनने को आतुर या सद्योविवाहित २४-२५ वर्ष के नवयुवक, जिन्हें आजकल शिक्षकों के रूप में नियुक्त करने का प्रचलन है, बच्चों के मनोविज्ञान को क्या समझेंगे और उन्हें सदाचार की क्या शिक्षा देंगे! यही कारण है कि आजकल के छात्र अपने छात्र-जीवन में ही अनेक अनाचारों में पारंगत हो जाते हैं।

चौथा संन्यास आश्रम आयु की दृष्टि से ही नहीं, अपितु विश्व-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत व्यक्तित्व के कारण भी सबसे ऊँचा आश्रम है। तीन पीढ़ियों के जीवन के अनुभव की जैसी विशाल सम्पदा संन्यासी के पास होगी वैसी और किसके पास सम्भव है? अपने ज्ञान, परिपक्व अनुभव तथा सबसे प्रेम की भावना के आधार पर समाज का उपकार जितना संन्यासी कर सकता है, उतना और कोई नहीं कर सकता। परन्तु संन्यास केवल कपड़े रँगने का काम नहीं है। जब तक तन-मन और जीवन का क्षण-क्षण समाज-कल्याण की भावना में न रँगा हो तब तक केवल कपड़े रँगकर, बिना हाथ-पैर हिलाए, दूसरों के परिश्रम पर स्वयं ऐश्वर्य में मस्त रहना तो राष्ट्र के लिए भार ही बनना है। देश में ऐसे साधुओं की कमी नहीं है। भारत में इस समय जो ५६ लाख साधु हैं वे यदि सच्चे संन्यासी के कर्त्तव्य का पालन करें तो देश को भ्रष्टाचार से मुक्त करने में तथा सत्पथ पर आरूढ़ करने में भारी योग दे सकते हैं।

चार वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शेष हिन्दू समाज से आर्यसमाज की वर्ण-व्यवस्था में विशेष अन्तर यह है कि अन्य लोग जहाँ जन्म के अनुसार वर्ण मानते हैं वहाँ आर्यसमाज गुण-कर्म-स्वभाव और जीविका के साधन के अनुसार वर्ण को स्वीकार करता है। जन्मपरक वर्ण-व्यवस्था के नाम पर अतीत काल में हिन्दू समाज में शूद्रों पर जो अत्याचार किये गए, उनकी कथा अत्यन्त हृदय-द्रावक है। शूद्रों को छूने तक में पाप समझा जाता था, फिर उनके साथ समानता के व्यवहार की आशा ही क्या की जाती? शूद्रों को विद्या और वेद पढ़ने

के अधिकार से वंचित रखा गया है और बेगार के तौर पर उनसे जबर्दस्ती सेवा वसूल करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार बताया गया। किन्तु आर्यसमाज का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। आर्यसमाज चारों वर्णों को समाज का आवश्यक अंग मानता है और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की प्राप्ति की दृष्टि से सबको समानता के स्तर पर रखता है, अर्थात् जहाँ तक रोटी-कपड़ा और मकान का सम्बन्ध है, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी के लिए समान रूप से आवश्यक हैं और इनकी प्राप्ति में किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु जहाँ तक सामाजिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध है, वह सबसे अधिक मात्रा में उन लोगों को उपलब्ध होगी जो अपना सारा जीवन ज्ञान की उपासना में लगाएँगे। जितने भी कलाकार, लेखक, अध्यापक, वैज्ञानिक और सरस्वती के साधक हैं और जो समाज के अज्ञान का निराकरण करते हैं वे सब-के-सब ब्राह्मण कहलाएँगे, फिर चाहे उनका जन्म किसी कुल में क्यों न हो। सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरा स्थान होगा उन क्षत्रियों का जो बल की उपासना करते हैं और अन्याय का प्रतिकार अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। सैनिक, योद्धा और राजकीय प्रशासनिक सेवाओं के कर्मचारी इस कोटि में आते हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा में तीसरा स्थान होगा धन की उपासना करने वाले और उसी में रत रहने वाले वैश्यों का। व्यापारी, उद्योगपति, दुकानदार और अधिकांश नौकरीपेशा लोग भी इसी कोटि में आएँगे। वे सब समाज के भौतिक अभावों की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं।

ज्ञान, बल और धन की उपासना करने वाले उक्त तीनों वर्णों में भी मूल प्रेरणा स्वार्थ की नहीं, प्रत्युत परार्थ की ही है। सार-रूप से यों कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति राष्ट्र की अविद्या को दूर करने का प्रयत्न करेंगे वे ब्राह्मण, जो अन्याय को दूर करने का प्रयत्न करेंगे वे क्षत्रिय, और जो व्यक्ति राष्ट्र में प्रसूत अभाव की समस्या को हल करने का व्रत लेंगे वे वैश्य कहलाएँगे। जो व्यक्ति राष्ट्र की अविद्या, अन्याय या अभाव की समस्या को हल करने में विशिष्ट योग नहीं दे सकता और केवल अपना शरीर-श्रम ही समाज की सेवा में अर्पित कर सकता है वह शूद्र कहलाएगा। समाज के लिए ये चारों समान रूप से उपयोगी हैं, एक भी अंग के विच्छृङ्खलित हो जाने पर समाज-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी।

'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते'—प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, उसके पश्चात् संस्कारों के आधान से प्राप्त गुण-कर्म के द्वारा वह द्विजत्व को प्राप्त होता है। जिस तरह वकील का बेटा जन्म से वकील नहीं होता और डॉक्टर का बेटा जन्म से डॉक्टर नहीं होता, उन्हें क्रमशः वकालत और डॉक्टरी पास करने पर ही वकील और डॉक्टर कहा जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मणत्व के गुण-कर्म से हीन ब्राह्मण का बेटा भी ब्राह्मण नहीं हो सकता। उसे विद्याध्ययन, तपस्या और सदाचार के द्वारा ब्राह्मणत्व अर्जित करना होगा। जन्म-परक जाति

की मान्यता ही देश का सबसे बड़ा अभिशाप है। गुण और कर्म के द्वारा जाति की मान्यता सामाजिक विकास का जितना उत्तम उपाय है, उतना उत्तम और कोई उपाय नहीं हो सकता।

राजनैतिक विचारधारा

जहाँ तक आधुनिक राजनीति का सम्बन्ध है, उसका आपाततः आर्यसमाज से सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु राजनीति भी जीवन का आवश्यक अंग है इसलिए न कभी वेदों ने उसकी उपेक्षा की, न स्मृतियों ने और न ही आर्यसमाज ने। वेद और स्मृतियाँ आदि यद्यपि धर्मशास्त्र हैं, राजनीतिशास्त्र नहीं, परन्तु वैदिक धर्म ने धर्म को जो व्यापक रूप दिया है उसमें राजनीति भी समाविष्ट हो जाती है। क्योंकि "धर्मो धारयते प्रजाः"—प्रजा का जिससे धारण होता है, वही धर्म है, प्रजा का धारण क्या कभी उसकी रक्षा-व्यवस्था के बिना और न्याय-व्यवस्था के बिना सम्भव है? ऋषि दयानन्द राजनैतिक नेता (Political Leader) भले ही न हों, किन्तु राजनैतिक तत्त्ववेत्ता (Political Philosopher) अवश्य थे। इसीलिए उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में एक पूरा समुल्लास (छठा) राजनीति के ही अर्पण किया है। वे राजनीति के बजाय राजधर्म शब्द का प्रयोग करते हैं।

आर्यसमाज स्पष्टतः न एकतन्त्र (Dictatorship) का, न बहुतन्त्र (Oligarchy) का, न ही दलतन्त्र (Party rule) का, प्रत्युत लोकतन्त्र (Democracy) का पक्षपाती है। आर्यसमाज का संविधान इसका साक्षी है। धार्मिक क्षेत्र में जैसे गुरुडम है, वैसे ही राजनैतिक क्षेत्र में एकतन्त्र या अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) है। दोनों समान रूप से दूषित हैं। आर्यसमाज इन दोनों का समर्थक कभी नहीं हो सकता। परन्तु राजतन्त्र (Monarchy) का वह उतना विरोधी नहीं है। राजनीतिशास्त्र की परिभाषाओं की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आर्यसमाज संसदीय लोकतन्त्र का पक्षपाती है। यदि इंग्लैंड में राजा के रहने पर भी संसदीय लोकतन्त्र में बाधा नहीं पड़ती तो भारत में भी नहीं पड़ सकती। परन्तु वह राजा वंश-परम्परा से नहीं होना चाहिए, प्रत्युत उसका भी लोकतन्त्रीय निर्वाचन-पद्धति से निर्वाचन होना चाहिए। आर्यसमाज का स्वप्न चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने का है, परन्तु यहाँ 'साम्राज्य' शब्द से घबराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि चक्रवर्ती साम्राज्य से आर्यसमाज को जो कुछ अभिप्रेत है, वह लगभग वही है जिसे राजनीति-विशारदों ने 'विश्व-साम्राज्य' का नाम दिया है। संयुक्त राष्ट्र-संघ की कल्पना उसी विचार का परिणाम है। आचार्य विनोबा भावे 'जय जगत्' के नारे से वही बात कहना चाहते हैं। संन्यासी के विश्व-प्रेम की भावना उसी में चरितार्थ होती है और **'सर्वे सन्तु निरामयाः'** की वैदिक

भावना तभी कृतकार्य हो सकती है।

आधुनिक भारतीय राजनीति के एक संदर्भ में एक बात की ओर ध्यान दिलाना अत्यन्त आवश्यक है। अहिंसा के आदर्श से अनुप्राणित भारत सरकार कभी-कभी ऐसे मानसिक व्यामोह का परिचय देती है जो राष्ट्र-रक्षा के लिए सर्वथा घातक होता है। जहाँ हिंसा का प्रयोग परम कर्त्तव्य होता है वहाँ तो वह अहिंसा की दुहाई देती है, और जहाँ केवल सामान्य सद्बुद्धि और सूझ-बूझ से काम चल सकता है वहाँ वह हिंसा का आश्रय ले बैठती है। 'यथायोग्य व्यवहार' केवल धर्म का ही निर्देशक सूत्र नहीं है, प्रत्युत राजनीति का भी निर्देशक सूत्र है। देश पर आक्रमण करने वाले आततायियों और आतंकवादियों के साथ, राष्ट्रद्रोही पंच-माँगियों के साथ और भ्रष्टाचारी अधिकारियों के साथ दया की नीति बरतना उसी राजनैतिक व्यामोह का परिणाम है। "**दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति, दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।**"—मनुस्मृति का यह ऐसा वचन है जिसका पालन न करने से राष्ट्र की अपरिमित क्षति होती है। अदण्ड्य को दण्ड देना और दण्ड्य को दण्ड न देना स्वयं दण्डनीय अपराध है। जो राजा इस बात का ध्यान नहीं रखता वह प्रजा की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता। साधुओं का परित्राण और असाधुओं का विनाश—दोनों समान रूप से आवश्यक हैं। राजनीति का यही सार है।

आर्थिक विचारधारा

जिस प्रकार आर्यसमाज राजनीति में स्वराज्य का, संस्कृति में स्वभाषा का, धर्म में स्वधर्म (वेद) का समर्थक है, वैसे ही अर्थनीति में स्वदेशी का समर्थक है। यदि विदेशी राज्य, विदेशी भाषा, और विदेशी धर्म अवाञ्छनीय हैं तो विदेशी वस्तुएँ भी अवाञ्छनीय हैं। आर्यसमाज की यह भावना विदेशियों के साथ शत्रुता के कारण नहीं है, परन्तु प्रत्येक क्षेत्र में 'स्व' का समर्थन ही आर्यसमाज का राष्ट्रवाद है। स्वदेश से ही अगर विदेशी वस्तुओं का आदर नहीं होगा तो और कहाँ होगा? अंग्रेजों की दासता ने भारतीयों की मनोवृत्ति ऐसी बना दी कि आज बड़े-से-बड़े राष्ट्रीय नेता भी राष्ट्रीयता के इस निर्मल स्वरूप को समझने में असमर्थ हैं और विदेशी भाषा और विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करते हुए उनके मन में तनिक भी राष्ट्रीय अपमान की अनुभूति नहीं होती।

आर्यसमाज उद्योगीकरण का विरोधी नहीं है। ऋषि दयानन्द ने अपने पट्ट शिष्य, क्रान्तिकारियों के पितामह श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को भारत में (ब्यावर में) सबसे पहली कपड़ा-मिल का मैनेजर बनने की अनुमति दी थी और बाद में विज्ञान के अध्ययन के लिए उन्हें विदेश भेजा था। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने ऋषि दयानन्द के परामर्श से, विदेश जाने वाले भारतीय छात्रों को जहाँ क्रान्ति के मन्त्र

से अभिमन्त्रित किया था वहाँ उनके लिए विज्ञान पढ़ने के निमित्त अन्य सुविधाओं की भी व्यवस्था की थी। जर्मनी के विशेषज्ञों से ऋषि दयानन्द ने इस विषय में पत्र-व्यवहार भी किया था कि वे भारतीय छात्रों को विज्ञान और शिल्प सिखाने की व्यवस्था करें। परन्तु देश का उद्योगीकरण करने की तीव्र इच्छा होते हुए भी, ऋषि दयानन्द का उद्देश्य केवल यही नहीं था कि देश में बड़े-बड़े कल-कारखाने स्थापित हों, प्रत्युत छोटे उद्योगों और कुटीर-उद्योगों के भी वे पक्षपाती थे, क्योंकि इनके बिना न ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुधर सकती है और न ही स्वदेशी वस्तुओं का विकास हो सकता है। जहाँ तक हम समझते हैं, ऋषि दयानन्द विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के पक्षपाती थे और उद्योगों के पूँजीपतियों के कुछ हाथों में समस्त आर्थिक शक्ति दे देना उनकी कल्पना के विरुद्ध था।

स्वदेशी और विकेन्द्रीकरण का समर्थक होते हुए भी प्रत्येक उद्योग और व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण का ऋषि दयानन्द समर्थन करते, इसमें हमें सन्देह है। पूँजी किसी एक स्थान पर संचित नहीं होनी चाहिए, तो समस्त पूँजी का मालिक सरकार को ही बना देना क्या पूँजी का एक स्थान पर ही सन्निवेश नहीं है ? ऐसा करने से जहाँ लोगों में उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा (Incentive) समाप्त हो जाएगी वहाँ सरकार में भी तानाशाही की प्रवृत्ति बढ़ेगी। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था इस सीमा तक तो उपयोगी है कि राष्ट्र की सम्पत्ति किसी व्यक्ति के उपभोग के बजाय समस्त समाज के उपभोग में आवे, किन्तु जब इस सिद्धान्त को भी अति तक पहुँचाया जाता है तब व्यक्ति समाप्त हो जाता है और केवल समाज रह जाता है। परन्तु क्या व्यक्ति के समाप्त हो जाने पर समाज टिक सकेगा ? समाज भी तो आखिर व्यक्तियों का समुदाय ही है। इसीलिए आदर्श अर्थव्यवस्था वही हो सकती है जिसमें "सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझने वाले" व्यक्तियों का स्थान हो।

जिस तरह शारीरिक स्वास्थ्य के लिए रक्त-संचार (Circulation of Blood) का होना आवश्यक है, उसी प्रकार समाज के आर्थिक स्वास्थ्य के लिए धन का संचार (Circulation of Wealth) होना आवश्यक है। किसी एक स्थान पर पूँजी का जमा हो जाना अपने-आप में दोषी नहीं है, परन्तु यदि उस पूँजी की निकासी न हो तो उसमें वैसी ही सडाँध पैदा हो जाएगी जैसी एक स्थान पर एकत्रित तालाब के उस पानी में, जिसमें कहीं पानी की निकासी की गुंजायश न हो। यहीं हमें महात्मा गांधी का 'ट्रस्टीशिप' का सिद्धान्त याद आता है, अर्थात् हरेक पूँजीपति यह समझे कि मेरे पास विद्यमान सारी सम्पत्ति मेरे निज के या परिवार के उपयोग के लिए नहीं है, अपितु सारे समाज के उपयोग के लिए है और यह सारी सम्पत्ति समाज की है, समाज ने मुझे उस सम्पत्ति का केवल 'ट्रस्टी' (न्यासी) बनने का ही अधिकार दिया है, अर्थात् समाज मेरी इस योग्यता को समझता है

कि मैं सम्पत्ति को बढ़ाने के उपाय जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि समाज के हित के लिए उस सम्पत्ति का सदुपयोग कैसे किया जाय। जब समाज ने मुझ पर इतना विश्वास किया है तब मैं समाज के साथ विश्वासघात क्यों करूँ? यदि कोई पूँजीपति अपने पास एकत्रित पूँजी का केवल अपने लिए उपयोग करता है तब वह समाजद्रोही है और कृतघ्नता के पाप का भागी है। "शत हस्त समाहर, सहस्र हस्त संकिर"—सौ हाथों से कमा और हजार हाथों से दे—यही वैदिक आदर्श है।

आर्यसमाज ने अपनी ओर से किसी भी विषय में कोई नई स्थापना नहीं की, केवल वेद-प्रतिपादित सिद्धान्तों को ही बुद्धि-संगत ढंग से उजागर करने का प्रयत्न किया है। किसी भी विषय में वेद जो कुछ कहता है वही आर्यसमाज को मान्य है और वेद का सिद्धान्त किसी जाति-विशेष या देश-विशेष या काल-विशेष के लिए नहीं; वह सब जातियों, सब देशों और सब कालों के लिए है, इसलिए उसी का अनुगमन करने से विश्व का कल्याण हो सकता है।

('आर्योदय' की ओर से सन् १९६४ में प्रकाशित ट्रैक्ट)

ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे ?

प्रिय महोदय,

आपका पत्र मिला। आप चाहते हैं कि 'ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे'— इस विषय में मैं अपने विचार लिखूँ। आपने जिस सरलता से यह प्रश्न कर दिया है, मुझे उसका उत्तर उतना ही दुरूह लगता है। प्रत्युत मेरे मन में तो यह भी आता है कि यदि आपने यही प्रश्न साक्षात् ऋषि दयानन्द से किया होता तो कदाचित् वे भी तुरन्त उत्तर देने से पहले कुछ देर सोच में पड़ जाते। चाहना तो मन का विषय है। कितने ऐसे लोग हैं जो स्वयं अपने मन का विश्लेषण कर सकते हैं? ऋषि दयानन्द जैसे योगिराज क्षण-भर सोचने के पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर दे ही देते, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु कोई भिन्न व्यक्ति किसी व्यक्ति-विशेष के मन की बात का ज्ञान प्राप्त कर सके, यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है। योगियों के लिए ही वह सुकर हो सकता है।

ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे—इसका यथार्थ उत्तर तो वही दे सकते थे, परन्तु उनका जीवन-चरित्र पढ़ने से तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का पारायण करने से उनकी चाहना के सम्बन्ध में मेरे मन में जो धारणा है, उसका संकेत मैं अवश्य कर सकता हूँ। शायद आपके पत्र का प्रयोजन भी यही है।

ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे—इस प्रश्न का एक संक्षिप्त उत्तर जो प्रत्येक आर्यसमाजी के मन में सद्यः स्फुरित होगा, यह हो सकता है—"**कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्**" अर्थात्—सारे संसार को आर्य बनाओ! यही चाहना ऋषि के मन में थी। कुछ भाई शायद यह कहना पसन्द करें कि गुरु विरजानन्द ने दीक्षान्त के समय ब्रह्मचारी दयानन्द को वैदिक धर्म के प्रचार का जो उपदेश दिया था, उसी को पूरा करना ऋषि दयानन्द के मन की कामना थी। परन्तु यह उत्तर तो प्रश्न को आवश्यकता से अधिक सरल कर देना है।

मेरे मन को चिरकाल से एक प्रश्न लगातार कुरेदता रहा है और वह यह कि क्या व्यष्टि के बिना समष्टि की कोई सत्ता है? क्या इकाई के बिना कभी दहाई की कल्पना की जा सकती है? क्या घर के अभाव में बाहर का कोई मूल्य है? क्या व्यक्ति में सुधार किये बिना समाज में सुधार सम्भव है? इसलिए सारे विश्व को सुधारने का ठेका लेने के बजाय, व्यक्ति को सुधारने की बात कही जाए तो व्यावहारिकता की दृष्टि से कदाचित् अधिक समीचीन हो।

परन्तु इस बुनियादी बात से भी मेरे मन को संतोष नहीं होता। मुझे लगता है कि ऋषि दयानन्द व्यक्ति को केवल व्यक्तिगत जीवन की परिधि तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। व्यक्ति समाज का अविच्छिन्न अंग है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों अन्योन्याश्रित हैं और इनको अलग-अलग करके देखना दृष्टि की धूमिलता का परिचायक है। 'आर्यसमाज' में आर्य शब्द यदि व्यक्ति का वाचक है तो 'समाज' शब्द ऐसे जन-समूह का वाचक है जो राष्ट्र का अविच्छिन्न अंग है। ऋषि दयानन्द के मन में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र, ये तीनों सदा एक-साथ उपस्थित रहे हैं, क्षण-भर को भी अलग नहीं हुए। मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है। अपनी इस धारणा के समर्थन में मेरा विवेचन निम्न प्रकार है—

ऋषि दयानन्द ने इस देश को आर्यावर्त के नाम से अभिहित किया है और देश के सुनागरिक को 'आर्य' शब्द से सम्बोधित किया है। निस्सन्देह आर्य शब्द गुणवाची है। इससे यह ध्वनित होता है कि ऋषि भारत के प्रत्येक नागरिक को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनना चाहते थे। आर्यावर्त के निवासियों का धर्म उन्होंने 'वैदिक धर्म' बताया और भाषा 'आर्य भाषा' (अर्थात् हिन्दी)। साथ ही अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने महाभारत-कालीन महाराज युधिष्ठिर से लेकर दिल्ली के राजा अनंगपाल तक पीढ़ियों का उल्लेख करके आर्य राजाओं की वंशावलि भी दी है। इस प्रकार जब मैं आर्य राजाओं की वंशावलि, भारतवर्ष का नाम आर्यावर्त, धर्म का नाम वैदिक धर्म, भाषा का नाम आर्यभाषा और नागरिकों को आर्य नाम से सम्बोधन देखता हूँ, तब मेरे मन में इस बात के लिए सन्देह नहीं रहता कि वे एक देश, एक धर्म, एक भाषा और एक जाति के पक्षपाती थे। आर्य राजाओं की वंशावलि देने का तात्पर्य इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि वे इस देश में पुनः वैदिक धर्मावलम्बी आर्य राजाओं का राज्य देखना चाहते थे। इस देश की पराधीनता से कितनी मानसिक वेदना ऋषिवर दयानन्द को होती थी, इसकी कल्पना हम सत्यार्थप्रकाश में स्थान-स्थान पर विकीर्ण देश के अधःपतन के मर्मान्तक विवरणों से ही जान सकते हैं। परन्तु मात्र स्वराज्य-प्राप्ति से ही वे सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। स्वराज्य के साथ सुराज्य भी उनका ध्येय था। इस सुराज्य के 'सु' को चरितार्थ करने के लिए ही तो नागरिकों को आर्य (श्रेष्ठ) बनने की उन्होंने प्रेरणा दी थी।

जब ऋषि के इन विचारों की ओर मेरा मन जाता है तब मुझे लगता है कि 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के बजाय पहले आर्यावर्त को ही उसके अपने सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित करना उनका तात्कालिक उद्देश्य था और आर्यावर्त में आर्यों का राज्य स्थापित करने के पश्चात् सशक्त और बलाढ्य आर्यावर्त के माध्यम से वे संसार में आर्यों के चक्रवर्ती साम्राज्य या 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते थे। बिना 'जय हिन्द' के वे 'जय जगत्' का नारा लगाना उचित नहीं समझते

थे, क्योंकि इकाई के बिना दहाई को प्राप्त करना व्यावहारिकता नहीं है।

शायद मेरे इस विश्लेषण को कुछ लोग अंग्रेजी के उग्र राष्ट्रवाद (Chavnivism) शब्द से, जिसे आजकल की राजनैतिक शब्दावली में राजनीतिज्ञ लोग गाली की तरह प्रयुक्त किया करते हैं, अभिहित करें। मैं समझता हूँ कि ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व का कण-कण इसी उग्र राष्ट्रवाद की भावना से मण्डित था। यदि स्वप्निल आदर्शवाद के वशीभूत होकर हम ऋषि के व्यक्तित्व में से इस उग्र राष्ट्रवाद को निकाल दें, जैसा कि अनेक धुरन्धर विश्ववादी और अध्यात्मवादी आर्यसमाजी नेता किया करते हैं, तो मुझे लगता है कि ऋषि की मानसिक भावना का वह अव्यावहारिक और अपूर्ण आकलन होगा। ऐसा कहकर मैं ऋषि के व्यक्तित्व को संकुचित नहीं करना चाहता, किन्तु उसे यथार्थ की भित्ति पर स्थापित करना चाहता हूँ।

परन्तु सम्पादक जी, ऋषि क्या चाहते थे—यह प्रश्न तो अब गया-बीता हो गया। अब तो आप मुझसे यह पूछते कि आर्यसमाजी क्या चाहते हैं, या देशवासी क्या चाहते हैं ? स्वार्थ-परायण, पदलोलुप, परस्पर पगड़ी उछालने में पटु, सदा संघर्षरत आर्यसमाजियों को इस बात की क्या चिन्ता है कि ऋषि क्या चाहते थे ? या पहले अंग्रेजों के दास और अब अंग्रेजी के दास भारतवासियों को इस बात की क्या परवाह है कि ऋषि का उद्देश्य क्या था या ऋषियों की इस भूमि का क्या होगा ? राष्ट्र जाय भाड़ में, सबको अपने स्वार्थ से प्रयोजन है।

और सम्पादक जी, सच कहूँ—जिस महापुरुष के गीत गाते लोग नहीं थकते और जिसकी चरणरज तक का स्पर्श करके आज के स्वनाम-धन्य महतो-महान् राष्ट्रीय नेतागण आज भी राष्ट्रीयता के मन्त्र से अभिषिक्त हो सकते हैं, वह ऋषि दयानन्द यदि आज की स्थिति में पुनः भारत में आ जाएँ तो उन्हें स्वतन्त्र भारत सरकार के किसी भी विभाग में छोटे-से-छोटे क्लर्क तक की नौकरी नहीं मिल सकेगी; क्योंकि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती थी। इसलिए यह मत पूछिए कि ऋषि क्या चाहते थे, या हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान का तकाजा क्या है ? हमसे केवल यह पूछिए कि हम क्या चाहते हैं ? हमें न ऋषि से प्रयोजन है, न ही राष्ट्र से, हमें केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रयोजन है।

(सन् १९६२ के आसपास लिखित)

स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्यसमाज का योगदान

स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्यसमाज के योगदान की चर्चा करने से पहले संस्था के रूप में आर्यसमाज की एक विशेषता की ओर ध्यान खींचना आवश्यक है।

जिस तरह हरेक आदमी का अपना एक व्यक्तित्व होता है जिसके कारण वह अन्य आदमियों से अलग पहचाना जाता है—वही उसकी पहचान कहलाती है, उसी तरह हरेक संस्था की अपनी ऐसी कुछ विशेषता भी होती है जिसके कारण वह अन्य संस्थाओं मे अलग पहचानी जाती है। आर्यसमाज की वह विशेषता क्या है?

देश में राजनैतिक या धार्मिक अनेक संस्थाएँ हैं। उनके व्यक्तित्व की पहचान के लिए उनकी अपनी अलग विशेषताएँ होंगी। उनकी चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं है। हमें केवल आर्यसमाज की विशेषता की चर्चा करनी है। वह कौन-सा व्यावर्तक लक्षण है जो आर्यसमाज को अन्य संस्थाओं से अलग करता है?

इतिहास में मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम 'धनुर्धारी राम' के नाम से विख्यात हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण 'बाँसुरीवाला कृष्ण कन्हैया' या 'गीता रचैया' या 'सुदर्शन-चक्रधारी श्रीकृष्ण' के नाम से प्रसिद्ध हैं। दशमेश गुरु गोविन्दसिंह को 'कलगी-धारी गुरु' कहा जाता है। उसी तर्ज पर आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द को 'वेदों वाला सन्त' कहा जा सकता है, क्योंकि वेदों के पठन-पाठन को सब आर्यों का उन्होंने परमधर्म बताया और साथ ही वेद को सब सत्य विद्याओं का स्रोत बताया। आर्यसमाज को भी वैदिक धर्म का प्रचार करने वाली और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के लक्ष्य को पूरा करने के लिए वेद को माध्यम बनाने वाली संस्था के प्रवर्तक को 'वेदों वाला सन्त' कहना और आर्यसमाज को वेद का प्रचार करने वाली संस्था बताना सही है। अधिकांश आर्यसमाजी इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इससे आगे न उनकी गति है, न मति। पर क्या यह विशेषण ऋषि दयानन्द के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को और आर्यसमाज की पूरी विशेषता को समाहित कर सकता है? हमारा उत्तर है—नहीं, सौ बार नहीं।

ऋषि दयानन्द के समग्र जीवन-चरित्र को पढ़ जाइए। आप पाएँगे कि वे तत्कालीन अनेक संस्थाओं के सम्पर्क में आए, उनसे प्रभावित भी हुए और उनके सहयोग से कार्य करने की प्रेरणा भी हुई। इन संस्थाओं में ब्रह्मसमाज, प्रार्थना-समाज और थियोसोफिकल सोसायटी का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। इन तीनों संस्थाओं के नेताओं ने ऋषि को बहुत आदर-सम्मान दिया, उनके

समाज-सुधार के कार्यक्रम में सहयोग देने को भी वे तैयार थे। एक समय थियोसोफिकल सोसायटी को तो आर्यसमाज का अंग मान लेने की बात काफी आगे तक बढ़ी थी, पर बाद में ऋषि का इन सब संस्थाओं से मोहभंग हो गया और उन्होंने आर्यसमाज का उक्त संस्थाओं से अलग अस्तित्व रखना ही उचित माना।

इसमें भी मुख्य कारण यही था कि उक्त संस्थाएँ वेद को वह महत्त्व देने को तैयार नहीं थीं, जो ऋषि देना चाहते थे। ये संस्थाएँ वेदों को अपौरुषेय, समस्त सत्य विद्याओं का मूल और सब धर्मों का आदि-स्रोत मानने को तैयार नहीं थीं।

पर इन सबसे अलगाव का केवल यही कारण नहीं था। प्रत्युत एक और कारण भी था जो उक्त कारण से कम महत्त्वपूर्ण नहीं और वह कारण था—इन संस्थाओं में राष्ट्रप्रेम का अभाव। ऋषि दयानन्द जितने वेद-भक्त थे, उससे कम राष्ट्रभक्त नहीं थे। इसलिए अन्य अनेक समाज-सुधार के कार्यक्रमों में सहयोग की इन संस्थाओं की भावनाओं का उचित सम्मान करते हुए भी इन संस्थाओं में राष्ट्र-भक्ति का अभाव उन्हें अखरता था।

बल्कि थोड़ी गम्भीरता से सोचकर देखें तो आप पाएँगे कि ऋषि की वेदभक्ति भी मुख्य रूप से राष्ट्रभक्ति का ही अंग थी। दिल्ली-दरबार में और चाँदपुर के मेले में ऋषि ने सब मत-मतान्तरों के प्रतिनिधियों को धर्म के नाम पर आपसी वैमनस्य दूर करने के लिए वेद को स्वीकार करने का आग्रह किया था। धार्मिक मतभेदों को दूर करने का यह व्यावहारिक, तर्कसम्मत तथा सर्वशास्त्रानुमोदित, परम्परा-प्राप्त नुस्खा था। इससे बढ़कर कोई नुस्खा हो नहीं सकता था। यदि अन्य मत-मतान्तरों या संस्थाओं के प्रतिनिधि इस नुस्खे को धार्मिक बीमारियों, पाखण्डों, कुरीतियों और अन्धविश्वासों की रामबाण ओषधि स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए, तो हमें इसमें भी मूल कारण उनमें राष्ट्रभक्ति का अभाव ही प्रतीत होता है। यदि उनमें राष्ट्रीय एकता की वही तड़प होती, जो ऋषि के मन में थी, तो वे भी वेद को वही मान्यता देने को तैयार हो जाते। ऋषि तो वेद को केवल धर्मग्रन्थ नहीं, आर्यावर्त का राष्ट्रीय ग्रन्थ बनाने का स्वप्न देखते थे। औरों के मन में यह स्वप्न नहीं था। न वे ऋषि की मनोव्यथा समझते थे।

यदि आप ऋषि के वेद-भाष्य देखें, उनके अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश को देखें और आर्याभिविनय जैसी लघु प्रार्थना-पुस्तिका देखें, तो सर्वत्र आपको ऋषि का राष्ट्रप्रेम उबलता दिखाई देगा। ऋषि दयानन्द को छोड़कर और किस विद्वान् ने वेदमन्त्रों के राजनीति-परक और राष्ट्रपरक अर्थ किये हैं? जो व्यक्ति परमात्मा से बारम्बार आर्यों के चक्रवर्ती साम्राज्य की प्रार्थना करता है, क्या आप उसे केवल वेदभक्त कहकर छुट्टी पा लेंगे? नहीं, वह राष्ट्रभक्त पहले है, वेदभक्त पीछे। वास्तव में कहना चाहिए कि वह राष्ट्रभक्त और वेदभक्त साथ-साथ है। उनकी राष्ट्रभक्ति वेदशक्ति से पृथक् नहीं है। उनका राष्ट्रप्रेम उनके धर्म का अंग है, जबकि

अन्य किसी भी मतानुयायी के लिए यह बात इतने जोर से नहीं कही जा सकती। अपने पैगम्बरों, रसूलों, मसीहाओं और अवतारों के नाम पर चले मतों में इसीलिए राष्ट्रवाद के तत्त्व का अभाव है। यही कारण है कि वे अपने मिथ्या दम्भ में अपने मजहब, सम्प्रदाय या मत को राष्ट्र से ऊपर मानते हैं।

यह वेदवाद और राष्ट्रवाद ही आर्यसमाज को ऋषि दयानन्द से विरासत में मिला है। इसीलिए हम कहते हैं—आर्यसमाज की दो भुजाएँ हैं—एक वेद और दूसरी राष्ट्र। इन दोनों में से एक भी भुजा को काट देंगे तो आर्यसमाज स्व-स्थ—अपने में स्थित नहीं रहेगा, वह पंगु हो जाएगा, वह केवल वेदवादी सम्प्रदाय बनकर रह जाएगा और तब, अन्य सम्प्रदायों से उसमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। अन्य जितनी राजनैतिक संस्थाएँ हैं, वे केवल राष्ट्र-राष्ट्र चिल्लाती हैं; वे धर्म का नाम नहीं लेतीं; और जितनी धार्मिक संस्थाएँ हैं, वे केवल अपने मजहब या मजहबी किताब (जैसे कुरान या बायबिल) का नाम लेती हैं, उनको राष्ट्र से कोई लेना-देना नहीं है। सब राजनैतिक पार्टियाँ राजनैतिक साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हैं और धार्मिक संस्थाएँ धार्मिक साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हैं, जब कि केवलमात्र आर्यसमाज ही ऐसी संस्था है जो धार्मिक या राजनैतिक दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकताओं से मुक्त है। इसलिए हम आर्यसमाज को कोई पार्टी या सम्प्रदाय कहने के बजाय ऐसा संगठनात्मक आन्दोलन कहना पसन्द करते हैं जो वेद पर आधारित राष्ट्र का—केवल भारत का नहीं--प्रत्येक राष्ट्र का, निर्माण करना चाहता है।

अन्य मतावलम्बियों को 'वेद पर आधारित' विशेषण से साम्प्रदायिकता की गन्ध आ सकती है। पर उनको यह बताने की आवश्यकता है कि वेद किसी सम्प्रदाय या वर्ग-विशेष के लिए नहीं, न ही किसी राष्ट्र-विशेष या काल-विशेष के लिए है, प्रत्युत वह तो **'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः'** कहकर मानवमात्र को अमृत-स्वरूप परमपिता परमात्मा की सन्तान मानकर एक इकाई के रूप में स्वीकार करता है। इसीलिए आर्यसमाज का वेदवाद और राष्ट्रवाद परस्पर-विरोधी नहीं, या विश्ववाद और मानववाद की अवहेलना करने वाला नहीं, बल्कि उसका मार्ग प्रशस्त करने वाला है। वह व्यष्टि से प्रारम्भ करके समष्टि तक पहुँचना चाहता है। उसके 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के नारे की सार्थकता भी यही है।

किसी प्रसिद्ध मुस्लिम नेता ने कभी कहा था कि मैं यह देखकर चकित होता हूँ कि "आर्यसमाज की शरण में आते ही व्यक्ति राष्ट्रभक्त बन जाता है।" इसमें चकित होने की कोई बात नहीं। राष्ट्रभक्ति प्रत्येक आर्यसमाजी की घुट्टी में है। यही आर्यसमाज की विशेषता है, यही उसकी अपनी अलग पहचान है।

इस विश्लेषण के बाद आधुनिक स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्यसमाज के योगदान के सम्बन्ध में कहने को बहुत कम रह जाता है। यों व्यक्तियों पर जाओ तो इसका ब्यौरा अत्यन्त विस्तृत होगा, पर संस्था के नाते चर्चा संक्षेप से की जा सकती है।

सन् १७५७ की प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेजों का आधिपत्य भारत में प्रारम्भ हुआ। परन्तु हर दस वर्ष बाद अंग्रेजों के आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह हुआ। सन् १७५७ के सौ वर्ष बाद जो भयंकर विद्रोह या राज्यक्रान्ति सन् १८५७ में हुई उस समय ऋषि दयानन्द जीवित थे, युवा थे और अवधूत के वेष में भारत-भर में भ्रमण कर रहे थे। उस विद्रोह में ऋषि की क्या भूमिका थी—इस पर विवाद हो सकता है; पर जिस बात पर विवाद नहीं हो सकता वह यह है कि ऋषि दयानन्द जैसा तेजस्वी, राष्ट्रभक्त और विदेशी आधिपत्य से देश को मुक्त करने के लिए अहर्निश चिन्तातुर व्यक्ति उस आन्दोलन में निष्क्रिय नहीं रह सकता था, या केवल मूकद्रष्टा बनकर नहीं रह सकता था। सन् १८५७ के १८ वर्ष बाद सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना करने में और उसकी नींव वेद और राष्ट्र पर रखने में उस राज्यक्रान्ति की असफलता के कारणों को दूर करना ही मुख्य हेतु रहा होगा।

उसके बाद सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों के लिए आपसी बहस का एक मंच तैयार करना था। वे बुद्धिवादी अधिकांश ऐसे थे जो अंग्रेजी राज को भारत के लिए वरदान मानते थे और अंग्रेजों से विनयपूर्वक कुछ सरकारी टुकड़ों की याचना करना ही अपनी परम देशभक्ति समझते थे।

परन्तु समय बदलता जा रहा था। निस्सन्देह समय के उस परिवर्तन में आर्य-समाज के अनुयायियों का भी प्रच्छन्न योगदान रहा। यह कहने की तो आवश्यकता नहीं कि सन् १८७५ से लेकर सन् १८८५ तक के राष्ट्रीय मंच के रिक्त स्थान को यदि किसी ने अपने कर्तृत्व से भरने का प्रयत्न किया, तो वे आर्यसमाजी ही थे। आर्यसमाज ने प्रखर राष्ट्रवाद की एक लहर चलाई, जिसे कांग्रेस की अंग्रेज-परस्ती और अंग्रेजी-परस्ती ने बदलने का पूरा प्रयत्न किया। पर समय बदलने के साथ-साथ कांग्रेस में भी अंग्रेज-परस्तों के बजाय राष्ट्रवादियों का वर्चस्व बढ़ने लगा। बीसवीं सदी के आते-आते कांग्रेस में दो दल स्पष्ट रूप से उभरने लगे—एक नरम दल और दूसरा गरम दल। कहना नहीं होगा कि आर्यसमाजियों की सहानुभूति गरम दल के साथ थी। सन् १९०५ के बंगभंग-आन्दोलन को आर्यसमाज के द्वारा उत्पन्न लहर का परिणाम माना जा सकता है। यह लाल-बाल-पाल का युग था—लाल अर्थात् लाला लाजपतराय, बाल अर्थात् लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और पाल अर्थात् विपिनचन्द्र पाल। लाला लाजपतराय का सम्बन्ध पंजाब से था, लोकमान्य का सम्बन्ध महाराष्ट्र से और विपिनचन्द्र पाल का सम्बन्ध बंगाल से। इन्हीं तीन प्रान्तों में क्रान्तिकारियों का आन्दोलन भी सबसे अधिक था। गरम दल के सभी नेताओं का इन क्रान्तिकारियों को प्रच्छन्न सहयोग और आशीर्वाद प्राप्त था। आर्यसमाज के अनुयायियों की भी गरम दल के साथ-साथ क्रान्तिकारियों से

विशेष सहानुभूति थी और वे हिंसा के माध्यम से भारत की स्वराज्य-प्राप्ति के लिए आतुर थे।

कितने क्रान्तिकारी आर्यसमाजी थे या आर्यसमाज के प्रखर राष्ट्रवाद से प्रभावित थे, इसके विस्तृत विवरण में गए बिना संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि उस युग में आर्यसमाज के चार बड़े नेता थे—स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, लाला खुशहालचन्द खुर्सन्द (बाद में महात्मा आनन्द स्वामी) और महाशय कृष्ण। इन चारों के सुपुत्र सक्रिय क्रान्तिकारी थे। स्वामी श्रद्धानन्द के बड़े सुपुत्र हरीश्चन्द्र विद्यालंकार सन् १९१४ में ही देश के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी राजा महेन्द्रप्रताप के साथ विदेश चले गए थे और वहीं स्वराज्य-प्राप्ति के लिए अपने ढंग से आन्दोलन करते रहे। महात्मा हंसराज के सुपुत्र श्री बलराज पर, लाला खुशहालचन्द खुर्सन्द के सुपुत्र रणवीर पर और महाशय कृष्ण के सुपुत्र वीरेन्द्र पर 'लाहौर बम केस में' मुकद्दमा चला। तीनों को लम्बी-लम्बी सजाएँ हुईं। कल्पना करिए—उस युग में जब इन चारों नेताओं के सुपुत्रों के गले में फाँसी के फन्दे का अन्देशा हो, तो उनके पिताओं पर क्या बीतती होगी और अंग्रेजों ने उनको कितना परेशान किया होगा! पर यह उल्लेख करने का तात्पर्य केवल इतना है कि उस समय भूत और भविष्य की चिन्ता किये बिना आर्य जनता स्वराज्य-प्राप्ति के लिए क्रान्तिपथ पर अग्रसर थी।

हम यहाँ जान-बूझकर क्रान्तिकारियों के पितामह श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा की, या तीन-तीन पीढ़ियों तक क्रान्ति-पथ के अनथक पथिकों की—जिनमें राजस्थान के केसरीसिंह बारहठ के परिवार और पंजाब में सरदार भगतसिंह के परिवार और उत्तर प्रदेश में रामप्रसाद बिस्मिल के परिवार शामिल हैं, उनकी—चर्चा नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि सन् १९२० तक, कम-से-कम उत्तर भारत में, स्वन्त्रता-संघर्ष में योगदान के लिए सिवाय आर्यसमाज के और कोई संस्था मैदान में नहीं थी। तब उत्तर भारत में कांग्रेस की जड़ जमाने वाले, या क्रान्तिकारी कार्यों में सहयोग देने वाले कोई थे, तो केवल आर्यसमाजी ही थे।

उसी युग में अंग्रेजों ने आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था करार देकर उस पर प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया था। सेना में आर्यसमाजियों की भर्ती पर प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया था। पर बाद में इसकी भयंकर और विपरीत प्रतिक्रिया की आशंका से, अपने उस निश्चय को अंग्रेज शासकों ने क्रियान्वित नहीं किया। फिर भी आर्यसमाजियों पर से सन्देह की सुई कभी नहीं हटी।

सन् १९२१ में जब महात्मा गांधी राष्ट्रीय रंगमंच पर आए, तो उन्होंने स्वतन्त्रता-संघर्ष का सारा रूप ही बदल दिया। उन्होंने सविनय असहयोग-आन्दोलन चलाया, जिसमें हिंसा का या छिपकर काम करने का कोई स्थान नहीं था। वह तो सत्य और अहिंसा पर आधारित खुल्लमखुल्ला सत्याग्रह था। स्वतन्त्रता-संघर्ष का

यह रूप बनते ही समस्त आर्यसमाज व्यष्टि और समष्टि रूप में स्वतन्त्रता-संघर्ष में कूद पड़ा। इसीलिए कांग्रेस के इतिहास-लेखक श्री पट्टाभि सीतारामैया को यह स्वीकार करना पड़ा कि कांग्रेस के स्वतन्त्रता-संघर्ष में ८० प्रतिशत व्यक्ति आर्य-समाजी थे, या आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित थे।

क्या स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्यसमाज के योगदान के सम्बन्ध में अब भी कुछ कहने को शेष है ?

ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन

(सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास के आधार पर)

अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि वेद में अनेक ईश्वरों का वर्णन है। पौराणिकों के विभिन्न सम्प्रदाय और उनमें पृथक्-पृथक् आराध्यदेवों का प्रचलन देखकर ही शायद उन्होंने यह धारणा बनाई हो। पौराणिकों के आचरण को देखकर उसे वेद पर आरोपित करने की भूल करने वालों में सबसे आगे हैं वे पाश्चात्य विद्वान् जिनके वेद-सम्बन्धी प्रभूत परिश्रम के आगे नत-मस्तक होकर भी, हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि वेद में अनेकेश्वरवाद (Polytheism) सिद्ध करने की उनकी चेष्टा दुष्चेष्टा-मात्र है।

वेद में अनेक ईश्वरों के वर्णन की कल्पना एक और भ्रम पर भी आधारित है। आजकल विज्ञान की प्रत्येक शाखा में प्रचलित विकासवाद के आधार पर सोचने वाले लोग यह समझते हैं कि एक ईश्वर की कल्पना बौद्धिक ज्ञान की पराकाष्ठा की द्योतक है, और वेद क्योंकि आदिम रचना है, इसलिए आदिकाल के लोगों की बुद्धि का विकास इतना नहीं हो सकता कि वे ईश्वर के एकत्व की कल्पना कर सकें। वे तो नदी-नालों, वृक्ष-वनस्पतियों, भूधरों, वर्षा, बादल, बिजली आदि प्राकृतिक विपर्ययों और भौतिक घटना-विलासों को ही देव समझकर पूजने लगे, या उन्हीं में ईश्वरत्व की बुद्धि रखने लगे। विकासवाद-जनित इसी कपोल-कल्पना के आधार पर इस्लाम के मतानुयायी यहाँ तक कहने लगे कि संसार के बड़े धर्मों में हमारा धर्म सबसे अर्वाचीन है, इसलिए वह परिपूर्ण धर्म (Perfect religion) है और इस परिपूर्णता की कसौटी यह है कि इस्लाम में एकेश्वरवाद पर सबसे अधिक बल दिया गया है। 'तौहीद की अमानत सीने में है हमारे'—कहकर इसी एकेश्वरवाद को इस्लाम का सबसे बड़ा वरदान स्वीकार किया गया है।

इस्लाम के इस एकेश्वरवाद की चकाचौंध से कुछ लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने यहाँ तक कहने में संकोच नहीं किया कि मध्यकाल में शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के दार्शनिक आधार पर ईश्वर के एकत्व का जो प्रचार किया, वह इस्लाम के और मुसलमान सूफियों के एकेश्वरवाद से ही प्रेरित होकर किया। ऐसा कहने वाले

भारतीय विद्वानों में पं० सुन्दरलाल, डॉ० ताराचन्द और केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री डॉ० हुमायूँ कबीर प्रभृति का नाम लिया जा सकता है।

ईश्वर एक है

जहाँ तक वेद का सम्बन्ध है, उसकी बात वेद के ही आधार पर कही जाए तो अच्छा है, क्योंकि अन्य ग्रन्थ के आधार पर कही हुई बात परतःप्रमाण होगी और उसके विवाद का विषय बन जाने की भी सम्भावना है। इसके अलावा वेद स्वयं इतना समर्थ है कि उसे अपनी बात की पुष्टि के लिए किसी अन्य ग्रन्थ की सहायता की आवश्यकता नहीं।

वेद ने स्वयं ही उक्त गुत्थी सुलझा दी है। ऋग्वेद का एक मन्त्र है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥

—ऋक्० १।१६४।४६

ज्ञानी लोग एक ही ईश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं—अग्नि, यम, मातरिश्वा, इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, गरुत्मान्—सब उसी एक ईश्वर के नाम हैं। [देखिए सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास—उसमें परमात्मा के इसी प्रकार के १०८ नामों की व्याख्या की गई है।]

इसी प्रकार **"य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति"** (ऋक्० १।७।९); **"य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे"** (ऋक्० १।८४।७); **"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्"** (यजु० ४०।१); **"भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः"** (अथर्व० २।२।१) इत्यादि अनेक मन्त्र चारों वेदों से उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनमें ईश्वर का एकत्व प्रतिपादित होता है। विशेष बात यह है कि जहाँ ईश्वर की एकता के प्रतिपादित सैकड़ों मन्त्र हैं, वहाँ ईश्वर की अनेकता को सिद्ध करने वाला एक भी मन्त्र प्रस्तुत करना कठिन है। इसी प्रसंग में अथर्ववेद (१३।४।२) के १६ से १८ तक के मन्त्र ध्यान देने योग्य हैं—

"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एक एव एकवृदेव एव।"

—उसे दूसरा, तीसरा और चौथा नहीं कह सकते। पाँचवाँ, छठा, सातवाँ भी नहीं कह सकते। आठवाँ, नवाँ और दसवाँ भी नहीं कह सकते। वह एक ही है, अकेला ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करने वाला है। वह एक ही है।

अनेकेश्वरवाद का खण्डन करने वाला और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करने वाला इससे अधिक स्पष्ट और प्रांजल वर्णन संसार के अन्य किसी धर्मग्रन्थ में नहीं मिल सकता—यह बात चुनौती देकर कही जा सकती है।

न सही अनेक ईश्वर, परन्तु वेद में अनेक देवताओं का तो वर्णन है?

इसे कोई अस्वीकार नहीं करता। वेद में अनेक देवताओं का वर्णन अवश्य है, किन्तु उपासना के योग्य ईश्वर सर्वत्र एक ही बताया गया हैं। जहाँ तक देव या देवता शब्द की बात है, वहाँ सर्वत्र समझना यह है कि 'देव' शब्द दिवु धातु से बनता है। उस दिवु धातु का व्याकरण-समस्त अर्थ है—क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति। अर्थात्, जिस किसी पदार्थ में इनमें से किसी भी गुण-विशेष का आधिक्य हो, वही देव कहलाएगा। संक्षेप से कह सकते हैं कि दिव्य गुण को धारण करने वाली प्रत्येक वस्तु देव कोटि में आती है। पृथिवी, अग्नि, वायु, जल, चन्द्र, सूर्य आदि सब देव हैं क्योंकि विशिष्ट गुणों को धारण करने वाले हैं। विद्वानों को भी देव कहते हैं, क्योंकि वे अपनी विद्या के बल पर चमकते हैं। देववाची प्रत्येक शब्द प्रकारान्तर से परमात्मा का भी वाची होता है, क्योंकि आखिर सब देवों का अधिष्ठाता तो वही है। कौन-सा देववाची शब्द किस स्थान पर परमात्मा का वाचक है और किस स्थान पर अन्य पदार्थ का, इसका निर्णय प्रकरण के अनुसार करना होगा। देवता के अनेक होने पर भी आराध्यदेव केवल ईश्वर है और वह सब देवों का अधिष्ठाता है—वेद का यही सिद्धान्त है और इसमें कहीं शंका का स्थान नहीं है।

तैंतीस देवता

यजुर्वेद में जो तैंतीस देवताओं का वर्णन आता है उसकी व्याख्या शतपथ के अनुसार इस प्रकार है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति (८+११+१२+१+१=३३) ये तैंतीस देवता हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र—ये आठ वसु हैं, क्योंकि ये समस्त सृष्टि के वास-हेतु हैं; इनके बिना सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और जीवात्मा—ये ग्यारह रुद्र हैं क्योंकि जब ये शरीर को छोड़कर जाने लगते हैं तो सबको रुलाते हैं। संवत्सर के बारह मास चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन बारह आदित्य हैं क्योंकि ये सबकी आयु को लेते जाते हैं। इन्द्र है बिजली—अन्तरिक्ष में यह वृष्टि की जनक है और भूलोक में वैज्ञानिक क्रान्ति की जनक है; इसीलिए ऋषि ने इसे परमैश्वर्य का हेतु बताया है। बिना उद्योगों के राष्ट्र समृद्ध नहीं हो सकता और बिना बिजली के उद्योगों का विस्तार नहीं हो सकता। उद्योगीकरण से राष्ट्र को ऐश्वर्यशाली बनाने के लिए ही बिजली की अधिकाधिक आवश्यकता है और इसीलिए इस दिशा में इतना प्रयत्न किया जाता है। प्रजापति है यज्ञ। यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहा है कि यज्ञ के द्वारा ही वायुमण्डल की शुद्धि, वृष्टि, जल और ओषधि की शुद्धि होती है तथा

विद्वानों के संगतिकरण से अनेक शिल्प-विद्याओं का विकास होता है, और ये ही सब प्रजापालन में सहायक हैं।

क्या ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है ?

आप देवताओं की व्याख्या के चक्कर में पड़े हैं, परन्तु हम तो सब देवों के देव —ईश्वर—की सत्ता को ही अस्वीकार करते हैं। क्या ईश्वर का अस्तित्व किसी तरह सिद्ध किया जा सकता है ?

यों तो ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अन्य अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जा सकती हैं, किन्तु इस समुल्लास में ऋषि ने अद्भुत ढंग से ईश्वर की सत्ता सिद्ध की है। जितने वैज्ञानिकम्मन्य लोग हैं, वे यह कहते हैं कि हम तो केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, अप्रत्यक्ष वस्तुतत्त्व में हमारी आस्था नहीं। प्रयोगशाला में बैठकर अपनी इच्छानुसार जिस पदार्थ को तोड़ने-फोड़ने, घटाने-बढ़ाने और जिसकी क्रिया-प्रतिक्रिया को जाँचने की सुविधा वैज्ञानिक को न मिले, उस पदार्थ की सत्ता में वह विश्वास करे भी कैसे ? न्यूट्रोन, प्रोटोन और इलेक्ट्रोन जैसे सूक्ष्म तत्त्वों तक पहुँचकर तो उसका 'अहम्' और भी फूल गया। वैज्ञानिक यह समझने लगा कि अणुबम बनाकर सृष्टि का संहार करने की कुंजी मैंने अपनी मुट्ठी में बन्द कर ली, इसलिए इस सृष्टि का कर्ता-धर्ता-संहर्ता मेरे सिवाय और कौन हो सकता है ?

ऋषि ने कहा कि ईश्वर का भी प्रत्यक्ष होता है। ईश्वर प्रत्यक्ष न होने की जिस युक्ति के भरोसे नास्तिकों के सब सम्प्रदाय और आधुनिक वैज्ञानिकगण मन में फूले नहीं समा रहे थे, ऋषि ने उसकी जड़ ही काट दी।

ईश्वर का प्रत्यक्ष कैसे होता है, अब यह देखिए।

न्यायदर्शन के अनुसार, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो निर्भ्रान्त और निश्चयात्मक ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियाँ हैं—आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा तथा मन। आँख से रूप का अनुभव होगा, नाक से गन्ध का, कान से शब्द का, जिह्वा से रस का और त्वचा से स्पर्श का। अब रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तो गुण हैं, किन्तु जब इन्द्रियों का इन गुणों से सन्निकर्ष होता है, तब हम आत्मायुक्त मन से गुणी का प्रत्यक्ष करते हैं। विज्ञान की दृष्टि से पदार्थ उसको कहते हैं जिसमें भार हो और जो स्थान घेरे। इस व्याख्या के अनुसार जैसे रूप-रस आदि पदार्थों के गुण हैं, वैसे ही भार होना या स्थान घेरना भी गुण है; स्वयं पदार्थ नहीं। रूप-रस आदि का तो कोई भार भी नहीं होता, न ही वे स्थान घेरते हैं। समस्त संसार में जितने भी पदार्थ हैं उन सबके गुणों का ही सम्पर्क हमारी इन्द्रियों के साथ होता है और उन गुणों के सम्पर्क से ही हम कहते हैं कि हमें अमुक पदार्थ अर्थात् गुणी का प्रत्यक्ष हो जाएगा। जिस प्रकार हम सामान्य

व्यवहार में गुण से गुणी का प्रत्यक्ष करते हैं, उसी प्रकार इस समग्र सृष्टि-रचना-चातुरी को देखकर इसके रचयिता अर्थात् गुणी परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। यदि कहा जाए कि परमात्मा का इस प्रकार प्रत्यक्ष हम नहीं मानते, तो लोक में भी किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं; यदि लोक में किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष सम्भव है—जिससे न चार्वाक इन्कार करते हैं, न विज्ञान को सर्वेसर्वा समझने वाले कम्युनिस्ट तथा अन्य नास्तिक – तो सृष्टि को देखकर सृष्टिकर्ता का भी प्रत्यक्ष मानना ही होगा। सृष्टि-रचना में कहीं चातुरी नहीं है, इस बात से कट्टर-से-कट्टर नास्तिक भी इन्कार नहीं कर सकता। चातुरी गुण है और वह गुणी का प्रत्यक्ष करवाने में प्रमाण है।

एक अन्य युक्ति

ईश्वर की सत्ता में एक और अकाट्य युक्ति है। नास्तिक लोग ईश्वर की सत्ता से भले ही इन्कार करें, किन्तु जीवात्मा की सत्ता से इन्कार करना उनके बस की बात नहीं। जीवात्मा की सत्ता का निषेध करना तो एक तरह से अपनी ही सत्ता का निषेध करना हुआ, और अहम्भाव से ओत-प्रोत वैज्ञानिकम्मन्य ऐसा कैसे कर सकता है? प्रश्न यह है कि जब मनुष्य परोपकार का या भलाई का कोई काम करने लगता है, तब उसके मन में भलाई के लिए उत्साह और प्रेरणा कहाँ से पैदा होती है? और जब मनुष्य कोई अनाचार या बुराई का काम करने लगता है, तब उसके मन में भय, शंका और लज्जा की भावना कौन पैदा करता है? मनुष्य का मन तो सदा पानी की तरह नीचे की ओर, पतन की ओर जाने के लिए उद्यत रहता है, उत्थान के पथ पर बढ़ने की उमंग उसमें कहाँ से पैदा होती है? कहना नहीं होगा कि यह काम परमात्मा की ओर से होता है। जीवात्मा तो इस विषय में सर्वथा तटस्थ है, बल्कि मन की गति के साथ ही चलने की ओर उसका झुकाव अधिक रहता है। अच्छाई की प्रेरणा और बुराई से संकोच ऐसी सार्वत्रिक भावना है कि पापी से पापी आदमी भी इसकी सचाई से मना नहीं कर सकता। परम दार्शनिक, परम वैयाकरण और साहित्यिक योगिराज भर्तृहरि ने इसीलिए ईश्वर की सिद्धि का एकमात्र प्रमाण **'स्वानुभूत्येकमानाय'** कहकर दिया है, अर्थात्—ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण अपनी अनुभूति है। और जिसको एक बार अच्छाई के प्रेरक और बुराई के निवारक प्रभु की सत्ता की अनुभूति हो गई है, सारा संसार भी अपने तर्कजाल के अम्बार के बल पर उसे अनुभूति से विरत नहीं कर सकता। यही अनुभूति महापुरुषों को संघर्षों का और विपरीत परिस्थितियों का मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करती है।

ईश्वर सर्वव्यापक है

अच्छा मान लिया कि ईश्वर है, किन्तु वह रहता कहाँ है ? कोई कहता है कि वह गोलोक में रहता है, कोई कहता है कि क्षीरसागर में शयन करता है, कोई कहता है कि कैलास पर निवास करता है। कुछ लोग चौथे आसमान पर और अन्य लोग सातवें आसमान पर उसका निवास बताते हैं। आखिर जब ईश्वर है तो कहीं-न-कहीं रहता भी होगा।

रहता क्यों नहीं ? रहता है, किन्तु कहीं या किसी एक स्थान पर नहीं रहता, ईश्वर सब स्थानों पर रहता है। कभी भी किसी ऐसे स्थान की कल्पना नहीं की जा सकती जहाँ ईश्वर न हो। वह सर्वव्यापक है। किसी स्थान-विशेष पर उसकी कल्पना करने से वह एकदेशी हो जाएगा। जो एकदेशी होगा वह सर्वव्यापक नहीं हो सकता। जो सर्वव्यापक होगा वह एकदेशी नहीं हो सकता। दोनों परस्पर-विरोधी बातें हैं। जिन लोगों ने परमात्मा को किसी एक स्थान पर प्रतिष्ठित माना है, वे प्रकारान्तर से उसके सर्वव्यापक होने का खण्डन करते हैं। किसी एक स्थान पर होने का अर्थ ही यह है कि वह उससे भिन्न स्थान पर नहीं है। जो यहाँ है और वहाँ नहीं, या वहाँ है और यहाँ नहीं, वह सर्वव्यापक कैसा ?

क्या ईश्वर साकार है ?

इसके साथ ही प्रश्न जुड़ा हुआ है कि परमात्मा साकार है या निराकार ?

ईश्वर को साकार मान लेना जितना आसान है उतना ही कठिन है उसे साकार सिद्ध करना। जो साकार है, वह सर्वव्यापक कैसे हो सकता है ? जो व्यापक नहीं, वह सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता, सर्वान्तर्यामी भी नहीं। जिसका आकार होगा, वह परिमित होगा और परिमित वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित होंगे। परिमित वस्तु को सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, रोग, शोक और छेदन-भेदन का भी शिकार होना पड़ेगा। इसलिए ईश्वर न परिमित है, न ही साकार। साकार हो तो उसका कुछ-न-कुछ आकार होगा; वह लम्बा, चौड़ा गोल, चपटा—कुछ तो होगा ही; उसका आयतन और आयाम दोनों ही मानने होंगे। और आयतन और आयाम दोनों मानते ही वह भारवान् और विस्तारवान् भौतिक-पिण्डमात्र रह जाएगा।

यदि लम्बाई-चौड़ाई वाला कोई ज्यामितिक और भौतिक पिण्ड नहीं, तो क्या वह मानवाकृति वाला कोई पदार्थ है ? "God made the man in His own image"—परमात्मा ने मनुष्य को अपनी नकल पर बनाया—यह कहने वाले समझते हैं कि असल भी नकल से मिलता-जुलता ही होना चाहिए, अर्थात् परमात्मा की भी आदमी-जैसी ही शक्ल है। परमात्मा को अवतार लेने वाला

बताने वाले भी ईश्वर की आदमी-जैसी ही शक्ल मानते हैं,—वैसे ही आँख, कान, नाक आदि सभी अवयव। ईसा को परमेश्वर का पुत्र मानने वाले ईसाई, हजरत मुहम्मद साहब को खुदा का भेजा हुआ खास पैगम्बर मानने वाले मुसलमान, या राम और कृष्ण आदि के रूप में परमात्मा का अवतार मानने वाले पौराणिक बन्धु —ये सब इस दृष्टि से समान हैं। इन सबके मन में परमात्मा मनुष्याकृति वाला है और वैसे ही हस्तपादादि अवयवों से संयुक्त है। वेद में भले ही **'अज एक पात्'** कहकर प्रभु को अजन्मा और **"सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्"** कहकर उसे शरीर-रहित और नस-नाड़ी से रहित बताया गया हो, एवं भले ही उपनिषदों में उसे **"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता स पश्यत्यचक्षुः सः शृणोत्यकर्णः"** कहकर उसे हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों और चक्षु-श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से रहित बताया गया हो, किन्तु एक अन्ध-परम्परा चल पड़ी है और उसी के अनुसार लाखों-करोड़ों लोग अवतारवाद के अभिशाप से ईश्वर के मानवाकृति होने के भ्रम से निकल नहीं पाते। अवतारवाद को सबसे अधिक प्रश्रय देने वाला गीता का यह श्लोक है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ [अ० ४।७]

—श्रीकृष्ण जी कहते हैं कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म का विकास होता है, तब-तब मैं अपने-आपको पैदा करता हूँ (शरीर धारण करके अवतार ग्रहण करता हूँ)।

गीता का उचित स्थान

यहाँ गीता के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना पर्याप्त है कि वह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर महाभारत का एक अंशमात्र है, इसलिए उसकी प्रामाणिकता भी उतनी ही है जितनी महाभारत की। इसीसे यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि गीता के सम्बन्ध में जो यह प्रवाद प्रचलित है कि उसमें श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए वचन हैं (**"या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता"**), उसमें कोई तथ्य नहीं है। जिस तरह शेष महाभारत, जिसका असली नाम 'जय' है और जिसमें मूलतः केवल आठ हजार श्लोक थे, महर्षि व्यास की कृति है, वैसे ही गीता भी महर्षि व्यास की ही रचना है। पूछा जा सकता है कि फिर गीता की इतनी लोकप्रियता का रहस्य क्या है? इसका उत्तर हम यह देंगे कि जिस प्रकार महात्मा गांधी के सर्व-धर्म-समन्वयवाद ने सभी धर्मावलम्बियों को अविरोध भाव से एकत्र होने की प्रेरणा दी और इसीलिए लोक-संग्रह की दृष्टि से महात्मा गांधी सबसे अधिक सफल और लोकप्रिय नेता कहे जा सकते हैं, वैसे ही, गीता में सभी दार्शनिक सम्प्रदायों का ऐसा अद्भुत समन्वय है कि सभी को उसमें अपने पक्ष का पोषण मिल जाता है। इसीलिए गीता अपने चारों ओर इतना लोक-संग्रह कर सकी। दार्शनिक विवेचना

करने वालों को गीता में परस्पर-विरोधी बातें भी मिल जाएँगी, पर एक ही साथ 'रामाय स्वस्ति' और 'रावणाय स्वस्ति' कहने वाले के पीछे जैसे राम और रावण दोनों के अनुयायी चलने को तैयार हो जाएँगे, बहुत-कुछ वही हाल गीता का भी है।

श्लोक का अर्थ

यदि समाजशास्त्र की दृष्टि से गीता के उक्त श्लोक की व्याख्या की जाए तो उसमें एक ऐसे ऐतिहासिक सत्य का उद्‌घाटन है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान का अर्थ यह समझा जा सकता है कि जब-जब किसी जाति का सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से अधः-पतन हो जाता है, तब-तब उसमें ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं जो उस जाति को पतन के गर्त से निकालकर उन्नति के शिखर पर ले-जाने का प्रयत्न करते हैं। इतिहास की शिक्षा यही है कि कोई भी महापुरुष जन्म से महापुरुष नहीं होता, किन्तु अपने समय की परिस्थितियाँ ही उसे महापुरुष बनाती हैं। पराधीन भारत में दयानन्द, गांधी, तिलक, विवेकानन्द, रवीन्द्र, सुभाष प्रभृति जैसे नररत्न पैदा हुए, क्या वैसे नररत्नों की कल्पना स्वाधीन भारत में की जा सकती है? जितनी तीव्र क्रिया होगी, उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया होगी— यह विज्ञान का सिद्धान्त है। भारत का जितना तीव्र अधःपतन हुआ था उसी का यह परिणाम था कि उसने अनेक ऐसी विभूतियों को जन्म दिया जो केवल भारतवन्द्य नहीं प्रत्युत विश्ववन्द्य हैं। दुःख को इसीलिए रसायन कहा जाता है।

यदि इस श्लोक का मनोविज्ञान-परक अर्थ किया जाए तो उसे यों समझा जा सकता है कि अपने चारों ओर धर्म को घटता और अधर्म को बढ़ता देखकर किसी दृढ़संकल्प धर्मात्मा व्यक्ति के मन में यह भाव आ सकता है कि मैं अधर्म का नाश करके धर्म का राज्य स्थापित करूँगा। यह भी एक शाश्वत सामाजिक प्रवृत्ति है जो सभी धार्मिक महापुरुषों के जीवन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रवृत्ति को हृदयंगम किये बिना विभिन्न देशों में पैदा हुए विभिन्न महापुरुषों के जीवन की व्याख्या की ही नहीं जा सकती। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है। इसीलिए इस श्लोक से अवतारवाद सिद्ध करने वालों को उत्तर देते हुए ऋषि ने लिखा है कि "वेद-विरुद्ध होने से अवतार लेने की बात प्रमाण नहीं मानी जा सकती। किन्तु ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेकर श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो इसमें कुछ दोष नहीं।" "**न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।**" मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, मोक्ष भी कहीं, किन्तु दुःख से सन्तप्त नर-नारियों का दुःख नाश करने के लिए इस लोक में जन्म ग्रहण करना चाहता हूँ—यही तो सत्पुरुष की असली मनोभावना है। और यह कितनी प्रबल होती है, इसकी कल्पना

इसीसे की जा सकती है कि दु:खीजनों के दु:ख-नाश के लिए वह राज्य, स्वर्ग, मोक्ष सभी को तिलांजलि देने को तैयार है। मोक्ष न चाहने से ही यह अर्थ स्वयं निकल आता है कि मैं इस लोक में जन्म ग्रहण करना चाहता हूँ।

जैसे वेद को समझने के लिए वेद स्वयं सहायक है, वैसे ही गीता ने भी बहुत बार अपनी गुत्थियाँ अपने-आप खोल दी हैं। उक्त श्लोक में यही तो कहा है न—**'तदात्मानं सृजाम्यहम्'**—यहाँ **'आत्मानं'** शब्द का क्या अभिप्राय है, यह गीता से ही पूछना चाहिए। जिस व्यक्ति ने गीता में—**'तदात्मानं सृजाम्यहम्'** लिखा, उसी ने लिखा है : **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**—अर्थात् योगी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ। अब **'तदात्मानं सृजाम्यहम्'** में **'आत्मानं'** शब्द के स्थान पर **'ज्ञानिनम्'** शब्द रखकर देखिए—**'तदा योगिनं सृजाम्यहम्'** का अर्थ होगा—मैं ज्ञानी को पैदा करता हूँ। (यहाँ **'सृजामि'** शब्द को **'लुप्तणिजन्त'** प्रयोग मानना होगा, अर्थात् **'सर्जयामि'** के स्थान पर **'सृजामि'** शब्द का प्रयोग हुआ है।) यदि **'सृजामि'** को **'सर्जयामि'** मानने में बाधा हो और उक्त श्लोक को श्रीकृष्ण के ही मुख का वचन मानना हो तो अर्थ यह हो जाएगा कि "योगी के रूप में मैं जन्म लेता हूँ।"

अब जरा पूरे श्लोक का अर्थ देखिए, "जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं किसी योगी (महापुरुष) को पैदा करता हूँ।"—यह अर्थ समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से सर्वथा सुसंगत है। या दूसरा अर्थ यह होगा—जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब कोई योगी (मैं) पैदा होता है (हूँ)। यह अर्थ मनोविज्ञान की दृष्टि से सुसंगत है। इससे अधिक वैज्ञानिक दृष्टि-कोण और क्या हो सकता है!

तर्क से अवतारवाद का खण्डन

इस प्रकार किसी प्रमाण से अवतारवाद के सिद्ध होने की सम्भावना नहीं। रही तर्क की बात, क्या तर्क से अवतार सिद्ध किया जा सकता है? यह और भी कठिन है। जब एक बार ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और निरा-कार मान लिया, तब तर्क से ईश्वर का अवतार कैसे सिद्ध किया जा सकता है? जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह आकार ग्रहण करने के लिए माँ के पेट में एक-स्थानबद्ध कैसे रहेगा? फिर जो जन्म लेगा वह मरेगा भी अवश्य। जो जन्म और मरण, दोनों के चक्कर में पड़ा वह सामान्य मनुष्य ही होगा, ईश्वर नहीं। कहा जाता है कि राक्षसराज रावण और पापी कंस को मारने के लिए राम और कृष्ण के रूप में ईश्वर को अवतार लेना पड़ा। कैसी बचकानी-सी बात है! सोचिए, किसी चीज को बनाना अधिक आसान होता है या बिगाड़ना? जिस इमारत को सैकड़ों मजदूर मिलकर महीनों तक परिश्रम करके बनाते हैं, उसी को चन्द मजदूर चन्द दिनों में गिराकर रख देंगे। मानना ही होगा कि बिगाड़ने की अपेक्षा बनाना

कहीं कठिन कार्य है। सो रावण और कंस जैसे व्यक्तियों को, फिर वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों, पैदा करने के लिए यदि ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी तो उन्हें मारने के लिए अवतार लेने की आवश्यकता क्यों पड़ती ? जो ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जैसे महान् कार्यों को करता है, उसको किसी एक व्यक्ति का नाश करने के लिए भी अवतार लेना पड़े, इससे तो ईश्वर का नहीं, किन्तु रावण और कंस का ही गौरव बढ़ता है। तब तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं, रावण ही हुआ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है

वाह ! जब ईश्वर को सर्वशक्तिमान् कहते हो, अर्थात् वह सब-कुछ कर सकता सकता है, तो फिर अवतार ग्रहण क्यों नहीं कर सकता ?

यह भी एक बड़ा विचित्र भ्रम लोगों में फैला हुआ है। जिस प्रकार पौराणिक बन्धु परमात्मा को सर्वशक्तिमान् कहकर **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** अर्थात् करे, न करे, या विपरीत करे—की सामर्थ्य ईश्वर में मानते हैं, वैसे ही किरानी और कुरानी भी मानते हैं। निस्सन्देह पुराणियों से ही यह मनोवृत्ति किरानी और कुरानियों में गई है। जब ईसाई या मुसलमान कहते हैं कि हमारे पैगम्बर पर ईमान लाओ और उसकी सिफारिश से खुदा तुम्हारे सब गुनाह माफ कर देगा, तब वे भी परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता का यही अर्थ समझते हैं कि ईश्वर सब-कुछ कर सकता है तो पापों को क्षमा क्यों नहीं कर सकता ? प्राय: आर्यसमाज के साथ अन्य मतावलम्बियों का जब शास्त्रार्थ होता है तब बहुधा इस शब्द पर खूब विवाद होता है। परन्तु वे यह नहीं समझते कि ईश्वर की महत्ता सृष्टि के नियमों का उल्लंघन करने में नहीं, किन्तु सबसे उन नियमों का पालन करवाने में है। यदि नियामक ही नियमों का उल्लंघन करने लगे तो वह नियामक कहाँ रहा ?

यों समझिए—राष्ट्र का संविधान एक बार बन गया, अब उस संविधान की अवहेलना न राजा कर सकता है, न प्रजा। यदि कोई भी उसका उल्लंघन करेगा तो उच्चतम न्यायालय उसे तुरन्त अवैध ठहरा देगा और अवैध आचरण करने वाले का स्थान जेल के अन्दर होगा। यदि कर्म करने की स्वतन्त्रता के अधिकार की दुहाई चोर-डाकू भी देने लगें तो किसी भी राज्य में न्याय और व्यवस्था कायम नहीं रह सकती। इसी प्रकार **'विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया'** —ईश्वर की इच्छा से चाहे जब अमृत विष बन जाए या विष अमृत बन जाए; तब संसार के जितने भी डॉक्टर हैं वे किसी भी रोग का उपचार न कर सकें। सृष्टि-रचना का, सृष्टि में उत्पन्न हुए प्रत्येक पदार्थ का एक विशेष नियम अथवा प्रयोजन है; उसी को सृष्टि-रचना का संविधान कहिए। सृष्टि के आदि में स्वयं ईश्वर ने ही वह संविधान बना दिया। उस संविधान का उल्लंघन न ईश्वर स्वयं

कर सकता है और न ही उसकी प्रजा। राष्ट्रों के संविधान में सरकारों की इच्छा के अनुकूल संशोधन भी होते रह सकते हैं, किन्तु ईश्वर के सृष्टि-रचना के संविधान में संशोधन भी नहीं हो सकता। जो है, सो है। क्योंकि संशोधन अपूर्णता का द्योतक है, और ईश्वर के संविधान में अपूर्णता हो नहीं सकती, इसलिए उसमें संशोधन भी नहीं हो सकता। ईश्वरीय संविधान तो सदा एक-जैसा ही रहेगा। ईश्वर की सार्थकता इसी में है कि जितने ग्रह-नक्षक्ष हैं और चराचर जगत् है, वे सब उसी के बनाए नियमों में गति करते रहें। यदि कहीं नियम का उल्लंघन हो गया तो सृष्टिचक्र में व्याघात पड़ जाएगा।

उदाहरण के लिए गणित का नियम है, दो और दो चार होते हैं। यह नियम सार्वत्रिक है; इसे न मैं तोड़ सकता हूँ, न ईश्वर तोड़ सकता है। मैं तोड़ूँगा तो मुझे व्यवहार में कठिनाई होगी, यदि परमात्मा तोड़ेगा तो उसके समस्त सृष्टिचक्र में व्याघात उपस्थित होगा। ऐसे ही कार्य-कारण का सिद्धान्त है, अर्थात् कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। इसे जैसे मैं नहीं तोड़ सकता, वैसे ही परमात्मा भी नहीं तोड़ सकता। इस नियम के टूटने पर अणुओं के घात-संघात और पदार्थों की क्रिया-प्रतिक्रिया में अव्यवस्था हो जाएगी और Cosmos के स्थान पर बहुत बड़ा Chaos उपस्थित हो जाएगा।

सर्वशक्तिमान् का अर्थ

कभी-कभी बड़े मनोरंजक प्रश्न भी इसी सिलसिले में किये जाते हैं। जैसे, परमात्मा अपने-जैसा दूसरा परमात्मा बना सकता है या नहीं? यदि कहें कि नहीं बना सकता तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं रहा। यदि कहें कि बना सकता है, तो ईश्वर एक नहीं रहा, दो हो गए। और जो दूसरा ईश्वर बनेगा भी, वह हू-ब-हू पहले जैसा नहीं होगा, क्योंकि वह नकल ही होगी। यदि नकल को असल से बिलकुल मिला भी दिया, तब भी दूसरा बना हुआ ईश्वर पहले ईश्वर से हजारों साल आयु में छोटा होगा, क्योंकि पहला ईश्वर सृष्टि के आदिकाल से चला आ रहा है और दूसरा ईश्वर उसके हजारों सालों बाद प्रश्नोत्तर-काल के समय बनाया गया। इसी तरह का दूसरा प्रश्न है—जैसे बच्चे खेल में मिट्टी-गारे से इतनी बड़ी ईंट बना लेते हैं कि वह उनसे भी नहीं उठती, क्या ऐसे ही ईश्वर भी इतनी बड़ी ईंट बना सकता है जो उससे भी न उठे? यदि कहें कि नहीं बना सकता, तो वही न बना सकने की अशक्ति वाली बात आ गई। यदि कहें कि बना सकता है तो, न उठा सकने की बात आ गई। सर्वशक्तिमान् वह दोनों तरह नहीं रहा—न हाँ कहने से, न ना कहने से। एक तीसरा प्रश्न है—मेरी इच्छा के विरुद्ध यदि मेरा नौकर काम करे तो मैं उसे अपने घर से बाहर निकाल दूँगा, किन्तु यदि मैं ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध आचरण करूँ तो क्या परमात्मा मुझे अपने घर से बाहर निकाल सकता है? यदि

ना कहे तो सर्वशक्तिमान् नहीं रहा, यदि हाँ कहे तो सर्वव्यापक नहीं रहा। आखिर परमात्मा मुझे अपने घर से बाहर निकालेगा कहाँ ? क्या कहीं ऐसा स्थान है जहाँ परमात्मा न हो ?

इसी को कहते हैं **'उभयतः पाशा रज्जुः।'**—न हाँ कहने से छुटकारा मिले, न ना कहने से--दोनों ओर से गले में फन्दा। इसी प्रकार से अन्य अनेक मनोरंजक प्रश्न किये जा सकते हैं। इन सब फाँसियों से बचने का केवल वही उपाय है जो ऋषि ने बताया है; अन्य कोई नहीं। अर्थात् सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह नहीं कि परमात्मा सब-कुछ कर सकता है, बल्कि उसका अर्थ केवल इतना है कि परमात्मा के करने के जो काम हैं, अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय–इनके करने में वह स्वयं इतना समर्थ है कि उसे किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा नहीं।

सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी

सर्वशक्तिमान् के साथ ही दूसरा शब्द आता है—सर्वज्ञ। यदि परमात्मा सर्वज्ञ है अर्थात् वह सब-कुछ जानता है, तो वह अपना अन्त भी जानता होगा ? यह प्रश्न भी शास्त्रार्थोपयोगी ही है। ज्ञान उसको कहते हैं जो यथार्थ हो, अर्थात् जो चीज जैसी हो उसे वैसा ही जानना ज्ञान है; इसके विपरीत अज्ञान है। ईश्वर क्योंकि अनन्त है, इसलिए उसे अनन्त समझना ही ज्ञान है; इसके विरुद्ध समझना अर्थात् परमात्मा को सान्त समझना या नाशवान् भौतिक पदार्थों को अनन्त समझना अज्ञान है। योगदर्शन के अनुसार **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'**–ईश्वर अविद्यादि क्लेशों से रहित और इष्ट-अनिष्ट या मिश्रित फलदायक कर्मों की वासना से रहित और सब जीवों से विशिष्ट है, इसलिए सामान्य जीवों की तरह मरण द्वारा परमात्मा का जन्मान्तर नहीं होता। इस प्रकार उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं बनता कि वह अपना अन्त जानता है या नहीं।

सर्वज्ञ का एक अर्थ है त्रिकालदर्शी, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों को एक-साथ प्रत्यक्ष देखने वाला। यहाँ यह प्रश्न होता है कि ईश्वर यदि त्रिकालदर्शी है तो वह यह भी जानता है कि जीव भविष्य में क्या करेगा। इससे जीव का भावी कर्म ईश्वर के ज्ञान से बँध (Conditioned) गया। फिर जीव स्वतन्त्र कहाँ रहा ? जीव भविष्य में जो कर्म करेगा, यदि परमात्मा को उसका पहले से ही ज्ञान है, तो जीव ने एक तरह से वही काम किया जो ईश्वर ने अपने ज्ञान द्वारा उसके लिए पहले से निश्चित कर दिया, फिर किसी पाप-कर्म के लिए बेचारे जीव को दण्ड क्यों ? यदि दण्ड मिलना ही हो तो परमात्मा को ही मिले। न परमात्मा वैसा जानता, न जीव वैसा कर्म करता।

एकरस काल

यहाँ भी थोड़ा-सा भ्रम है। काल के जो तीन विभाग हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—ये केवल आपेक्षिक परिभाषाएँ (Relative Terms) हैं। मुझे अपने घर की छत पर चढ़कर जितनी दूर तक का प्रदेश दिखाई देता है, यदि मैं हवाई जहाज में बैठकर देखूँ तो उसकी अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत प्रदेश का अवलोकन कर सकता हूँ। उपग्रह में बैठकर अन्तरिक्ष की यात्रा करने वाले गागारिन और तेरेशकोवा जैसे यात्रियों को सारी पृथिवी भी एक-साथ दीख जाती है। जैसे समीप और दूर की परिभाषाएँ सापेक्ष हैं, वैसे ही भूत और भविष्य की परिभाषाएँ भी सापेक्ष हैं। देश (Space) की दृष्टि से जिसे समीप और दूर कहते हैं, उसी को काल (Time) की दृष्टि से वर्तमान तथा भूत और भविष्यत् कहते हैं।

यदि दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करने बैठ ही जाएँ तो काल के उक्त तीनों खण्डों का अस्तित्व सिद्ध करना कठिन हो जाएगा। देखिए—भूत क्या है? जो वर्तमान बीत चुका है, वही भूत है। और जो वर्तमान आगे आने वाला है, वही भविष्यत् है। इस तरह भूत और भविष्यत् दोनों वर्तमान पर आधारित हैं। एक तरह से यह कहा जा सकता है भूत और भविष्यत् वर्तमानरूपी नदी के दो तट हैं। यदि नदी नहीं, तो दोनों तट भी नहीं रहेंगे। अब वर्तमान पर विचार करिए कि वह क्या है? वर्तमान का कुछ अंश भूत है और कुछ अंश भविष्य—जिस क्षण को आप वर्तमान कहना चाहते हैं उसका भी कुछ अंश बीत चुका है और कुछ अंश आगे आने वाला है—आपके कहते-कहते और आपके पकड़ते-पकड़ते वर्तमान का क्षण फिसलकर भूत और भविष्यत् की कोटि में पहुँच जाता है, अर्थात् वर्तमान वर्तमान नहीं रहता। और जब आपका वर्तमान ही टिक नहीं पाता, तब उस वर्तमान के आधार पर चलने वाले आपके भूत और भविष्यत् कहाँ टिकेंगे? जब वर्तमान की ही नदी सूखी पड़ी है तब उसके भूत और भविष्यत् नामक दोनों तटों पर हरियाली कहाँ से आएगी? इसलिए कहना चाहिए काल अखण्ड और एकरस है। भूत और भविष्यत् की परिभाषाएँ केवल अल्पज्ञ जीव के लिए हैं। जीवों के कर्मों की अपेक्षा से ही परमात्मा को त्रिकालज्ञ या त्रिकालदर्शी कहा जा सकता है। स्वतः परमात्मा के लिए त्रिकाल नहीं हैं—केवल एक ही महाकाल है और वह सदा उसके लिए वर्तमान ही है।

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र

इससे न जीव के कर्म करने की स्वतन्त्रता में बाधा आती है, न ही परमात्मा की सर्वज्ञता में। जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही परमात्मा जानता है, और वैसा ही वह फल देता है। परमात्मा का जैसे जीव के कर्म का ज्ञान अनादि है, वैसे ही

जीव द्वारा किये गए कर्म के फल का ज्ञान भी अनादि है। ये दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। सार-रूप से यह कहा जा सकता है कि जीव अल्पज्ञ केवल वर्तमान को जानने वाला और कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है; और परमात्मा सर्वज्ञ—सब कालों को जानने वाला और जीव को कर्मानुसार फल देने में स्वतन्त्र है। परमात्मा की कर्मानुसार फल देने की स्वतन्त्रता भी उच्छृङ्खलता नहीं है, अर्थात् न तो वह पाप क्षमा करता है, न ही पुण्य के लिए दण्ड देता है और न ही पाप को पुरस्कृत करता है। जैसा जिसका कर्म, वैसा उसका फल। परन्तु जीव यदि यह चाहे कि मेरे पाप-कर्म का फल मुझे न मिले, जैसा कि आमतौर से लोग चाहते हैं, तो यह असम्भव है। कर्म का फल तो भोगना ही होगा! किस कर्म का कौन-सा फल मिलेगा—यह ईश्वराधीन है और ईश्वर अपने बनाए संविधान के अधीन है।

अद्वैतवाद का खण्डन

इस समुल्लास में ऋषि ने जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाले अद्वैतवादियों का जिस विद्वत्तापूर्ण ढंग से खण्डन किया है, वह भी देखते ही बनता है। सुपठित भारतीय विद्वानों और साधु-सम्प्रदाय में अद्यापि इस वाद की बहुत मान्यता है, परन्तु जिस आधार पर जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित की जाती है, जैसे वह आधार निस्सार है वैसे ही उनके तर्क भी। परमात्मा के एकत्व के प्रति जो बौद्धिक रुझान आजकल दृष्टिगोचर होता है, उसी का यह परिणाम है कि जीव और ब्रह्म को एक बताने वाली फिलॉसफी आजकल बुद्धिवादी लोगों को अपनी ओर खींचती है। अद्वैतवादी जिन चार वाक्यों पर सबसे अधिक जोर देते हैं, वे चार वाक्य ये हैं—

प्रज्ञानं ब्रह्म ॥१॥ अहं ब्रह्मास्मि ॥२॥ तत्त्वमसि ॥३॥ अयमात्मा ब्रह्म ॥४॥

इन चारों वाक्यों को वे वेद-वाक्य या महाकाव्य बताते हैं; परन्तु इन चारों में से एक भी वेद-वाक्य नहीं है। महावाक्य तो ये हैं ही नहीं। किसी सत्यशास्त्र ने इनको महावाक्य नहीं लिखा, और इनके कलेवर से इनको महावाक्य कह कौन सकता है? इनमें से पहला वाक्य ऐतरेय आरण्यक का है, दूसरा वाक्य बृहदारण्यक का है, तीसरा छान्दोग्य उपनिषद् का है और चौथा माण्डूक्योपनिषद् का है।

प्रज्ञानं ब्रह्म का अर्थ है—ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है या प्रकृष्ट ज्ञानवान् है। यह अर्थ सुसंगत है, इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप होने से यह अर्थ कहाँ से निकल आया कि ब्रह्म के सिवाय और किसी में ज्ञान का लेश भी नहीं है? जीव ज्ञानवान् है, परन्तु वह अल्पज्ञ है। ब्रह्म सर्वज्ञ है, परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करने से अल्पज्ञ जीव की सत्ता का निषेध नहीं हो सकता।

'अहं ब्रह्मास्मि' का अर्थ

अहं ब्रह्मास्मि का अर्थ यह नहीं है कि मैं ब्रह्म हूँ, जैसा कि सामान्यतया समझा जाता है। परन्तु इसका अर्थ है 'मैं ब्रह्मस्थ हूँ।' पूछा जाएगा कि **'ब्रह्मास्मि'** का अर्थ **'ब्रह्मस्थ हूँ'**—यह कैसे कर दिया गया? इसके लिए साहित्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। साहित्य का शास्त्रीय विवेचन करने वाले मम्मट के 'काव्य प्रकाश' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार के उदाहरण दिये गए हैं, जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'**—अर्थात् मञ्च या मचान पुकारते हैं। परन्तु मचान तो जड़ हैं—वे कैसे बोल सकते हैं? तब यहाँ मञ्च के पुकारने के मुख्य अर्थ का बाध होकर तात्स्थ्योपाधि से यह अर्थ निकलता है कि **'मञ्चस्थाः क्रोशन्ति'** अर्थात् मचान पर बैठे हुए लोग पुकारते हैं। कान में आने वाली आवाज की दूरी बताने के लिए यहाँ 'मचान पर बैठे मनुष्य' न कहकर संक्षेप के लिए केवल 'मचान' ही कह दिया। ऐसे ही एक उदाहरण है—**'गंगायां घोषः'** अर्थात्—गंगा में गाँव है' (घोष=गाँव)। नदी के अन्दर कोई गाँव कैसे हो सकता है? नदी में होगा तो बह न जाएगा? इसलिए यहाँ भी मुख्यार्थ का बाध होकर **तात्स्थ्य** वा **तत्सहचरितोपाधि** से यह अर्थ होता है कि 'गंगा-तट पर गाँव है।' नदी के सहचारी होने से उस गाँव की शीतत्व-पावनत्वादि विशेषताओं को बताने के लिए 'गंगा-तट पर' न कहकर सीधा **'गंगायां=गंगा में'** कह दिया गया। केवल काव्यप्रकाश के उदाहरणों के बल पर ही ऐसा अर्थ नहीं किया गया है, किन्तु साहित्य में पदे-पदे ऐसे उदाहरण मिलते हैं। और तो और, आम बोलचाल में भी दिन-रात हम इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। हम पूछते हैं, "यह सड़क किधर जाती है?" भोले मुसाफिर! सड़क कहीं नहीं जाती, यह तो वहीं-की-वहीं रहती है। सड़क जड़ है, परन्तु सड़कस्थ लोग आते-जाते हैं। है न वही तात्स्थ्योपाधि? या हम कहते हैं—'दीवार के भी कान होते हैं।' परन्तु क्या दीवार के कभी कान हो सकते हैं? यहाँ तत्सहचरितोपाधि से अर्थ यह होगा कि 'दीवार का सहचारी व्यक्ति तो कहीं कोई कान लगाकर हमारी बात नहीं सुन रहा?' यदि साहित्य में इस प्रकार अर्थ न किया जाए तो अनर्थ हो जाए।

पूछा जा सकता है कि ब्रह्मस्थ तो सभी पदार्थ हैं, फिर जीव को ही ब्रह्मस्थ क्यों कहते हो? उसका उत्तर यह है कि ब्रह्म से जैसा साधर्म्य और निकटता जीव की है वैसी अन्य किसी पदार्थ की नहीं, और मोक्ष के समय तो जीव ब्रह्म का सहचारी होता ही है, इसलिए जीव को ही यह कहना शोभा देता है कि 'मैं ब्रह्मस्थ हूँ।'

तीसरा वाक्य है **'तत्त्वमसि'**। इस वाक्य का अर्थ दो तरह से किया जाता है; **एक तो यह कि ब्रह्म (तत्), तू जीव (त्वम्) है (असि)। या हे जीव! तू (त्वम्) वह ब्रह्म (तत्) है (असि)।** परन्तु ये दोनों ही अर्थ असंगत हैं, क्योंकि तत् शब्द से ब्रह्म का अर्थ लेना ठीक नहीं। जिस छान्दोग्य उपनिषद् का यह वचन है उसमें

इससे पूर्व ब्रह्म शब्द का पाठ नहीं है, इसलिए इस शब्द की अनुवृत्ति नहीं आ सकती। इस अनुवृत्ति के झगड़े की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि स्वयं छान्दोग्य उपनिषद् ने **'तत्त्वमसि'** वाक्य की व्याख्या कर दी है। उपनिषद् ने तत् का अर्थ किया है **'तदात्मकः'** अर्थात्—**'उस परमात्मा वाला'**। जब इससे भी सन्तोष नहीं हुआ तो इसके लिए दूसरा शब्द दिया **'तदन्तर्यामी'**—वह अन्तर्यामी है जिसमें; इस प्रकार **'तत्त्वमसि'** का अर्थ हुआ **'तदन्तर्यामी त्वमसि'** अर्थात्—तू उस परमात्मा से युक्त है। यही अर्थ उपनिषद् का अविरोधी है। इस अर्थ से जीव और ब्रह्म की एकता नहीं बनती।

चतुर्थ वाक्य है **'अयमात्मा ब्रह्म'**। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि 'यह परमात्मा ब्रह्म है।' परमात्मा को तो ब्रह्म हम भी कहते ही हैं, इसलिए इस अर्थ में जीव और ब्रह्म की एकता नहीं बन सकती। परन्तु यदि आत्मा का अर्थ परमात्मा न लेकर केवल जीवात्मा ही लिया जाए, तब उसे यों समझना होगा कि मोक्षावस्था में पहुँचने पर कोई योगी कहता है **'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात्—मेरा जीवात्मा ब्रह्मस्थ या ब्रह्म का सहचारी है, या ब्रह्म के अनुभव में इतना निमग्न है कि हम अविरोधी या एक-अवकाशस्थ हो गए। तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि समाधिदशा में परमात्मा का साक्षात्कार होने पर योगी कहता है कि यह जो मुझमें व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। इन तीनों अर्थों में से किसी में भी वेदान्त-प्रतिपादित जीव-ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती।

जीव और ब्रह्म एक नहीं

जब साहित्य की चर्चा आ गई तो प्रतिपक्षी ने कहा – लो, साहित्य से ही जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित करते हैं। साहित्यशास्त्र में तीन शक्तियाँ मानी जाती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। सो लक्षणा का एक प्रकार है जिसे भाग-त्याग-लक्षणा कहते हैं। इसमें कुछ अंश छोड़कर और कुछ अंश ग्रहण करके पदार्थ का वर्णन किया जाता है, जैसे **'सोऽयं देवदत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः स इदानीं प्रावृट् समये मथुरायां दृश्यते'** अर्थात्—यह वही देवदत्त है जिसे गर्मियों में काशी में देखा था और अब वह बरसात में मथुरा में दिखाई दे रहा है। वैसे जो चीज काशी में देखी थी वह मथुरा में कैसे हो सकती है? और गर्मियों में जो चीज थी वही बरसात में कैसे हो सकती है? अवस्थान्तर और स्थानान्तर होने से वस्त्वन्तर भी होना चाहिए। परन्तु यहाँ वाक्य के काशी और उष्णकाल वाले भाग का त्याग करके और देवदत्त के शरीरमात्र को लक्ष्य करके, **भाग-त्याग-लक्षणा** के अनुसार हम देवदत्त को मथुरा में देखते ही पहचान लेते हैं कि यह तो वही देवदत्त है जिसे गर्मियों में काशी में देखा था। इसी प्रकार देश, काल, माया, उपाधि आदि जैसे ब्रह्म के साथ लगे हुए हैं वैसे ही जीव के साथ भी देश, काल, माया, उपाधि (अविद्या,

अल्पज्ञता) लगे हुए हैं। इन सब दृष्टियों से तो जीव और ब्रह्म में अभेद है ही, क्योंकि ये सब बातें दोनों में एक-सी (Common) हैं। परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है—दोनों के इन दोनों भेदपरक वाच्यार्थों को छोड़कर, भाग-त्याग-लक्षणा के अनुसार हम केवल चेतनमात्र को लक्ष्य करते हैं। क्या इस तरह दोनों की एकता नहीं बन सकती? इसके अतिरिक्त जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है वैसे ही जीव के भी अस्ति, भाति और प्रिय रूप हैं। इससे भी दोनों की एकता अर्थात् अद्वैत-सिद्धि क्यों नहीं हो सकती?

ब्रह्मसूत्रों के शारीरक (शारीरिक नहीं) भाष्य के अनुसार वेदान्ती लोग छः पदार्थों को अनादि मानते हैं—एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का भेद, पाँचवाँ अविद्या और छठा अविद्या और चेतन का योग। परन्तु इनमें से केवल ब्रह्म ही अनादि और अनन्त है, शेष पाँच अनादि किन्तु सान्त हैं, जैसेकि नैयायिकों का प्रागभाव होता है। इन पाँचों का आदि किसी को विदित नहीं, इसलिए ये अनादि हैं; किन्तु अज्ञान समाप्त होते ही इन पाँचों का अन्त हो जाता है, इसलिए सान्त हैं; परन्तु ब्रह्म का न आदि है, न अन्त, इसलिए वह अनादि और अनन्त दोनों है। संकोच से यह कहा जा सकता है कि वेदान्तियों का यह सब वाग्-जाल मात्र है। वास्तव में तो उनके मत में ब्रह्म और अविद्या दो ही मुख्य हैं और इन दो में ही उनके छहों पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है। अब प्रश्न यही है कि नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव और सर्वव्यापक ब्रह्म से अविद्या का सम्पर्क हुआ ही कैसे? यदि स्वभाव से ही अविद्या का सम्पर्क मानें तो ब्रह्म शुद्ध नहीं रहा; यदि स्वभाव के बिना सम्पर्क मानें तो उसकी आवश्यकता ही क्यों पड़ी? जब तक अविद्या और ब्रह्म का योग नहीं, तब तक कारणोपाधि ईश्वर कार्योपाधि जीव भी कैसे बनेंगे? फिर उन्होंने ब्रह्म और अविद्या दोनों को अनादि मान लिया, उनका भी अद्वैत कैसे रहा? वह द्वैत न हो गया? ब्रह्म और अविद्या इन दोनों को साथ-साथ मानना तो बहुत-कुछ वैसी ही कल्पना है जैसे ईसाई या मुसलमान खुदा और शैतान को साथ-साथ मानते हैं। वहाँ जैसे शैतान खुदा को बरगलाता है, वैसे ही यहाँ अविद्या ब्रह्म को विकृत करती है।

जहाँ तक भाग-त्याग-लक्षणा के अनुसार ब्रह्म और जीव के समानता-द्योतक लक्षणों को लेकर और भेदपरक लक्षणों को छोड़कर दोनों की एकता सिद्ध करने का प्रयत्न है, उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि यदि इस तरह एकता स्थापित करने लगेंगे तो संसार में अव्यवस्था फैल जाएगी। यह तो वैसा ही हेत्वाभास है जैसे 'जानवर उसको कहते हैं जिसमें जान हो, और आदमी में क्योंकि जान है इसलिए आदमी भी जानवर है।' क्या जान होने की समानता-मात्र से आदमी और जानवर का एकत्व प्रतिपादित किया जा सकता है? जैसे चींटी मुख से खाती, आँख से देखती और पाँवों से चलती है, वैसे ही सब आदमी भी करता है, इसलिए

क्या चींटी और आदमी को एक माना जाएगा ? देखना यह है कि दोनों पदार्थों में साधर्म्य कितना है और वैधर्म्य कितना ? इसी साधर्म्य के आधार पर प्राणियों का जलचर, स्थलचर और स्तन्यपायी आदि के रूप में वर्गीकरण होता है। यह ठीक है कि ब्रह्म और जीव दोनों में चेतनता या साधर्म्य है, परन्तु उनमें वैधर्म्य कितना है, इस पर भी कभी विचार किया है ? ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अपरिच्छिन्न, अनन्त ज्ञान-बल-क्रिया-सम्पन्न आनन्दस्वरूप है, परन्तु जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति-सम्पन्न, परिच्छिन्न और इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःखादि से युक्त है, इसलिए जीव और ब्रह्म एक नहीं हो सकते।

अद्वैतवाद का मूल—बौद्ध दर्शन

इसी स्थान पर यदि दर्शनशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से शंकराचार्य के अद्वैत-वाद के सिद्धान्त पर विचार कर लिया जाए तो शायद अनुचित न हो। शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। अद्वैतवाद के सिद्धान्त पर जो लोग इस्लाम और सूफी सम्प्रदाय की छाप देखते हैं, उनका भ्रम निवारण करने के लिए भी अद्वैतवाद का ऐतिहासिक विवेचन अभीष्ट है। परिवर्तनशील जगत् का आदिकारण और यथार्थ तत्त्व ब्रह्म है, यह तो वेद और उपनिषदों ने प्रतिपादित कर दिया था, परन्तु यह जगत् सर्वथा असत्य है, यह स्थापना शंकर की ही है। परन्तु शंकर के इस मायावाद वा अद्वैतवाद का जनक है बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का शून्यवाद। भारत में चिरकाल से यह जनश्रुति चली आ रही है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध है और उसका अद्वैतवाद प्रकारान्तर से बौद्ध दर्शन का ही उद्रेक है। विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य की भूमिका में पद्मपुराण का यह श्लोक उद्धृत किया है—**'मायावादम-सच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तु।'** मायावाद असत् शास्त्र है और वह छिपा हुआ बौद्ध दर्शन ही है।

वेदान्ती अद्वैत तत्त्व की स्थापना करने के लिए जिस प्रकार सत्ता का निरूपण पारमार्थिक और व्यावहारिक दो स्तरों पर करते हैं, 'सत्ता' का इस प्रकार दो स्तरों पर भेद सबसे पहले नागार्जुन ने ही किया था। नागार्जुन जिसे **'शून्य'** (Abso-lute) कहता है, उसी को शंकराचार्य **'ब्रह्म'** कहते हैं। वस्तु-तत्त्व का सर्वथा लोप करके सम्पूर्ण विश्व को 'निःस्वभाव' और 'शून्य रूप' से प्रस्तुत करने वाला यह शून्यवाद सर्वथा निषेधवाद (Nihilism) नहीं है, किन्तु शून्यवाद का कहना है कि समस्त दृश्यमान जगत् परस्पर सापेक्ष है, इसलिए वह किसी निरपेक्ष (Absolute) तत्त्व की ओर इंगित करता है। यह निरपेक्ष तत्त्व ही 'शून्य' है। यह शून्य Noth-ing नहीं है, Something है। परन्तु वह Something केवल शून्य है। इस शून्य-वाद को एक तरह से **'अद्रव्य का सिद्धान्त'** (No-Substance Theory) कह सकते हैं—यही बौद्धों का अनात्मवाद है।

शून्य को समझने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। ज्यामिती पढ़ाने वाला शिक्षक कहता है कि बिन्दु (Point) उसको कहते हैं जिसमें न लम्बाई हो, न चौड़ाई; या सरल रेखा (Straight line) उसको कहते हैं जिसमें केवल लम्बाई-ही-लम्बाई हो, चौड़ाई न हो। परन्तु क्या कभी ऐसा बिन्दु कागज पर बनाया जा सकता है जिसकी न लम्बाई हो, न चौड़ाई? या, क्या ऐसी सरल रेखा कभी खींची जा सकती है जिसकी केवल लम्बाई हो और चौड़ाई न हो? जब भी कोई बिन्दु बनेगा, उसकी कुछ-न-कुछ लम्बाई भी होगी, कुछ-न-कुछ चौड़ाई भी। ऐसे ही, जब भी सरल रेखा बनेगी, उसकी कुछ-न-कुछ चौड़ाई अवश्य होगी। परिभाषा के अनुसार बिन्दु या सरल रेखा की सत्ता असम्भव है। परन्तु इसी कारण न बिन्दु की सत्ता से इन्कार किया जा सकता है, न सरल रेखा की सत्ता से।

इसी तरह जितने भी द्रव्य हैं वे देश (Space) की दृष्टि से फैले हुए (Extended) हैं और काल (Time) की दृष्टि से स्थिरता (Duration) वाले हैं। संसार के किसी भी पदार्थ की कल्पना हम नहीं कर सकते जिसे देश और काल ने परिच्छिन्न न कर रखा हो। यही आइन्स्टीन का सापेक्षवाद है। प्रत्येक वस्तु देश और काल की अपेक्षा से है, क्योंकि बिना देश और काल के हम किसी पदार्थ की कल्पना कर ही नहीं सकते। जैसे देश और काल ही असली उपाधि या माया हो, जो किसी भी पदार्थ के पैदा होते ही उसे घेर लेती हो। परन्तु यथार्थ तत्त्व वह है जो काल और देश के बन्धन से परे है; इनसे निरपेक्ष होने के कारण ही उसे 'Absolute' कहना होगा – वही शून्य है। इस प्रकार शून्य की व्याख्या होगी— ऐसा तत्त्व जो समय की दृष्टि से (Temporally) लम्बाई में (Vertically) और देश की दृष्टि से चौड़ाई में (Horizontally) सब ओर से फटा हुआ हो, अर्थात् वह निरवयव है, उसमें अनेक अवयवों में रहने वाला कोई अवयवी द्रव्य नहीं। वह शून्य Positive चीज है, Negative नहीं।

जो व्याख्या शून्य की है, वही व्याख्या ब्रह्म की है। जिस प्रकार उपर्युक्त विवेचन शून्य पर घटित होता है, ठीक उसी प्रकार वह विवेचन ब्रह्म के साथ भी ज्यों-का-त्यों अक्षरशः घटित होता है। इस तरह ऐसा लगता है कि वैदिक दर्शनों का खण्डन करने के लिए और अपने अनात्मवाद की स्थापना के लिए बौद्धों ने जो सूक्ष्म और गम्भीर दार्शनिक मन्थन किया, वही धारा 'आधार-सामग्री' (Raw Material) के रूप में शंकर को मिल गया और शंकर ने बौद्धों का खण्डन करने के लिए उस सब सामग्री को ज्यों-का-त्यों अपना लिया। इतना ही नहीं, प्रत्युत शंकर ने उस समस्त दार्शनिक सामग्री को अपना रंग (Finish) देकर उन्हीं के हथियारों से उन्हीं के तर्कजाल को काट दिया। जिन तर्कों से वे अनात्मवाद की स्थापना करते थे, उन्हीं तर्कों से शंकर ने आत्मवाद की स्थापना की। बौद्ध जिस निरपेक्ष तत्त्व को 'शून्य' कहते थे, उसी निरपेक्ष तत्त्व को शंकर ने ब्रह्म कहा।

परन्तु बौद्धों की शून्यवाद की फिलॉसफी में अपनी अद्वैतवाद की कलम लगाने से शंकर को माया, उपाधि और अविद्या का भी अनादित्व स्वीकार करना पड़ा। इसके बिना उसके तथाकथित ब्रह्म का मण्डन ही न बन पाता।

यह थोड़ा-सा विवेचन हमने इसीलिए किया है जिससे कतिपय आधुनिक राष्ट्रीय नेताओं और उच्च पदस्थ विद्वानों को यह कहने का अवसर न रहे कि शंकर के अद्वैत पर इस्लाम के एकेश्वरवाद की छाया है। शंकर ने इस्लाम से कुछ नहीं लिया; जो कुछ लिया वह बौद्धों से लिया और यह बात भारतीय दार्शनिक परम्परा के इतिहास में समीचीनतया ठीक बैठती है।

ईश्वर की वैज्ञानिक परिभाषा

यों ब्रह्मसूत्र में **'जन्माद्यस्य यतः'** और योगदर्शन **'क्लेशकर्मविपाकाशयैर-परामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'** कहकर ईश्वर की अपने ढंग से परिभाषा की गई है। परन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टि से यदि ईश्वर की कोई व्याख्या करनी हो तो हम वेद का निम्न मन्त्र उपस्थित करेंगे—

यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

—अर्थात् जो भूत और भविष्यात्मक काल (Time) का तथा सर्वत्र आकाश-रूप से व्याप्त देश (Space) का अधिष्ठाता है और जो केवल आनन्दस्वरूप है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है। प्रकरणानुसार वेद में ब्रह्म शब्द प्रकृति और जीवात्मा का भी वाचक बनकर आया है, इसीलिए यहाँ ज्येष्ठ ब्रह्म कहा है क्योंकि ज्येष्ठ ब्रह्म केवल परमात्मा का ही वाचक है।

लौकिक ग्रन्थों में ईश्वर की एक परिभाषा महामुनि भर्तृहरि के नीतिशतक में मिलती है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि भर्तृहरि-कृत व्याख्या में ईश्वर-सम्बन्धी दार्शनिक और वैज्ञानिक उलझनें सर्वथा समाप्त हो जाती हैं। ईश्वर की वैज्ञानिक व्याख्या करने वाला वह श्लोक यह है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

—दिशाओं और काल के बन्धन से रहित, अनन्त, चितिमात्र ही जिसकी मूर्ति है, और अपनी अनुभूति ही जिसमें एकमात्र प्रमाण है, उस शान्त तेज को नमस्कार है। दिशा और काल के बन्धन की व्याख्या हम शून्य वाले प्रकरण में कर चुके हैं। **अनन्त** का अर्थ है Infinite, जो गणित-शास्त्र का Infinite है अर्थात्—जिसमें कभी परस्पर न मिलने वाली समानान्तर रेखाएँ भी मिल जाती हैं; वैसे ही परमात्मा में भी सब विरोधों का परिहार हो जाता है, इसीलिए वह अनन्त है। **'स्वानुभूत्येकमानाय'** की भी यथा-स्थान चर्चा हो चुकी है। शान्त और तेज शब्द

भी परस्पर-विरोधी हैं—जो शान्त होगा वह तेज नहीं होगा और जो तेज होगा वह शान्त नहीं होगा। परन्तु परमात्मा का तेज ऐसा ही है जो शान्त भी है और तेज भी, जैसे दीपक की लौ होती है।

वेद सबके लिए

इसके आगे ऋषि ने वेद-सम्बन्धी चर्चा की है। इस सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रतिपादन किया है। वेद ईश्वरकृत हैं, सृष्टि के आदि में बनाए गए हैं; ईश्वर नित्य है इसलिए उसकी रचना होने के कारण वेद भी नित्य हैं, अर्थात् प्रत्येक सर्गारम्भ में ये ही वेद आते हैं। ऋषि न केवल वेद के शब्दों को, किन्तु उनके अर्थों को भी ईश्वरप्रदत्त मानते हैं, अर्थात् पुस्तकरूप में तो वेद अनित्य हैं, किन्तु ज्ञानरूप में जहाँ तक शब्दों और उनके अर्थों का सम्बन्ध है, वेद नित्य हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने विकासवाद का भी खण्डन किया है। वेदज्ञान का प्रकाश अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चारों ऋषियों पर हुआ। जो ब्राह्मणग्रन्थ हैं उनमें वेदों की व्याख्या है, परन्तु वे ग्रन्थ स्वयं वेद नहीं हैं। जो वेदों की शाखाएँ हैं, वे भी शाखामात्र हैं, वेद-कोटि में नहीं आतीं, अर्थात् चारों वेदों के ब्राह्मण, ६ अंग, ६ उपांग, चार उपवेद और वेदों की ११२७ शाखाएँ—ये सब महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं। ये सब परतःप्रमाण हैं और स्वतःप्रमाण केवल चार वेद ही हैं। वेदों की भाषा संसार की सब भाषाओं की मूल है। वेद-भाषा किसी देश-विदेश की भाषा नहीं है। जिस भाषा में वेद हैं, यदि वह किसी एक देश की भाषा होती तो उससे परमात्मा का पक्षपात प्रकट होता। जैसे ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि के अन्य पदार्थों पर किसी का एकाधिकार नहीं हो सकता, वैसे ही वेदों पर भी ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है—वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी वर्णों और संसार के सब देशवासियों के लिए हैं।

विकासवाद के अनुयायी वैज्ञानिक यह कहते हैं कि वेदों को ईश्वर-रचित मानने की कोई आवश्यकता नहीं, Trial and Error के सिद्धान्त के अनुसार, जैसे बच्चा गिरते-पड़ते अन्त में चलना सीख ही लेता है, वैसे ही मानव-जाति भी विकास करते-करते वेदज्ञान तक पहुँच जाएगी।

मानवीय ज्ञान नैमित्तिक

इसके उत्तर में निवेदन है कि मानव में तथा सृष्टि के अन्य प्राणियों में एक बहुत बड़ा अन्तर है। अन्य प्राणियों के गुण-कर्म-स्वभाव जैसे भी होते हैं, जन्म-काल से ही होते हैं। इसीलिए वे जो काम करते हैं, वह पशु-प्रवृत्ति या Animal Instinct कहलाती है। जो मांसाहारी प्राणी हैं उनके बच्चों को मांस खाना, या जो वनस्पतिभोजी हैं उनके बच्चों को वनस्पति खाना सिखाना नहीं पड़ता। अपने इस स्वभाव को वे बदल भी नहीं सकते। शेर कभी घास नहीं खाएगा और गाय कभी

मांस नहीं खाएगी। इसी तरह भैंस का बच्चा या बत्तख अपने जन्मकाल से ही बिना सिखाए पानी में तैरना जानते हैं, परन्तु आज तक यह कभी नहीं देखा कि किसी बड़े-से-बड़े तैराक का बालक भी बिना सिखाए पानी में तैरना जानता हो। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि मनुष्य का जितना भी ज्ञान है, वह नैमित्तिक है। मनुष्य अपने माता-पिता या साथियों का अनुकरण करके या किसी गुरु के सिखाने से ही सीखता है। यदि मनुष्य-समाज से अलग करके किसी बालक को जानवरों से भरे स्थान में या एकान्त में रख दिया जाए तो उसमें न वाणी का विकास होगा, न अन्य मानवीय ज्ञान का। इस प्रकार के परीक्षण अनेक बार किये जा चुके हैं। जो जंगली जातियाँ हैं, वे हजारों सालों से असभ्यता का शिकार हैं। यदि स्वयं ज्ञान का विकास होता तो इस वैज्ञानिक युग में जंगली जातियाँ कहीं दृष्टिगोचर नहीं होतीं। परन्तु उचित मार्ग-निर्देशन मिलने पर उनके जीवन में भी परिवर्तन परिलक्षित होता है। जैसे वर्तमान समय में हम अपने गुरुओं से पढ़कर विद्वान् होते हैं, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों को परमात्मा ने वेदों का ज्ञान दिया और उसके बाद से फिर गुरु-शिष्य-परम्परा चल पड़ी। वेद की आवश्यकता ऋषि ने इन शब्दों में प्रकट की है, "जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर दया-दृष्टि कर उनकी उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार के भ्रमजाल से छूटकर विद्या-विज्ञानरूप को प्राप्त होकर आनन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जाएँ।"

ईश्वरीय ज्ञान का अर्थ

वेद **'ईश्वरीय ज्ञान'** है, यह कहते हुए एक भ्रम भी हो सकता है जिसका निराकरण कर देना आवश्यक है। 'ईश्वरीय ज्ञान' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान, और दूसरे ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान। यदि वेद में ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान ही माना जाए, जैसाकि अनेक लोग उन्हें 'आध्यात्मिक ग्रन्थ' कहकर प्रकट करना चाहते हैं, तो वह वेद के स्तर को गिरा देना होगा। क्योंकि वेद में केवल ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान ही नहीं है, उसमें जीवात्मा और प्रकृति-सम्बन्धी और मानव-जीवन-सम्बन्धी ज्ञान का भी अक्षय भण्डार है। इसलिए 'ईश्वरीय ज्ञान' का अर्थ ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही समझना चाहिए, तभी आर्यसमाज के तीसरे नियम में वर्णित ऋषि की यह घोषणा अर्थवती सिद्ध होगी, "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।"

('आर्योदय' का सत्यार्थप्रकाश-विशेषांक, १५ नवम्बर, १९६३)

ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) बुद्धिवाद की कसौटी पर

स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' (Discovery of India) नामक विश्वविख्यात पुस्तक में लिखते हैं :

"बहुत-से हिन्दू वेद को इलहामी किताब या ईश्वरीय ज्ञान वाला धर्मग्रन्थ मानते हैं। मुझे यह बात खासतौर से दुर्भाग्यपूर्ण लगती है, क्योंकि इस प्रकार हम उसके वास्तविक महत्त्व को नजरन्दाज कर देते हैं और विचार की आदिम अवस्था में मानव-जाति ने अपने मनोगत भावों को किस प्रकार व्यक्त किया है, उसे भुला देते हैं।"

आधुनिक सुशिक्षित बुद्धिवादी विचारक वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के सम्बन्ध में जिस प्रकार की धारणा रखते हैं, उसका सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व श्री नेहरू का उक्त कथन करता है।

यों प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने धर्मग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान की कोटि में गिनता है। विभिन्न मतों के प्रवर्तकों ने भी अपनी बात पर अपने अनुयायियों की श्रद्धा को सतत प्रगाढ़ बनाए रखने के लिए इसी प्रकार के प्रवाद को प्रचलित किया और प्रश्रय भी दिया। इसलिए इस प्रकार के प्रवाद के प्रचार में अनुयायियों का उतना दोष नहीं, जितना स्वयं इन मतों के प्रवर्तकों का। अनुयायी तो अपने पैगम्बर को ही जब ईश्वर का अवतार या पैगाम लाने वाला, या साक्षात् उसका पुत्र या प्रतिनिधि ही मान बैठे, तब उनकी तर्क की आँख तो पहले ही बन्द हो गई। शायद ऐसे लोगों की ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना भी ईश्वर को किसी सामन्तकालीन राजा से अधिक नहीं गिनती। शायद क्या, निश्चय ही यही बात है। तभी तो लोगों ने ईश्वर के रहने के लिए सातवाँ आसमान या चौथा आसमान, या कैलास पर्वत और क्षीर-सागर अथवा स्वर्गलोक, बैकुण्ठलोक अथवा गोलोक नामक स्थान-विशेष कल्पित किये हैं। स्थान-विशेष तक ईश्वर को सीमित करने वालों के मन में निश्चय ही ईश्वर की सर्वव्यापकता की कल्पना नहीं है।

वदतो-व्याघात का दोष

रही बात मत-प्रवर्तकों द्वारा अपने लिखे ग्रन्थों को ईश्वरीय या इलहामी बताने की, यह तो वैसे ही वदतो-व्याघात है। लिखे कोई, और लेखक के रूप में

नाम किसी और का प्रचारित किया जाए—यह तो छल है, कानून की दृष्टि से अपराध भी है। या बहुत रियायत करनी हो तो यह कहा जा सकता है कि जैसे आजकल के विश्वविद्यालयों के अनेक प्राध्यापक अपने छात्रों द्वारा लिखी पुस्तक को अपने नाम से प्रचारित करते हैं या छात्रों के परिश्रम का शोषण करके प्रतिवर्ष अपने नाम से नई पाठ्यपुस्तक तैयार कर देते हैं, वैसी ही बात इन धर्मग्रन्थों के साथ भी है।

प्रत्येक मतावलम्बी द्वारा अपने धर्मग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान मानने में मोह की मात्रा ही अधिक है और वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक भी है। परन्तु श्री नेहरू जैसे बुद्धिवादियों की दृष्टि में किसी ग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान या उसे इलहामी मानना स्वयं उस ग्रन्थ के महत्त्व को कम करना है। नीतिकार तो कहते हैं कि—

बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः।

"अर्थात् उचित बात यदि किसी बालक के मुख से भी निकले तो मनीषियों को उसे ग्रहण करना चाहिए।" किन्तु धर्मग्रन्थों के बारे में विचित्र स्थिति है। उनमें लिखी बात के औचित्य के बारे में उतना जोर नहीं दिया जाता जितना इस बात पर दिया जाता है कि वह बात किसके मुख से निकली है।

गीता हालाँकि महाभारत का अंश है, और महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास हैं—यह सर्वविदित है, इसलिए गीता के प्रणेता भी महर्षि व्यास ही हुए। फिर भी गीता के बारे में **"या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता"** स्वयं श्रीकृष्ण के मुखकमल से उसके उच्चरित होने का प्रचार किया गया।

क्या वेद ऋषिप्रणीत हैं?

कहीं स्वयं वेदों के बारे में भी तो यही बात नहीं है? उन्हें बनाया हो ऋषियों ने और कह दिया गया हो कि वे ईश्वर की वाणी हैं, ईश्वर-कृत हैं, अपौरुषेय हैं—अर्थात् मनुष्य-कृत नहीं हैं।

[यहाँ हम 'पौरुषेय' और 'अपौरुषेय' शब्दों के शास्त्रीय विवाद में नहीं पड़ेंगे, क्योंकि स्वयं मीमांसादर्शन में और न्यायदर्शन में इन शब्दों के अर्थ और प्रयोग में अन्तर है और मतभेद भी। अपौरुषेय शब्द का सामान्य अर्थ है—जो पुरुष अर्थात् मनुष्य द्वारा निर्मित न हो, अर्थात् ईश्वर-कृत। परन्तु पुरुष का शास्त्रीय अर्थ ईश्वर भी है, जैसा कि योगदर्शन द्वारा **क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**—इस सूत्र में की गई ईश्वर की परिभाषा से स्पष्ट है। इसलिए पौरुषेय का अर्थ भी ईश्वर-कृत ही हुआ। मीमांसा और न्याय दोनों आस्तिक दर्शन हैं। मीमांसादर्शन वेद को ईश्वर-कृत नहीं, ईश्वर की तरह ही नित्य मानता है। उसके मत में वेद को ईश्वर-कृत मानने से उसमें अनित्यत्व का दोष आ जाएगा।

न्यायदर्शन वेद को ईश्वर-कृत ही मानता है।]

आजकल के जितने भी पौरस्त्य या पाश्चात्य बुद्धिवादी विचारक और लेखक हैं, वे सब-के-सब यही मानते प्रतीत होते हैं कि वेद ऋषि-प्रणीत हैं और प्राचीन आर्यों के जीवन के विविध क्रिया-कलापों को समझने के लिए वेद एक अच्छा विश्वकोष हैं। यही मन्तव्य श्री नेहरू का है, यही मन्तव्य अन्य लोगों का भी है। इसके प्रमाण-स्वरूप निरुक्त का यह वाक्य भी उद्धृत किया जाता है—**"मन्त्रकृत ऋषयः"** अर्थात् ऋषि ही मन्त्रकार हैं।

परन्तु इसका उत्तर तो यह है कि स्वर्णकार का अर्थ सोना बनाने वाला नहीं होता, न ही चर्मकार का अर्थ चमड़ा बनाने वाला होता है, और न लौहकार (लुहार) का अर्थ लोहा बनाने वाला होता है। स्वर्णकार, चर्मकार या लौहकार बनी-बनाई चीज को अपनी कारीगरी और हस्तकौशल से जनता के लिए उपयोगी बनाते हैं। वैसे ही मंत्रकार का अर्थ है—मंत्रद्रष्टा। ऋषियों ने भी इन मन्त्रों को बनाया नहीं, प्रत्युत मनन-चिंतन करके इनके अर्थों का साक्षात्कार किया और उन्हें जनता के लिए उपयोगी बनाया। **"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः"** के साथ तभी उसकी संगति लग सकती है, अर्थात् ऋषि मंत्रद्रष्टा हैं, मंत्र-निर्माता नहीं।

बुद्धिवादियों का नया पैंतरा

आधुनिक बुद्धिवादियों में, जो कुछ उदार प्रकृति के हैं, वे नए ढंग से पेश आते हैं। वे कहते हैं कि वेद ही क्यों, ज्ञानमात्र ईश्वरीय है। किसी भी व्यक्ति में प्रतिभा का जब असामान्य प्रकाश होता है तब वह ईश्वरीय ही होता है, ईश्वर की ही प्रेरणा से होता है। जब कोई वैज्ञानिक नया आविष्कार करता है, या कोई कवि नई कविता लिखता है, तब दोनों स्थानों पर प्रेरणा का स्रोत ईश्वर ही होता है। आखिर कवि या वैज्ञानिक हमेशा तो उत्कृष्ट कृति नहीं तैयार कर सकते। विरले क्षण होते हैं जब उनका मन और बुद्धि एकाग्र होते हैं और उसी क्षण प्रतिभा का नया विस्फोट होता है, बिजली की तरह कोई नई सूझ अन्तस् में कौंध जाती है। उसी को ईश्वरीय प्रेरणा या ईश्वरीय ज्ञान कहा जा सकता है; और इसके लिए कोई समय निर्धारित नहीं है,—यह विस्फोट चाहे जब हो सकता है और हमेशा होता रह सकता है। इस दृष्टि से यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं तो कुरान और बाइबिल भी ईश्वरीय ज्ञान हैं। कल कोई नया धर्मग्रन्थ तैयार होगा तो वह भी ईश्वरीय ज्ञान होगा। और धर्मग्रन्थ ही क्यों, संसार की प्रत्येक चीज जिसमें भी कुछ विशेषता नजर आती है, वह ईश्वरीय ही है।

इस विचार का जहाँ तक यह अंश है कि किसी भी विशेष चीज में जो दिव्यता आती है वह ईश्वर की प्रेरणा से आती है, उसे मानने में कोई आपत्ति नहीं। स्वयं गीता में कहा है—

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

—अर्थात् संसार में जो कुछ भी विभूति-सम्पन्न, श्रीसम्पन्न और ऊर्जस्वित दृष्टिगोचर होता है, उस सबमें ईश्वरीय तेज का अंश होता है। आखिर दिव्यता का आधार तो दिव्य शक्ति ही होनी चाहिए। और जब तक संसार रहेगा तब तक प्रतिभा और बुद्धि के नित-नए चमत्कार दृष्टिगत होते रहेंगे। इसलिए उन सब चमत्कारों को भी दिव्यता की प्रेरणा मानना होगा।

परन्तु यदि यह बात भी उक्त विचार का अंग मानी जाए कि समय-समय पर इलहाम हो सकता है और भिन्न-भिन्न मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न ढंग से ज्ञान का प्रकाश होता है तो उसमें अनवस्था-दोष आ जाएगा, क्योंकि यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा। इसके अतिरिक्त अनेक छली लोग इस प्रकार इलहाम की बात करके संसार को सदा ठगने का उपाय करते रहेंगे। क्या पुराणों के कर्ताओं ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य अनेक देवी-देवताओं के चरित्र का ऊलजलूल वर्णन करके उससे अपने चरित्र-दोषों को उचित करार देने का प्रयत्न नहीं किया है? क्या इस्लाम के प्रवर्तक ने अपने व्यक्तिगत चरित्र के दोषों को छिपाने के लिए खुदा के इलहाम का सहारा नहीं लिया है? क्या आज भी अनेक धर्मध्वजी अपनी वाणी को और आचरण को ईश्वर-प्रेरित कहकर पाखण्ड का प्रसार नहीं करते हैं?

इसलिए बुद्धिवादियों की विचार-परम्परा का कुछ अंशों तक समर्थन करने के बावजूद कुछ कठिनाइयाँ हैं जिनका हल नहीं निकल पाता। आखिर विज्ञान के भी तो समस्त सिद्धान्त कुछ कठिनाइयों का हल करने के लिए ही माने गए हैं। इसलिए यदि इस विषय में उपस्थित कतिपय कठिनाइयों का हल करने के लिए हमें किसी सिद्धान्त को मान्यता देनी पड़े तो उसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु पहले, वे कठिनाइयाँ क्या हैं, इसका दिग्दर्शन करें।

पहली कठिनाई

सबसे पहली कठिनाई यह है कि जिस प्रकार पशुओं और पक्षियों में सहज ज्ञान (Instinct) होता है, मनुष्य वैसा प्राणी नहीं है। बत्तख का बच्चा पैदा होते ही तैरना जानता है, उसे तैरना सिखाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु मनुष्य को बिना सीखे तैरना नहीं आता। आहार-निद्रा-भय-मैथुन ये गुण तो मनुष्य और पशुओं के समान हैं, परन्तु जिस कारण से मनुष्य को ज्ञानवान् प्राणी (Rational being) कहा जाता है, वह इससे अधिक कुछ है। नीतिकार की दृष्टि में वही 'अधिक कुछ' मनुष्य का मनुष्यत्व है, वही मनुष्य का धर्म है।

ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?

मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी कैसे बनता है, ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, यही प्रथम और विकट समस्या है जिसका विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से विवेचन किया है। इस विषय में वे सब 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के ही उपासक हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति का आधार कोई अनुभव को बताता है जिसे एम्पिरिसिज्म (Empiricism) कहा जाता है, कोई संवेदना (सैन्सेशन—Sensation) को, कोई चिन्तन (रिफ्लैक्शन—Reflection) को, कोई बुद्धि (Rationalism) को। जर्मन दार्शनिक काण्ट बुद्धि और अनुभव दोनों के सम्मिलित आधार पर ज्ञान की प्राप्ति को सम्भव मानता है। परन्तु इस विषय में असीरिया के राजा बनीपाल ने, स्कॉटलैंड के जेम्स चतुर्थ ने तथा अकबर ने जो परीक्षण किये, उनसे यही पता लगा कि यदि किसी मनुष्य को पैदा होते ही अपने माता-पिता से अलग करके पशुओं की संगति में रख दिया जाए तो वह पशु की तरह ही व्यवहार करना सीख जाएगा; उन्हीं की बोली बोलेगा, वैसे ही चले-फिरेगा। सिवाय उसकी मानवीय आकृति के उस मानव-शिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। आज भी चाहे जब यह परीक्षण किया जा सकता है। हाल की ही घटना है। भेड़ियों के बीच से प्राप्त रामू नामक बालक को लखनऊ के अस्पताल में कई वर्ष तक रखने के पश्चात् भी भेड़ियों के आचार-व्यवहार से मुक्त करके उसे मानवीय आचार-व्यवहार पूरी तरह नहीं सिखाया जा सका।

ज्ञान की तीन कोटियाँ हैं—स्वाभाविक ज्ञान, नैमित्तिक ज्ञान और काल्पनिक ज्ञान। मनुष्य की रचना इस ढंग की है कि वह बिना निमित्त के ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता,—वह निमित्त चाहे माता-पिता हों, चाहे गुरु हों, चाहे आस-पास के अन्य लोग हों। भेड़िया-बालक रामू के उदाहरण से स्पष्ट है कि अनुभव, संवेदना, चिंतन, बुद्धि इन सबके रहते हुए भी वह ज्ञानवान् नहीं बन सका, क्योंकि उसे कोई सिखाने वाला नहीं था।

आज भी जो जंगली जातियाँ हैं उनके विषय में यह कौन कह सकता है कि उनमें अनुभव, संवेदना, चिन्तन और बुद्धि नहीं है ? परन्तु वे ज्ञान-विज्ञान की उन्नति नहीं कर सकीं, हालाँकि हजारों वर्ष उन्हें ज्ञान की उसी आदिम अवस्था में पड़े हो गए। जंगली जातियों के अलावा क्या आधुनिक सभ्य समाज में भी किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् व्यक्ति का बालक बिना पढ़ाए विद्वान् बन सकता है? हाँ, इतना अवश्य है कि मनुष्य को आरम्भ में गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, मनन, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है, अर्थात् पशुओं की तरह केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर, नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करके, काल्पनिक ज्ञान की सीढ़ी पर वह द्रुत गति से चढ़ सकता है। यही मनुष्य

की नियति है, मनुष्य-योनि की यही विशेषता है। और सोचकर देखें तो इसी व्यवस्था में मनुष्य-योनि की सार्थकता भी है। अन्य योनियाँ केवल भोग-योनियाँ हैं, केवल मनुष्य-योनि ही ऐसी है जो भोग-योनि भी है, कर्म-योनि भी। इसी योनि के लिए यह व्यवस्था सुसंगत है कि वह नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करके उसका विकास कर सके।

दूसरी कठिनाई

अब दूसरी कठिनाई यह है कि आधुनिक युग के लोग तो अपने पूर्ववर्ती गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करके ज्ञानवान् बनते गए, परन्तु जो आदि-मानव थे उन्हें यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? क्योंकि उनसे पहले उन्हें और कोई सिखाने वाला नहीं था। आस्तिक लोग इसका यह उत्तर देते हैं कि आदि-सृष्टि के उन लोगों को सीधा ईश्वर से ही ज्ञान प्राप्त हुआ। इसलिए परमात्मा को **"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"** कहकर **"गुरूणां गुरुः"**—गुरुओं का भी गुरु कहा गया है। जो नास्तिक हैं और ईश्वर-जैसी किसी मानवेतर सत्ता में विश्वास नहीं करते, उनका इस उत्तर से समाधान नहीं होता। परन्तु ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले लोगों के लिए सचमुच ही इस उत्तर के सिवाय और कोई गति नहीं है।

तीसरी कठिनाई

आस्तिक बुद्धि के अनुसार यह मान लेने पर कि आदि-मानव को ज्ञान ईश्वर ने दिया, अगली कठिनाई यह उपस्थित होती है कि ज्ञान तो भाषा के बिना नहीं रह सकता, फिर ईश्वर ने जो ज्ञान दिया, वह किस भाषा में दिया? क्योंकि संसार की किसी भी भाषा का विकास तुरन्त नहीं हो जाता, वह धीरे-धीरे ही विकसित हो सकती है। और फिर गुरु-शिष्य की तरह आमने-सामने बैठकर परमात्मा आदि-मानवों को पढ़ाता होगा—यह बड़ी ऊटपटाँग कल्पना है। बिना भाषा के ज्ञान नहीं, और मुखादि अवयवों के बिना भाषा का उच्चारण सम्भव नहीं, और परमात्मा के भी मुखादि अवयवों की कल्पना की जाए तो उसमें और सामान्य मनुष्य में क्या अन्तर रह जाएगा?

इसी कठिनाई का समाधान यह है कि जैसे आदिकवि वाल्मीकि जब शोकावेग से आविष्ट हो गए तो उनका शोक ही श्लोक बनकर उनके मुख से फूट पड़ा (**"श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः"**— कालिदास) वैसे ही जब आदिम ऋषि भावाविष्ट हो गए, अर्थात् समाधि की अवस्था में पहुँचकर उन्होंने ज्ञान की कामना की तो उनके मुख से वह ज्ञान मन्त्रों के रूप में फूट पड़ा। इसी को हम प्रतिभा का विस्फोट कहते हैं। महाभाष्य के अनुसार शब्द का मूल स्फोट है, यह स्फोट ही प्रतिभा का आदिम विस्फोट या आदिम उन्मेष कहा जाना चाहिए। निस्संदेह

प्रतिभा के इस आदिम उन्मेष के पीछे दिव्य (जिसे आस्तिक लोग 'ईश्वरीय' कहना पसन्द करेंगे) प्रेरणा ही काम करती थी।

आदिम ऋषियों की प्रतिभा का आदिम उन्मेष जिस वाणी में हुआ, वह देववाणी कहलाई। देववाणी ही वेदवाणी है। इस वेदवाणी को संस्कृत समझना भूल है। संस्कृत तो पीछे इस वेदवाणी के विकार से बनी है, यह तथ्य स्वयं 'संस्कृत' शब्द के अन्दर ही छिपा है। वेदवाणी ही संसार की आदि-भाषा है।

वैदिक भाषा की पूर्णता

देववाणी, वेदवाणी या आदिभाषा संसार की सब भाषाओं की जननी है या नहीं, इस पर विवाद हो सकता है, और है भी, परन्तु एक बात निर्विवाद है कि इस आदिभाषा के अक्षरों का क्रम, उनका विकास और विन्यास, उनकी बनावट के साथ उनके अर्थों की संगति, उनके उच्चारण के स्थान और प्रयत्न—इन सब में जैसी पूर्णता और तालमेल है, वैसा संसार की और किसी भाषा में नहीं है।

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र लिखा है—"अ अ इति" अर्थात् सारे व्याकरण का और समस्त भाषा का मूल है—अ। इसी अ से इ, उ, ऋ, लृ, फिर ए, ओ, अं, अः आदि स्वर तथा क, च, ट, त, प आदि व्यंजन और उनके वर्ग बने हैं। और इन सब अक्षरों के, विवृत, संवृत तथा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के हिसाब से अलग-अलग भेद होते हैं। इन्हीं अक्षरों पर समस्त व्याकरण और समस्त साहित्य आधारित है। इसीलिए शब्द को ब्रह्म कहा गया है। इस विषय का जैसा गूढ़ विवेचन महाभाष्य में तथा प्रातिशाख्यों में हुआ है, उससे विषय की महत्ता और विशेषता स्पष्ट होती है। मूल रूप से 'शिक्षा' शब्द का अर्थ यही वर्णोच्चारण-शिक्षा है और वैदिकों ने इस विषय को कितना महत्त्व दिया है, यह इससे विदित होता है कि उन्होंने व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द और कल्प के साथ शिक्षा को भी वेद के षडंगों में स्थान दिया है।

जब हम इस वर्णमाला को पूर्ण और वैज्ञानिक कहते हैं तब इससे हमारा अभिप्राय यही होता है कि उच्चारण के स्थान-प्रयत्नादि की दृष्टि से इससे बढ़कर सुसंगत भाषा और कोई नहीं है। यह मनुष्य की स्वाभाविक भाषा है। यह भाषा मानव की प्रतिभा के विस्फोट का राजमार्ग है। यही इसका देवत्व है।

बुद्धिवाद की दृष्टि से विचार करने पर हमारे सामने जो कठिनाइयाँ आईं उनका हल करते हुए साम्प्रदायिक दुराग्रह से विचार न करके, यदि केवल सामान्य बुद्धि से विचार किया जाए तो निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य बिना सिखाए ज्ञान-प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए दिव्य प्रेरणा से उसने ज्ञान प्राप्त किया। यह ज्ञान-प्राप्ति सृष्टि के आदि-काल में (अर्थात् जब मनुष्य की उत्पत्ति हुई उसके साथ-साथ) होनी चाहिए। यह ध्यान में रखना चाहिए कि सृष्टि में सबसे पहले मनुष्य

की उत्पत्ति नहीं हुई। प्रलयकाल के पश्चात् जब नवसर्गारम्भ हुआ तब पहले पृथिवी, सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रह-उपग्रह बने, फिर वृक्ष-वनस्पतियाँ, फिर जलचर और स्थलचर आदि और अन्ततः पृथिवी का सर्वश्रेष्ठ प्राणी (जिसे विज्ञान की भाषा में हाईएस्ट आर्गनिज्म—Highest Organism कह सकते हैं)—मानव अवतरित हुआ। उत्पत्ति के साथ ही उस मानव ने अपने चारों ओर की दुनिया को देखकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया उसी को उसने दिव्य प्रेरणा से अपनी स्वाभाविक भाषा में प्रकट कर दिया। यही प्रत्यक्ष ज्ञान वेद है, और वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने का भी यही तात्पर्य है।

'वेद' शब्द का अर्थ

संस्कृत व्याकरण में विद् नामक चार धातुएँ हैं जिनसे 'वेद' शब्द बन सकता है—विद् सत्तायाम् (विद्यते), विद् ज्ञाने (वेत्ति), विद् विचारणे (विनत्ति) और विद् लाभे (विन्दति)। ऊपर जो विचार-सरणि हमने प्रतिपादित की है उसकी संगति इन चारों धातुओं से बनने वाले वेद शब्द के साथ जिस प्रकार बैठती है उसे देखकर हम स्वयं चकित रह गए हैं। मनुष्य-जाति ने अस्तित्व में आते ही (विद् सत्तायाम्), ज्ञान-प्राप्ति के लिए (विद् ज्ञाने), विचार-पूर्वक (विद् विचारणे), संसार के लाभ के लिए (विद् लाभे), ऋषियों ने अपनी जो महान् विरासत छोड़ी है उसी का नाम वेद है।

आश्चर्य यही है कि यह 'वेद' शब्द लिट् लकार में नहीं बनता, केवल लट्-लकार में ही बनता है, जो वर्तमान काल का द्योतक है। 'वेद' भूतकाल से मुक्त है। उसका अर्थ यही है कि वह सतत प्रत्यक्ष है। और जो सतत प्रत्यक्ष है उसके अस्तित्व से इन्कार करने वाला ही असली नास्तिक है। इसीलिए मनुस्मृति ने **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** कहा है क्योंकि वेद अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का अपलाप करने का अर्थ इसके सिवाय और क्या है कि अपनी बुद्धि का और अपने अस्तित्व का ही अपलाप किया जाए। शायद इसीलिए वेदाभिमानियों ने मनुष्य-जाति के अस्तित्व को वेद पर आधारित किया है। जब तक वेद है तब तक मनुष्य-जाति है। जिस दिन वेद नहीं रहेंगे उस दिन मनुष्य-जाति भी नहीं रहेगी। पर यह क्या कभी सम्भव है?

मैं कौन हूँ ?

'मैं कौन हूँ'—यह चिरन्तन प्रश्न है। जब से मनुष्य में चिन्तन-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ तभी से सबसे पहले इसी प्रश्न ने मनुष्य का ध्यान अपनी ओर खींचा। यह प्रश्न मननशील मानव का ध्यान अपनी ओर कैसे न खींचता ! अपनी आँखें बन्द करके संसार के अन्य सब पदार्थों को देखने से मैं इन्कार कर सकता हूँ, परन्तु अपने-आपसे इन्कार करने का कोई अर्थ नहीं है। बुद्धिशून्य या विक्षिप्त मनुष्य ही वैसा कर सकता है। अपने लिए मैं स्वयं जितना प्रत्यक्ष हूँ, उतना और कोई नहीं। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते और कोई भी क्रिया करते मुझसे अपने अस्तित्व का भान बिसराया नहीं जाता। यह सम्भव ही नहीं है।

सेमेटिक मत आदम अर्थात् आदिम मानव के विषय में इस प्रकार का वर्णन करते हैं कि वह अदन के बाग में अपने-आपको भूला हुआ और अपने अस्तित्व तक से अनभिज्ञ यत्र-तत्र निरुद्देश्य परिभ्रमण करता रहता था, किन्तु जब शैतान की प्रेरणा से हव्वा आदम के पीछे पड़ गई कि हमें ज्ञान-वृक्ष का फल अवश्य खाना चाहिए, भले ही खुदा ने उस फल का खाना वर्जित कर रखा हो, और अन्ततः आदम और हव्वा ने ज्ञान-वृक्ष का फल तोड़कर खा लिया, तब वे अपने शरीर, अपने अस्तित्व और अपनी इच्छाओं से अनभिज्ञ नहीं रह सके। इस सब वर्णन का भी यही अर्थ है कि मनुष्य में ज्ञान अर्थात् चिन्तन-शक्ति का उदय होते ही सबसे पहले उसका ध्यान अपनी ओर गया और वह अपने-आपसे पूछने लगा कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहाँ से आया हूँ, क्यों आया हूँ, मेरे अस्तित्व का प्रयोजन क्या है ?

पौरस्त्य जगत् और पाश्चात्य जगत् में सर्वत्र इस प्रश्न ने मनीषियों के मन को उद्वेलित किया है और उन्होंने अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न के समाधान का प्रयत्न किया है। पूर्व में यदि दर्शन-परम्परा का श्रीगणेश इसी प्रश्न से होता है, तो पश्चिम में भी समस्त फिलॉसफी का आधार यही प्रश्न है। निस्सन्देह पूर्व और पश्चिम की विचार-सरणि भिन्न है, पहुँच (approach) भी भिन्न है, परन्तु सत्य क्योंकि मूलतः सदा एक होता है, इसलिए इनकी विचार-सरणियों, शैलियों और बाह्यरूपों में भेद होते हुए भी निष्कर्ष सबका एक ही है। जब से विज्ञान बीच में आ कूदा है तब से उसका प्रभाव इतना सर्वग्रासी रहा है कि अध्यात्म और दर्शन भी उसके सामने विनत हो गए और अतीन्द्रिय तथा परोक्ष वस्तुओं के लिए भी विज्ञान की ही कसौटी अपनायी जाने लगी। हालाँकि विज्ञान अपनी ओर से

डिण्डिम-घोष के साथ यह घोषणा करता रहा कि अतीन्द्रिय जगत् मेरा विचार-क्षेत्र नहीं है, परन्तु विज्ञान के पीछे दीवाना इस युग का मानव इस तर्क-संगत बात को भी सहसा अपने गले के नीचे नहीं उतार सका। उसने समझा कि विज्ञान के रूप में मुझे 'अलादीन का चिराग' हाथ लग गया है, और जब अलादीन के इस चिराग की बदौलत मैंने जल-थल तथा नभ में इतने चमत्कारों की सिद्धि प्राप्त की है तब उस चिराग के माध्यम से अध्यात्म-क्षेत्र में भी अवश्य कोई-न-कोई चमत्कार करके दिखा सकूँगा।

परन्तु इसे विज्ञान की हिमाकत के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। **'हिमाकत'** शब्द का प्रयोग करने से हमारा अभिप्राय विज्ञान को हिकारत की नजर से देखना या उसे उस उच्च सिंहासन से च्युत करना नहीं है। परन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में विज्ञान के हस्तक्षेप द्वारा किन्हीं निष्कर्षों की प्राप्ति की आशा वैसे ही दुराशा-मात्र है जैसे हलवाई की दुकान से कपड़ा प्राप्त करने की आशा। बेशक आजकल का विज्ञान किसी विशिष्ट पण्य वस्तु की दुकान न रहकर बिसाती की दुकान बन गया है, जिसमें दैनिक जीवन के उपयोग की आम वस्तुएँ प्राय: मिल जाती हैं, परन्तु फिर भी ईमानदारी की बात यह है कि जो विषय विज्ञान का विचार-क्षेत्र नहीं है उसकी आशा विज्ञान से नहीं की जानी चाहिए, अर्थात् अध्यात्म-क्षेत्र के विवादग्रस्त अभियोगों के निर्णयार्थ न्यायाधीश का पद विज्ञान को नहीं सौंपा जाना चाहिए।

परन्तु **'मैं कौन हूँ'**—यह प्रश्न क्या केवल अध्यात्म से ही सम्बन्धित है, भौतिक विज्ञान से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है? (यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग हम उसके प्रचलित अर्थ—'भौतिक ज्ञान' में ही कर रहे हैं, न कि औपनिषदिक 'विज्ञान' के अर्थ में; क्योंकि औपनिषदिक 'विज्ञान' शब्द तो अध्यात्म का ही पर्याय है, भौतिक विज्ञान का नहीं।) सच तो यह है कि पाश्चात्य विचारकों ने **'मैं कौन हूँ'**—इस प्रश्न के भौतिक विज्ञान वाले पहलू का समाधान करने का अधिक प्रयत्न किया है और पौरस्त्य विचारकों ने इस प्रश्न के आध्यात्मिक पहलू का। परन्तु इतने मात्र से यह तो स्पष्ट हो ही जाएगा कि **'मैं कौन हूँ'**—इस प्रश्न का सम्बन्ध अध्यात्म और विज्ञान दोनों से है, इसलिए इस प्रश्न का अन्तिम समाधान खोजने के लिए दोनों का ही आश्रय लेना होगा। किसी एक का आश्रय लेने से जो समाधान प्राप्त होगा, वह एकांगी होगा।

वेद एकांगी ज्ञान का समर्थक नहीं है। वेद जितना बड़ा ग्रन्थ अध्यात्म का है, उतना ही बड़ा ग्रन्थ विज्ञान का भी है। इसीलिए उसने

"विद्यां च अविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥"

यजु० अध्याय ४०, मंत्र ११

का उपदेश दिया है, अर्थात् वेद की दृष्टि में विद्या और अविद्या दोनों का ज्ञान आवश्यक है। इस सन्दर्भ में 'विद्या' और 'अविद्या' दोनों शब्द पारिभाषिक हैं। विद्या का अर्थ है—परा विद्या, इसी को हम आधुनिक शब्दावलि में अध्यात्म की संज्ञा देते हैं। अविद्या का अर्थ है—अपरा विद्या, अर्थात् अध्यात्म उत्कृष्ट विद्या है और विज्ञान अपरा एवं इससे निचले स्तर की विद्या है।

वेद की दृष्टि में **'मैं कौन हूँ'**—इस प्रश्न का समाधान अध्यात्म और विज्ञान दोनों से समन्वित है। वेद का यह निश्चयात्मक समाधान न केवल गम्भीर आर्ष साहित्य में, अपितु सामान्य लौकिक संस्कृत-साहित्य में भी छाया पड़ा है। आर्यों की वही मूल दृष्टि रही है। प्राचीन ऋषियों ने उसी आर्य दृष्टि का सहारा लेकर न केवल **'मैं कौन हूँ'** का समाधान किया है, प्रत्युत **'मुझसे भिन्न शेष संसार क्या है'**—इस प्रश्न का भी समाधान किया है। सच तो यह है कि प्रथम प्रश्न का उचित समाधान मिलने पर दूसरे प्रश्न का समाधान अपने-आप मिल जाता है। क्योंकि, जिस सृष्टि का निर्माण किसी बुद्धिमान् चित्-शक्ति द्वारा हुआ हो उसमें असंगति और विसंगति नहीं हो सकती, उसमें अव्यवस्था नहीं हो सकती, उसमें व्यष्टि और समष्टि में परस्पर-विरोध नहीं हो सकता। इसीलिए गीता में कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

इस सृष्टि में कहीं अभिक्रम का नाश नहीं है, न ही कहीं कोई प्रत्यवाय विद्यमान है।

सभी शास्त्रों में और समस्त लौकिक संस्कृत-साहित्य में जो दृष्टिकोण छाया हुआ है, वह कौन-सा है? इसके उत्तर के लिए हम व्याकरण से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि व्याकरण समस्त शास्त्रों का मुख कहा जाता है।

व्याकरण में तीन पुरुष माने जाते हैं—प्रथम, मध्यम, उत्तम। प्रथम पुरुष है—'सः', मध्यम पुरुष है—'त्वम्' और उत्तम पुरुष है—'अहम्।'

'मैं कौन हूँ'—जब इस प्रश्न पर विचार आरम्भ करेंगे, तब सबसे पहले अहम् अर्थात् उत्तम पुरुष से आरम्भ करना होगा। 'अस्मत्' शब्द की प्रथमा का एक वचन है—'अहम्'। 'अस्मत्' का अर्थ क्या है?—'अस्+मत्' अर्थात् अस्तित्ववान्, जिसका अस्तित्व है ऐसा पुरुष। यह चिन्तन की पहली सीढ़ी है, यह ज्ञान का प्रथम उन्मेष है, यह अपने अस्तित्व का सबसे पहला भान है, यह अपनी सत्ता की अपने मन में सबसे पहली अनुभूति है कि मैं अस्तित्ववान् हूँ। और चाहे किसी पदार्थ का अस्तित्व हो या न हो, मेरा अस्तित्व है। मैं हूँ, किसी की अपेक्षा से नहीं हूँ, निरपेक्ष हूँ; मैं हूँ—यही सबसे बड़ी बात है। इसी 'अस्मत्' शब्द का एक वचन है—अहम्। 'अ+हं' अर्थात् जिसका त्याग न हो सके। (अ) नहीं (हा) त्याग जिसका, वह है—'अ—हं'। सारे संसार का त्याग किया जा सकता है, किन्तु मेरा त्याग नहीं किया जा सकता, क्योंकि मैं अस्तित्ववान् हूँ। और सचमुच जब तक मेरा अस्तित्व है, तब

तक मेरी उपेक्षा नहीं हो सकती, मेरा त्याग नहीं किया जा सकता। मैं जीते जी अपना त्याग कैसे होने दूँगा? मेरे अस्तित्व का प्रमाण ही यह है कि मेरा त्याग नहीं किया जा सकता।

और यह 'अस्मत्' और 'अहं' कौन है? यह उत्तम पुरुष है, अर्थात् पुरुषोत्तम है। उत्तम पुरुष और पुरुषोत्तम, एक ही बात है। 'अहं ब्रह्म अस्मि' का अर्थ भी यही है कि 'मैं बड़ी शक्ति वाला हूँ', मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, मैं उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम हूँ', मैं दीन-हीन नहीं हूँ, मैं तुच्छ अथवा उपेक्षणीय नहीं हूँ। ऐसी भावना मन में आते ही मननशील मानव का मुख कैसे आत्मगौरव की दीप्ति से देदीप्यमान हो उठता है! ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे मैं शक्ति का पुंज हूँ, अदीन हूँ, परोपजीवी नहीं हूँ, परमुखापेक्षी नहीं हूँ, अपने ही बल पर अपने पाँवों पर खड़ा हूँ। संसार में जो भी कुछ है, सब मेरी ही अपेक्षा से है, मैं नहीं हूँ तो उस सबके होने का भी कोई अर्थ नहीं है। **'सम्मीलने नयनयोः नहि किञ्चिदस्ति'**—जिस दिन मैं आँखें बन्द कर लूँगा उस दिन यह सब दृश्यमान जगत् भी नहीं रहेगा, कम-से-कम मेरे लिए। मैं अब भी आँखें बन्द कर लूँ तो यह संसार कहाँ है? पर मैं? मैं तो हूँ, आँखें बन्द कर लेने पर भी हूँ, मुझे प्रतिक्षण अपने अस्तित्व का आभास होता रहता है। इतना सर्वातिशायी है मेरा अस्तित्व।

अस्मत् है, तभी युष्मत् भी हैं। उत्तम पुरुष है, तभी मध्यम पुरुष है। यदि 'अस्मत्' न होता, तो 'युष्मत्' कहाँ से आता? अस्मत् की ही बदौलत तो युष्मत् का अस्तित्व है। क्योंकि 'युष्मत्' का अर्थ है 'आयुष् + मत्' मेरे आशीर्वाद से आयुष्य प्राप्त करने वाला। मैंने ही तुझे अस्तित्व प्रदान किया है, मैं न होता तो तेरा अस्तित्व भी न होता। 'मैं' न होऊँ तो तुझे 'तू' कहने वाला भी कौन है? 'तू है' ऐसा मैंने कहा, तभी तो तुझे अस्तित्व प्राप्त हुआ। इसीलिए मैं उत्तम पुरुष हूँ और तू मध्यम पुरुष है, क्योंकि मेरे अस्तित्व के बिना तेरा अस्तित्व नहीं है।

मैं और तू के अतिरिक्त एक तृतीय पुरुष भी है, वह है 'तत्' अर्थात् वह। वह अस्मत् की तरह अस्तित्ववान् भी नहीं है और युष्मत् की तरह मेरे आशीर्वाद द्वारा आयुष्य प्राप्त करने वाला भी नहीं है। ऐसा है यह तृतीय पुरुष।

मैं, तू, वह—इन तीन पुरुषों से यह समस्त संसार व्याप्त है। इनमें 'मैं' उत्तम पुरुष है। सबसे उच्च है 'मैं'। इस मैं के अस्तित्व से ही सबको अस्तित्व प्राप्त हुआ है। मैं अपने अस्तित्व से सदा शोभायमान तथा दूसरों को अस्तित्व प्रदान करने वाला सबसे अधिक सामर्थ्यशाली उत्तम पुरुष हूँ।

व्याकरण के इन तीन शब्दों में ही कितना गूढ़ तत्त्वज्ञान भरा है!

यही है ऋषियों की दृष्टि जो सब शास्त्रों के मुखरूप व्याकरण के माध्यम से समस्त वैदिक वाङ्मय में छाई हुई है। यही दृष्टिकोण समस्त अध्यात्मज्ञान का आधार है। व्याकरण के इन तीन शब्दों में जहाँ इस बात का उत्तर आ गया कि

'मैं कौन हूँ', वहाँ इस बात का भी उत्तर आ गया कि 'तू कौन है' और साथ ही इस प्रश्न का भी उत्तर आ गया कि वह (अर्थात् संसार) क्या है ?

यह अस्तित्वमय जितना दृश्यमान जगत् है उसके सबसे उच्च शिखर पर यदि कोई आसीन है तो वह 'मैं' हूँ, मैं उत्तम पुरुष हूँ, 'मैं' पुरुषोत्तम हूँ, मैं नर के रूप में नारायण हूँ, मैं शक्ति का भण्डार हूँ।

परन्तु पौराणिक काल में अवैदिक विचारधारा भारतवर्ष में फैल गई। उसी समय सर्वत्र इस भावना का प्रसार हुआ कि—

पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसंभवः

अर्थात्—"मैं पापी हूँ, पापकर्म करने वाला हूँ, पापात्मा हूँ और पाप के कारण ही मेरा जन्म हुआ है।" जो उत्तम पुरुष और पुरुषोत्तम था, उसकी इतनी अवमानना, उसका इतना पतन ? समस्त वेदों और उपनिषदों में ऐसा एक भी वाक्य नहीं आया जिसमें मनुष्य के जन्म को पापमूलक बताया गया हो, जिसमें उसका इस प्रकार अपमान किया गया हो। जो 'अमृत का पुत्र' है (शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः), वह पाप की औलाद कैसे होगा ? मनुष्य-योनि पूर्वजन्म के सुकृतों और पुण्यों का परिणाम है, फिर वह पाप-योनि कैसे हो सकती है ? मनुष्य-जन्म को पापमूलक मानने की प्रवृत्ति कदाचित् बौद्धधर्म से पुराणों में आई और बौद्धधर्म से ही वह ईसाइयत और इस्लाम जैसे सेमेटिक मतों में गई। मनुष्य-जाति के अधःपतन का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व इस अवैदिक विचारधारा के सिर डाला जा सकता है।

'मैं कौन हूँ'—इसका स्पष्ट उत्तर वेद ने यों दिया है—

अहं इन्द्रो न पराजिग्य इद्धनम्। न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन॥

—ऋक् १०।४८।५

—"मैं इन्द्र हूँ, मेरा धन मुझे पराजित करके कोई नहीं छीन सकता। मैं अपने ऐश्वर्य के कारण कभी पराजित नहीं हो सकता, मैं कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता।"

'मैं पुरुषोत्तम हूँ', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मैं इन्द्र हूँ'—इन सब वाक्यों का एक ही अर्थ है और वह यह कि 'मैं शक्तिमान् हूँ', मैं शक्ति का केन्द्र हूँ। मेरे इन्द्र होने का ही यह स्पष्टीकरण है कि मेरा कोई पराभव नहीं कर सकता। 'मैं' नाम की जो वस्तु है वह शक्तिवान् है या निर्बल है, इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र ने इस रूप में दिया कि मैं शक्तिमान् हूँ, मैं इन्द्र हूँ। इन्द्र का अर्थ है शत्रुओं का विदारण करने वाला (इन्+द्र)। मैं इन्द्र हूँ। इसका यही अर्थ है कि मैं इतना सामर्थ्यवान् हूँ कि अपने समस्त शत्रुओं का विदारण कर सकता हूँ और मेरा कोई पराभव नहीं कर सकता।

परन्तु जिस प्रकार सामर्थ्यशाली विद्युत् समस्त पदार्थों में विद्यमान है, किन्तु घर्षणादि प्रयोगों से उसे प्रकट करना आवश्यक होता है, इसी प्रकार 'मैं' के अन्दर यह इन्द्रशक्ति छिपी हुई है जो साधना और अनुष्ठान द्वारा प्रकट होती है। यह तो

निश्चित है कि शक्ति है, और 'मैं' निर्बल नहीं, सबल हूँ। परन्तु किसी में यह शक्ति प्रसुप्त होती है, किसी में प्रकट। इसके प्रसुप्त होने और प्रकट होने के स्तर में अन्तर हो सकता है, किन्तु वह शक्ति है अवश्य। उस शक्ति का सम्पादन ही मानव-जीवन की साधना है, और यही मानव-जीवन की उपयोगिता है।

इन्द्र की एक सभा है, इन्द्र उस सभा का अध्यक्ष है, अन्य सब देव उस सभा के सभासद् हैं। इन्द्र देवताओं का राजा है। जहाँ इन्द्र होगा वहीं उसके सहचारी देव होने चाहिएँ। अतः यदि 'मैं' इन्द्र है तो शेष सब देव भी इसके आसपास ही होने चाहिएँ।

सब जानते हैं कि शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और कुछ अन्तरिन्द्रियाँ हैं। यह 'इन्द्रियाँ' शब्द स्वयं ही अपना रहस्य खोल देता है। इन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्र की शक्ति। ये सारी इन्द्रियाँ इन्द्र की शक्तियाँ हैं। यदि कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अन्तरिन्द्रियाँ इन्द्र की शक्तियाँ हैं तो इन इन्द्रियों में अपनी शक्ति भेजने वाला इन्द्र भी कहीं आसपास ही छिपा होगा। इन्द्रियों का नामकरण 'इन्द्र की शक्ति' होने के कारण ही हुआ है, अतः इन इन्द्रियों का संचालक, अधिष्ठाता और अधिपति जो हो, वही इन्द्र होना चाहिए। वह इन्द्र कहाँ है? वह इन्द्र इसी शरीर के अन्दर होना चाहिए। प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देह का जो स्वामी 'मैं' है, वह इन्द्र है और उसी की शक्ति सब इन्द्रियों में फैली हुई है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मा ही इन्द्र है और उसी की शक्ति से संचालित होने के कारण इन्द्रियाँ 'इन्द्रिय' कहलाती हैं।

अब तक के विवरण से यह स्पष्ट हुआ कि आत्मा के रूप में इन्द्र इसी शरीर में निवास करता है। जहाँ इन्द्र निवास करता है वही स्वर्ग है, वही अमरावती है, वही नन्दनवन है। इसी अमरावती में देवताओं की सभा जुड़ती है और इन्द्र उस देवसभा की अध्यक्षता तथा संचालन करता है।

इन्द्रियाँ, देवता कैसे हैं, इसका स्पष्टीकरण ऐतरेय उपनिषद् में हुआ है। तद्यथा—

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युः अपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्। (ऐ० उ० १।२)

—"अग्नि देवता वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु देवता प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ, सूर्य नेत्र बनकर आँख में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कानों में प्रविष्ट हुईं, ओषधि-वनस्पतियाँ लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट हुई और जल वीर्य बनकर शिश्न में प्रविष्ट हुआ।" इस प्रकार भिन्न-भिन्न देवता

भिन्न-भिन्न भागों में आकर बसते हैं। फिर वह शरीर देवमन्दिर और अमरावती न हुआ तो क्या हुआ?

इसी का स्पष्टीकरण अथर्ववेद में इस प्रकार हुआ है—

त्रयस्त्रिंत्रशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः।
यस्य त्रयस्त्रिंत्रशद्देवता अंगे गात्रा विभेजिरे॥
तान् वै त्रयस्त्रिंत्रशद्देवानेतो ब्रह्मविदो विदुः।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥

तेंतीस देव शरीर के विभिन्न अवयवों तथा इन्द्रियों में आकर रहते हैं। शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय में किसी-न-किसी देवता का वास है। इस शरीर में विभिन्न इन्द्रियों के रूप में देवता उसी प्रकार आकर निवास करते हैं जैसे गौएँ गौशाला में आकर रहती हैं।

अब प्रश्न होगा कि वे तेंतीस देव कौन-से हैं? पूर्वोक्त ऐतरेय उपनिषद् के उद्धरण में यद्यपि उनका परिगणन हो गया है, किन्तु फिर भी विषय के स्पष्टीकरण के लिए उनका दुहरा देना आवश्यक है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच मुख्य प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान) और पाँच उपप्राण (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय), मस्तिष्क, पृष्ठवंश, दो फुफ्फुस (फेफड़े), हृदय, यकृत्, प्लीहा, दो मूत्राशय, पेट, मलाशय तथा मन और बुद्धि। शरीर के ये तेंतीस प्रान्त अथवा मुख्य अवयव हैं और इन सब प्रान्तों में किसी-न-किसी देवता का निवास-स्थान है, और इन सब देवताओं का अधिष्ठाता है इन्द्र, अथवा आत्मा। शरीर के इन सब अवयवों अथवा प्रान्तों में एक-एक देवता अधिकारी के रूप में विद्यमान है किन्तु उसके अधिकारों का मूल स्रोत इन्द्र के हाथ है। इन्द्र ने ही उन सब देवताओं को प्रान्तपति बनाकर उन-उन प्रान्तों में भेजा है। केन्द्र का आदेश पालन करना इन प्रान्तपतियों का कर्तव्य है। स्वेच्छाचार करना या स्वयं निरंकुश शासक बन बैठना उनके कर्तव्य की अवहेलना होगी और तब इस शरीररूपी देवसभा में अव्यवस्था, उत्पात और अशान्ति पैदा हो जाएगी।

'मैं कौन हूँ'—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मैं इन्द्र हूँ, आत्मा हूँ, पुरुषोत्तम हूँ, शक्ति का पुंज हूँ। किन्तु जैसे बिना राज्य के राजा शब्द व्यर्थ है और बिना राजकर्मचारियों के वह राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता, इसी प्रकार बिना शरीर के आत्मा कहाँ टिकेगा? और शरीर भी यदि केवल मांस का लोथड़ा मात्र हो तो शरीर की जीवन-यात्रा कैसे चलेगी? इसलिए आत्मा के साथ शरीर और इन्द्रियाँ भी अपने-आप जुड़ती चली आती हैं। शरीर, इन्द्रिय और आत्मा से संयुक्त 'मैं' का जो चित्र सामने आता है, उसे ही पूर्ण कहा जा सकता है। बिना शरीर के आत्मा निष्क्रिय है और बिना आत्मा के शरीर निष्क्रिय है। इसी को यों कहा जा सकता है कि शव के साथ जब शक्ति का योग होता है, तभी वह शिव बनता है;

बिना शक्ति के शिव भी सिवाय शव के और कुछ नहीं है।

कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दर उपमा देकर विषय का विशदीकरण किया गया है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

—आत्मा रथी अर्थात् रथ का स्वामी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, और मन लगाम है। इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषयों में संचार करते हैं। आत्मा-इन्द्रिय-मन मिलकर भोक्ता कहलाता है।

यहाँ शरीर को रथ की और इन्द्रियों को घोड़े की उपमा देकर संयम कैसे करना चाहिए, इसका उपदेश दिया है। जिस तरह रथ के घोड़े सारथी के आधीन ही रहने चाहिएँ, सारथी के हाथ में लगाम रहनी चाहिए, और सारथी को अच्छे मार्ग से रथ को इष्ट स्थान तक पहुँचाना चाहिए, और स्वयं सारथी को रथ के स्वामी का वशंवद होना चाहिए, इसी तरह सब इन्द्रियाँ, सब अंग और सब अवयव अपने आधीन रहने चाहिएँ। इनमें से किसी एक का भी स्वेच्छाचार होगा तो विनाश अवश्यम्भावी है।

रथ में जोते गए घोड़े सुशिक्षित और सधे हुए होने चाहिएँ। यदि घोड़े सधे हुए न हों, मुँहजोर हों, तो वे सारथी के अधीन नहीं रहेंगे और रथ को किसी खड्ड में गिरा देंगे। सारथी यदि अश्व-चालन में कुशल न हो तो वह अच्छे सुशिक्षित घोड़ों को भी ठीक ढंग से चला नहीं सकेगा और रथ को इधर-उधर गिरा देगा। रथ यदि सुदृढ़ न हो तो मार्ग में ही उसके टूट जाने का खतरा रहेगा और रथ का स्वामी गन्तव्य स्थान तक पहुँच नहीं पाएगा। घोड़ों की लगामें अच्छी न हों तो अच्छे घोड़े भी ठीक ढंग से चलाए नहीं जा सकेंगे और लगाम बीच में ही धोखा दे जाएगी। इसके अलावा मार्ग भी सीधा और सरल होना चाहिए; यदि गड्ढों वाला और ऊँचा-नीचा होगा तो रथ, घोड़े और सारथी सभी के गिरने की सम्भावना बनी रहेगी।

जीवात्मा (इन्द्र) को अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को किस प्रकार संयम में रखकर शरीररूपी रथ से गन्तव्य स्थान तक पहुँचना चाहिए, इसका जैसा सुन्दर वर्णन इस उपमा के द्वारा किया गया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

इस प्रकार 'मैं' कौन हूँ, इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर होगा—आत्म-इन्द्रिय-मन से युक्त जो भोक्ता है, वही 'मैं' है।

बाह्य संसार के पदार्थों के सम्बन्ध में अपनी प्रयोगशालाओं में परीक्षण करते-करते आधुनिक वैज्ञानिक 'मैं' की खोज शरीर से अथवा तृतीय पुरुष से प्रारम्भ करते हैं, जबकि भारतीय चिन्तक उत्तम पुरुष से प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि मैं का

सम्बन्ध है ही उत्तम पुरुष से। परन्तु पाश्चात्य वैज्ञानिक भी खोज करते-करते शरीर से परे इन्द्रियों, इन्द्रियों से परे मन और मन से भी परे बुद्धितत्त्व तक पहुँच गए। इनका अस्थिविज्ञान (Anatomy) शरीर से, शरीरशास्त्र (Physiology) इन्द्रियों की क्रियाओं से, उनका मनोविज्ञान (Psychology) मन से और उनका दर्शनशास्त्र (Philosophy) बुद्धि से सम्बद्ध है। इस बुद्धि से भी परे जहाँ आत्मा का क्षेत्र आता है वहाँ आधुनिक वैज्ञानिक उसे अतीन्द्रिय ज्ञान या अध्यात्मविद्या का क्षेत्र कहकर छुट्टी पा लेते हैं और ऐसा भाव प्रदर्शित करते हैं जैसेकि उनके-जैसे बुद्धि-वादी लोगों के लिए यह क्षेत्र वर्जित है या केवल अबुद्धिवादी लोग ही इस क्षेत्र में पदार्पण के अधिकारी हैं। परन्तु उन्हें कौन समझाए कि बुद्धि तो केवल सारथी है, रथ का वास्तविक स्वामी नहीं ? रथ का स्वामी जो 'मैं' है वह तो बुद्धि से भिन्न है, वह तो आत्मा है !

परन्तु इसे अभी विज्ञान का अन्तिम उत्तर नहीं मानना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान की प्रत्येक शाखा अन्त में मात्र गणित में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार, यह नितान्त सम्भव है कि आज का समस्त विज्ञान भी किसी दिन अध्यात्म-चिन्ता में या Metaphysics में परिणत हो जाए। जब से इस पृथिवी के विज्ञान ने हाथ बढ़ाकर अन्य ग्रहों के स्पर्श का भी अनुभव प्राप्त कर लिया है, तब से यह सम्भावना और अधिक बढ़ गई है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक स्वयं विज्ञान के पण्डित हैं और 'मैं कौन हूँ' की खोज में विज्ञान हमें कहाँ तक ले-जा सकता है, इसका उन्होंने सोपपत्तिक वर्णन किया है। जिन प्रश्नों का उत्तर अभी विज्ञान ने नहीं दिया उन्हें स्वीकार करने में उन्होंने संकोच नहीं किया और अपनी दृष्टि लगातार वैदिक विचारधारा की पुष्टि की ओर रखी है। पाठक पुस्तक को पढ़ेंगे तो लेखक की सफलता का स्वयं अनुमान लगा लेंगे। हम तो यह बौद्धिक भोजन पाठकों को परोस-भर रहे हैं। जब भोजन सामने आ जावे तब इधर-उधर की बातों में समय लगाना अच्छा नहीं जँचता। अब यह पुस्तक आपके सामने है, आप इसे पढ़िए, मानसिक और बौद्धिक तृप्ति-लाभ कीजिए और बीच के काल-वाहक इस पुरस्कर्ता को मन से निकाल भी दें तो कोई हर्ज नहीं है।

(श्री सन्तराम एम० ए० द्वारा लिखित 'मैं कौन हूँ' पुस्तक की भूमिका)

ऋग्वेद में 'भारत' और 'भारती'

आमतौर पर विद्वानों में यह धारणा प्रचलित है कि महाभारत से पूर्व वैदिक काल में इस देश का नाम आर्यावर्त था, महाभारत के पश्चात् उत्तर-वैदिक काल और पुराण-काल में इस देश का नाम भारत पड़ा। उसके बाद मुगलकाल में इस देश का नाम हिन्दुस्तान पड़ा और इस देश के निवासी हिन्दू कहे जाने लगे, अर्थात् हिन्दू और हिन्दुस्तान—ये दोनों शब्द विदेशियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, क्योंकि इस देश के प्राचीन साहित्य में ये शब्द नहीं मिलते। पर हिन्दू और हिन्दुस्तान शब्द भी नहीं, केवल भारत और भारती शब्द की चर्चा यहाँ उपेक्षित है।

पुराणों में और महाभारत में उक्त दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है, इसमें विवाद नहीं है। "**वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संस्कृतिः**" और "**गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे**" आदि प्रमाण विद्वानों के सुपरिचित हैं। कुछ इतिहासकार महाराज दुष्यन्त के प्रतापी पुत्र भरत के नाम से इस देश को जोड़ते हैं, तो कुछ इतिहासकार जैनियों के प्रसिद्ध तीर्थंकर ऋषभदेव के नाम से—जिनका दूसरा नाम भरत था—जोड़ते हैं। कुछ इतिहासकार यह भी मानते हैं कि महाभारत-काल में भरतवंशियों ने जो दिग्विजय की और चारों ओर अपनी यशोदुन्दुभि बजाई, उसके कारण इस देश को उनके यश का चिर-स्मारक बनाकर 'भारत' नाम दिया गया। भारत का अर्थ भारत की सन्तान ही तो है (भरतस्यापत्यं=भारतः)। इसीलिए श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर अर्जुन को 'भारत' नाम से सम्बोधित किया है—'**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत**' आदि। इसके अतिरिक्त भारत-निवासियों को भी 'भारत' के नाम से सम्बोधित करने के प्रमाण मिलते है, अर्थात् वहाँ भारत का अर्थ 'भारतीय जन' है। प्रमाण के रूप में ऋग्वेद का यह मन्त्र उद्धृत किया जा सकता है—

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्। (ऋक्० ३।५३।१२)

इसी बात की पुष्टि तैत्तिरीय आरण्यक के इस वाक्य से भी होती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत अग्निमिच्छध्वं भारताः। (तैत्ति० १।२७।२)

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारतम् का अर्थ है भारत देश और **भारतः** का अर्थ है—भारतीय जन अर्थात् भारत के निवासी।

श्रीमद्भागवत पुराण में यह उल्लेख भी मिलता है कि मनु ने—जो सृष्टि के आदिमानव (या उसके प्रतीक) माने जाते हैं, और जिन्हें बाइबल आदि 'नूह' के

नाम से सम्बोधित करते हैं—इस देश का नाम भारत रखा—

ततो मनुः श्रद्धादेवः संज्ञायमास भारतम्।

(भागवत पुराण ६।१।११)

परन्तु **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'** श्रुति के रहते अन्य ग्रन्थों को परम प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता। इसलिए देखना यह चाहिए कि वेद में भारत और भारती शब्द हैं या नहीं ? यदि हैं तो वहाँ इनका सन्दर्भ क्या है ?

जो पाश्चात्य विद्वान् वेदों में इतिहास मानते हैं, वे और उनके उच्छिष्टभोजी भारतीय विद्वान्—इन दोनों के लिए कोई समस्या नहीं है। वे तो सीधा कह देंगे कि वेद में भारत नाम अंकित है, इसीलिए इस देश का नाम भारत पड़ा। परन्तु यह नाम क्योंकि महाभारत-काल के बाद व्यवहार में आया, इसलिए उन विद्वानों को यह कहते भी कोई संकोच नहीं होगा कि वेदों की रचना महाभारत के पश्चात् हुई। परन्तु जो वेदों में इतिहास नहीं मानते और वेदों को सृष्टि के आदि की रचना मानते हैं, वे यह कैसे मान सकते हैं कि इस देश का 'भारत' नाम पड़ने के पश्चात्, अर्थात् महाभारत के पश्चात्, वेद रचे गए ? उनकी तो यह निश्चित धारणा है कि वेद में इतिहास या भूगोल का वर्णन नहीं है, क्योंकि वेदों के पश्चात् ही मानव-जाति का इतिहास और भूगोल प्रारम्भ होता है, उससे पहले नहीं। हाँ, वेदों में नित्य इतिहास है, अनित्य इतिहास नहीं। नित्य इतिहास का सम्बन्ध सृष्टि के शाश्वत नियमों से है।

इसका सीधा और शास्त्र-सम्मत समाधान यही है कि वेद में भले ही इतिहास और भूगोल न हो, किन्तु वेदों के ही शब्दों को लेकर मानव-जाति ने अपने ऐतिहासिक पुरुषों और भौगोलिक स्थानों का नामकरण किया है। मनुस्मृति का ही प्रमाण है—

वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।

—अर्थात् शुरू-शुरू में वेदों के शब्दों से ही मानव-जाति ने सृष्टि के पदार्थों का नामकरण किया। इसलिए यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि वेद में भले ही 'भारत' शब्द किसी देश-विशेष का नाम न हो, परन्तु बाद में इस देश के निवासियों ने अपने देश को यह नाम दिया। भारत का अर्थ है—भरण-पोषण करने वाला, या 'भा' अर्थात् आभा में—दीप्ति में, 'रत' अर्थात् लिप्त। भारत-वासियों की यह धारणा रही है कि सृष्टि में यदि ज्ञान की दीप्ति से सबसे पहले कोई देश देदीप्यमान हुआ है, तो वह भारत ही है। रवि बाबू ने तभी तो कहा है—

प्रथम प्रभात उदय तव गगने
प्रथम सामरव तव तपोवने
प्रथम ज्ञानधर्म कत काव्य-काहिनी।
अयि भुवनमनमोहिनी !

इसलिए इस देश का नाम 'भारत' सार्थक भी है, सटीक भी।

परन्तु एक बात स्पष्ट है—वेद में 'आर्यावर्त' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। 'आर्य' शब्द का उल्लेख तो अनेक स्थानों पर है, पर आर्यावर्त का नहीं। हाँ, मनु-स्मृति में आर्यावर्त शब्द का उल्लेख भी है और उसकी परिभाषा भी है, तद्यथा—

आ समुद्रात् तु वै पूर्वात् आ समुद्रात् तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्तं प्रचक्षते॥

अर्थात्—पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक, हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य जो प्रदेश है, उसका नाम आर्यावर्त है। सरस्वती और दृषद्वती नामक देवनदियों के बीच का जो देवनिर्मित देश है, उसी को आर्यावर्त कहते हैं। यहाँ ऋषि दयानन्द ने सरस्वती का अर्थ सिन्धु नदी और दृषद्वती का अर्थ ब्रह्मपुत्र नदी किया है जिससे भारत के भूगोल की अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है। इससे पूर्वोक्त श्लोक में जिस विन्ध्याचल का उल्लेख है वह भी भारत को उत्तर और दक्षिण के भागों में बाँटने वाला भारत की कटि में मेखला की तरह पड़ा मध्यवर्ती विन्ध्याचल नहीं, अपितु हिन्द महासागर के तट पर विद्यमान पक्षितीर्थ के नाम से विख्यात विन्ध्याचल है जिसकी दो भुजाएँ पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट की पर्वत-शृंखला के रूप में मध्यवर्ती विन्ध्याचल में आकर मिलती हैं।[इसके लिए प्रमाण देखना हो, तो वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड के ६०वें सर्ग का ७वाँ श्लोक देखिए।]

एक बात और भी ध्यान देने की है। वेदों के किसी प्राचीन भाष्यकार ने वेद में आए 'भारत' शब्द का अर्थ देशपरक नहीं किया। ऋषि दयानन्द ने नहीं किया, क्योंकि वे तो वेद के शब्दों को **रूढ़िज** नहीं, **योगज** मानते थे और वेद में इतिहास और भूगोल का सर्वथा अभाव मानने के सिद्धान्त के पुरस्कर्ता और प्रबल पक्षधर थे।

चारों वेदों में भारत और भारती शब्द मिल जाएँगे। आप्री सूक्त चारों वेदों में है और इस सूक्त में सर्वत्र, **इडा, सरस्वती** और **मही**—इन तीन देवियों का भी उल्लेख है। कहीं-कहीं इन तीनों शब्दों के स्थान पर 'भारती' शब्द भी मिलता है, अर्थात् भारती शब्द कहीं **इडा** के स्थान पर, कहीं **सरस्वती** के स्थान पर और कहीं **मही** के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि इडा, सरस्वती, मही और भारती—इन चारों शब्दों के अर्थों में भी विशेष अन्तर नहीं होना चाहिए, अन्यथा वे एक-दूसरे के स्थान पर क्यों प्रयुक्त होते?

अब यहाँ हम केवल ऋग्वेद के उन मन्त्रों का उल्लेख करते हैं जिनमें 'भारत' और 'भारती' शब्द आए हैं। पहले 'भारत'-सम्बन्धी मन्त्र देखिए—

श्रेष्ठं यविष्ठ भारताग्ने द्युमन्तमा भर।
वसो पुरुस्पृहं रयिम् ॥

(मंडल २, सूक्त ७, मन्त्र १)

इस मन्त्र का और आगे के मन्त्रों का ऋषि दयानन्दकृत अर्थ ही दिया जा रहा है—(वसो) हे सुखों में वास कराने, और (भारत) सब विद्या-विषयों को धारण कराने वाले (यविष्ठ) अतीव युवावस्थायुक्त (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान विद्वन् ! आप (श्रेष्ठम्) अत्यन्त कल्याण करने वाली (द्युमन्तम्) बहुत प्रकाशयुक्त (पुरुस्पृहम्) बहुतों को या बहुतों के द्वारा चाहने योग्य (रयिम्) लक्ष्मी को (आ भर) अच्छी प्रकार धारण कीजिए।

त्वं नो असि भारताग्ने वशाभिरुक्षभिः।
अष्टापदीभिराहुतः ॥

(मंडल २, सूक्त ७, मन्त्र ५)

हे (भारत) सब विषयों को धारण करने वाले (अग्ने) विद्वन् ! जो (वशाभिः) मनोहर गौओं से वा (उक्षभिः) बैलों से वा (अष्टापदीभिः) जिनमें सत्यासत्य का निर्णय करने वाले आठ चरण हैं उन वाणियों से (आहुतः) बुलाए हुए आप (नः) हम लोगों को सुख दिये हुए (असि) हैं, सो हम लोगों के सत्कार पाने योग्य हैं।

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥ (३।५३-१२)

हे मनुष्यो ! (यः) जो (इमे) ये (उभे) दोनों (रोदसी) अन्तरिक्ष और पृथिवी (ब्रह्म) धन वा ब्रह्माण्ड (इदम्) इस वर्तमान (भारतम्) वाणी के जानने व धारण करने वाले उस (जनम्) प्रसिद्ध आदि प्राणि-स्वरूप की (रक्षति) रक्षा करता है, जिस (इन्द्रम्) परमात्मा की हम (अतुष्टवम्) प्रशंसा करें उस (विश्वामित्रस्य) सबके मित्र की ही उपासना आप लोग करें।

तस्मा अग्निर्भारतः शर्म यं सज्ज्योक्पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम्।
य इन्द्राय सुनवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् ॥

(मण्डल ४, सूक्त २५, मन्त्र ४)

हे मनुष्यो ! (यः) जो (अग्निः) अग्नि के सदृश वर्तमान (भारतः) धारण करने वाले का यह धारण करने वाला (शर्म) गृह के सदृश सुख को (यंसत्) प्राप्त होवे वह (उच्चरन्तम्) ऊपर को घूमते हुए (सूर्यम्) सूर्यमण्डल को (ज्योक्) निरन्तर (पश्यात्) देखे (तस्मै) उस (नृणाम्) विद्या और उत्तमशीलयुक्त मनुष्यों के (नृतमाय) अत्यन्त मुखिया (नरे) नायक (नर्य्याय) मनुष्यों में कुशल (इन्द्राय) उत्तम ऐश्वर्यवान् के लिए (इति) ऐसा (आह) कहता है, उसको हम लोग (सुनवाम) उत्पन्न करें।

आग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः।
दिवोदासस्य सत्पतिः॥

(मंडल ६, सूक्त १६, मन्त्र १६)

हे विद्वान् जनो ! जो (दिवोदासस्य) प्रकाश के देने वाले का (भारतः) धारण करने वा पोषण करने और (वृत्रहा) मेघ को नाश करने वाला (पुरुचेतनः) बहुत चेतन जिसमें वह (सत्पतिः) श्रेष्ठ स्वामी (अग्निः) अग्नि के सदृश तेजस्वी सूर्य (आ अगामि) प्राप्त किया जाता है उसका हम लोग सेवन करें।

अब ऋग्वेद में भारती शब्द का उल्लेख देखिए—

शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती।
इडा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः॥

(मंडल १, सूक्त १४२, मन्त्र ६)

जो (देवेषु) विद्वानों में (अर्पिता) समर्पण की हुई (होत्रा) देने-लेने योग्य क्रिया वा (मरुत्सु) स्तुति करने वालों में (भारती) धारण-पोषण करने वाली (शुचिः) पवित्र (इडा) प्रशंसा के योग्य (सरस्वती) प्रशंसित विज्ञान का सम्बन्ध रखने वाली (मही) और बड़ी (यज्ञियाः) यज्ञ सिद्ध करने के योग्य क्रिया (बर्हिः) समीप प्राप्त बढ़े हुए व्यवहार को (सीदन्तु) प्राप्त होवे, उनको समस्त विद्यार्थी प्राप्त होवें।

आ भारती भारतीभिः सजोषा इडा देवैर्मनुष्येभिरग्निः।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु॥

(मंडल ३, सूक्त ४, मन्त्र ८)

जो (भारतीभिः) सुन्दर शिक्षित वाणियों के साथ (सजोषाः) एक-सी सेवा और प्रीति वाली (भारती) विद्या और शिक्षा से धारण की हुई वाणी वा (देवैः) दिव्य गुण और (मनुष्येभिः) विचारशील पुरुषों के साथ समान सेवा और प्रीति वाली (इडा) पृथिवी और (अग्निः) प्रकाशमान अग्नि वा (सारस्वतेभिः) वाणी में उत्पन्न हुए भावों के साथ (सरस्वती) प्रशंसित विज्ञानयुक्त वाणी (तिस्रः) उक्त तीनों (देवीः) देदीप्यमान (अर्वाक्) नीचे से (इदम्) इस (बर्हिः) अन्तरिक्ष को (आ) अच्छे प्रकार स्थिर होती है उनको सब मनुष्य (आ सदन्तु) आसादन करें, उनका आश्रय लें अर्थात् उनमें अच्छे प्रकार स्थित हों।

यही मन्त्र ज्यों-का-त्यों ऋग्वेद के सातवें मण्डल के दूसरे सूक्त के आठवें मन्त्र के रूप में पुनरुक्त है, परन्तु वहाँ उसका ऋषि दयानन्द ने सर्वथा भिन्न अर्थ किया है।

भारती पवमानस्य सरस्वतीडा मही।
इमं नो यज्ञमागमन् तिस्रो देवीः सुपेशसः॥

(मंडल ६, सूक्त ५, मन्त्र ८)

इस मन्त्र पर ऋषि दयानन्द का भाष्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए श्री पं० आर्यमुनि और श्री शिवशंकर काव्यतीर्थ-कृत अनुवाद किया जा रहा है—

(भारती) बिभर्तीति भरतस्तस्येयं भारती = ईश्वर-विषयिणी बुद्धि (सरस्वती) सरो विद्यतेऽस्या इति सरस्वती = विविध ज्ञानविषयिणी बुद्धि और (इडा मही) सर्वपूज्या बुद्धि (तिस्रः) ये तीनों (सुपेशसः देवीः) सुन्दर बुद्धियाँ (पवमानस्य) सबको पवित्र करने वाले परमात्मा के (इमं यज्ञम्) इस ज्ञानरूपी यज्ञ में (नः) हमको (आगमन्) प्राप्त हो।

इसका भावार्थ भी उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

परमात्मा उपदेश करता है कि हे पुरुषो ! तुम ज्ञानयज्ञ में विद्याप्राप्ति के लिए प्रार्थना करो। इसी अभिप्राय से इस मन्त्र में विद्या-विषयक भारती, सरस्वती और इडा ये नाम आए हैं। भारती, सरस्वती और विद्या—ये एकार्थवाची शब्द हैं। इस प्रकार परमात्मा ने विद्या-वृद्धि के लिए जीवों की प्रार्थना द्वारा उपदेश किया है। जैसाकि **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** इस वेदमन्त्र में विद्या की वृद्धि का उपदेश है, ऐसा ही उक्त मन्त्र में विद्या-वृद्धि के लिए उपदेश है।

आजकल कुछ विद्वान् मही का अर्थ भारत-भूमि, सरस्वती का अर्थ भारतीय संस्कृति और इडा का अर्थ भारतीय भाषा (या वेदवाणी) करते हैं। इस प्रकार का अर्थ करने पर ये तीनों शब्द 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' के उद्घोष के पर्याय बन जाते हैं। तब समीकरण इस प्रकार बनेगा—

हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान
भारतीय, भारती, भारत
भारतः, भारती, भारतम्
इडा, सरस्वती, मही
जन, भाषा, भूमि।

परन्तु हमारा कोई आग्रह नहीं है कि विद्वज्जन इस समीकरण को स्वीकार करें ही। केवल उनके विचारार्थ यह चर्चा है।

(प्रथम बार प्रकाशित)

वाममार्ग का उद्भव, स्वरूप और विकास

सांख्यदर्शन का सूत्र है—**उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथान्धपरम्परा।।** [अ० ३। सूत्र ७९।] अर्थात् जब उत्तम उपदेशक होते हैं तब उनके उपदेश से जनता में धर्म और सदाचार के मूल्यों की यथावत् स्थापना रहती है और लोग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि की ओर, बिना एक-दूसरे का अतिक्रमण किये अग्रसर रहते हैं; किन्तु जब उत्तम उपदेशक या उनके उपदेश पर आचरण करने वाले नहीं रहते, तब जनता में अन्ध परम्परा चल पड़ती है। जो जिसके जी में आए करने लग जाता है और वह अपने आचरण को ही प्रमाण मानकर उसे धर्मानुमोदित सिद्ध करने में ही अपनी बुद्धि का प्रयोग करने लगता है।

कालक्रम से जब वेदों का पठन-पाठन लुप्त हो गया, स्वाध्याय के प्रति ब्राह्मणों की रुचि नहीं रही, तब वे स्वयं भी विद्याविहीन हो गए और उनके यजमान भी। पहले ब्राह्मण अपनी विद्या और धर्माचरण के कारण जनता में पूजित थे, किन्तु जब ये दोनों बातें उनके जीवन में न रहीं तब ब्राह्मणकुल में जन्म के कारण ही वे अपने-आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने लगे। अपने-आपको 'भूसुर' बताकर उन्होंने निज को पूजार्ह करार दिया और जातिवाद को प्रश्रय दिया। स्त्री, शूद्र तथा अन्य निम्न-वर्ग के लोगों को उन्होंने विद्या का अनधिकारी घोषित किया। गुरु की महत्ता सिद्ध कर गुरु की सेवा को ही मोक्ष का परम साधन बताया। वेदों के नाम पर उन्होंने यज्ञों में पशुहिंसा आदि नितरां अवैदिक काम प्रारम्भ कर दिये। अपने-आपको सब प्रकार के धर्म-कर्म से ऊपर बताकर मद्य-मांसादि का स्वच्छन्द सेवन प्रारम्भ कर दिया और प्राचीन ग्रन्थों में मद्य-मांस-समर्थक श्लोक प्रक्षिप्त कर दिये एवं स्वयं भी ऐसे अनेक नए ग्रन्थ लिखे जिनमें इनके सेवन को सदोष तो माना ही नहीं गया, प्रत्युत इनके सेवन को धर्म का अंग बताया गया। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि वेदों की दृष्टि में जो अनाचार और अधर्म था, वही आचार और धर्म बन गया। उन्होंने 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' अर्थात् ब्राह्मण अवध्य है—इस बात की घोषणा करके अपने अनाचार के लिए अपने को दण्ड से भी मुक्त कर लिया। उन्होंने राजाओं को निश्चय करा दिया कि ब्राह्मण चाहे जो करे, उसे दण्ड देने की बात कभी मन में नहीं लानी चाहिए। (नेपाल के कानून में ब्राह्मण अभी तक अवध्य है।) उनका यथेष्टाचार बढ़ चला। उन्होंने दूसरों के लिए इतने कठोर नियम

बनाए कि पुरोहित, गुरु या ब्राह्मण की आज्ञा के बिना यजमान अपना नित्य-कर्म भी नहीं कर सकता था। वे अपने चरणों की और अपनी पूजा कराने लगे और लोगों को बताने लगे कि इसी में तुम्हारा कल्याण है। प्रमाद और विषयासक्ति में निमग्न होकर उन्होंने भेड़चाल की तरह गुरु-शिष्य-परम्परा चलाई। धीरे-धीरे राष्ट्र में से बल, विद्या, बुद्धि और पराक्रम के शुभ गुण नष्ट होते गए।

आरम्भ-काल

यद्यपि यह प्रवृत्ति महाभारत-काल से कुछ पूर्व ही देश में आरम्भ हो गई थी, किन्तु महाभारत के पश्चात्, खासकर महात्मा बुद्ध के पश्चात् तो यह प्रवृत्ति बाढ़ की तरह बढ़ चली। उसी युग में श्राद्ध, मूर्तिपूजा, यज्ञों में पशुहिंसा और मूर्तियों पर बलि, अनेक देवता, अपने इष्ट देवता के नाम से अलग सम्प्रदाय, प्राचीन ग्रन्थों में मिलावट, आगम-निगम-संहिता और तन्त्र-ग्रन्थों की रचना एवं अष्टादश पुराणों का निर्माण हुआ। बौद्धधर्म के विभिन्न 'यान' नामक सम्प्रदायों (जिनमें ये चार मुख्य थे—हीनयान, महायान, वज्रयान और सहजयान) और हिन्दुओं के वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के सम्मिश्रण से उस युग में एक नए मत का प्रचलन हुआ, जिसे वाममार्ग या वामाचार नाम दिया गया।

महात्मा बुद्ध अब से लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। बौद्धमत कभी इस देश में इतना लोकप्रिय हुआ था कि राजा और प्रजा इसी के अनुयायी बनने में गौरव अनुभव करते थे। बौद्धों में अपने नए मत के प्रचार के लिए 'मिशनरी स्पिरिट' भी कमाल की थी। बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी इसी मिशनरी भावना के बल पर बौद्ध मत का प्रचार भारत के बाहर के देशों में भी किया था। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, बालि, बोर्निया, स्याम और हिन्देशिया आदि पूर्वी एशिया के देशों में तथा ईरान, अफगानिस्तान, लंका, तिब्बत, चीन और जापान आदि अन्य एशियाई देशों तक ये बौद्ध भिक्षु बुद्ध का 'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय' आदेश मस्तक से लगाकर गए, हिमाच्छादित पर्वतों को लाँघकर और अगाध जलराशि से युक्त समुद्रों के तूफानों की विभीषिकाओं को झेलते हुए उन्होंने शारीरिक कष्टों की बिना परवाह किये अपने मत का प्रचार किया। भारतीय संस्कृति के प्रसार की दृष्टि से वह युग भारत के इतिहास का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है।

परन्तु धीरे-धीरे बौद्ध धर्म का वह क्रान्तिकारी रूप लुप्त हो गया। बुद्ध के एक सहस्र वर्ष पश्चात् नाना सम्प्रदायों में विभक्त होकर बौद्ध मत इतना जीर्ण-शीर्ण, व्यामिश्रित और अनाचार-प्रधान हो गया कि बुद्ध ने जिस आचार पर सर्वाधिक बल दिया था, वही आचार उसमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। हिन्दुओं में भी उस समय जो नाना सम्प्रदाय उभरे, वे बौद्धों की उसी अनाचार-

प्रधानता से प्रभावित थे। परवर्ती बौद्ध धर्म और विभिन्न तान्त्रिक मतों में आचार और दर्शन की इतनी अधिक समानता है कि उसमें भेदक रेखा खींचना कठिन है। जिस देश में बौद्ध धर्म ने जन्म लिया उसी देश में वह नामशेष हो गया—इतिहास की इस अघटनीय घटना की व्याख्या भी यही है कि जब हिन्दू तान्त्रिक मतों में और बौद्ध सम्प्रदायों में कोई भेद न रहा, तब बौद्धों के अलग अस्तित्व की भी आवश्यकता न रही। वास्तव में कहना चाहिए कि दोनों ही समान रूप से अनाचार के समुद्र में डूब गए। वर्तमान में जो तथाकथित विशाल हिन्दू समाज का पारावार है, वह वही अनाचार का समुद्र है, जिसमें हिन्दू और बौद्ध तान्त्रिकों की मनमानी रूढ़ियों की कुनदियाँ आकर गिरती हैं। इसी अनाचार के समुद्र को ऋषि दयानन्द ने आचार के पारावार में परिवर्तित करने के लिए आर्यसमाज को जन्म दिया था।

महाभारत में तन्त्र-ग्रन्थों को धार्मिक ग्रन्थों के रूप में कहीं स्मरण नहीं किया गया। अलबत्ता पुराणों में उनकी चर्चा है। इससे भी पुराणों के साथ उनकी समकालीनता और महाभारत से अर्वाचीनता सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, बुद्ध के लगभग १,००० वर्ष पश्चात् भी पुराणों का या तन्त्र-ग्रन्थों का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उसके बाद के एक हजार साल में तो जैसे इनका ही बोलबाला बना रहा और १२वीं सदी तक वे ही सर्वत्र छाए रहे।

अश्लील मूर्तियाँ क्यों ?

जगन्नाथपुरी, भुवनेश्वर, खजुराहो और द्वारिकापुरी आदि मन्दिरों की दीवारों पर जितनी अश्लील मूर्तियाँ पाई जाती हैं, उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए बताया जाता है कि मन्दिर पर बिजली न गिरे, इसलिए ये अश्लील मूर्तियाँ बनाई गई हैं, क्योंकि विद्युत् कुमारी कन्या है, वह इन मिथुन मूर्तियों को देखकर संकोच के कारण इनकी तरफ आँख नहीं उठाएगी। किन्तु उसी काल के बने नेपाल के बौद्ध मन्दिरों में ये अश्लील मूर्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत दीवारों पर सर्वत्र ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्तियाँ हैं। जब एक पौराणिक पण्डित से मैंने अपनी नेपाल-यात्रा में इस विपर्यास का कारण पूछा, तब उसने कुछ गर्व के साथ कहा कि "हिन्दुओं के मन्दिरों में अश्लील मूर्तियाँ यह दिखाने के लिए हैं कि हिन्दू साधक इस प्रकार की कामोत्तेजक मूर्तियों से भी विचलित नहीं होता और मन्दिर में जाकर अपने इष्ट देवता की आराधना में लीन हो जाता है, इस प्रकार वह बौद्ध साधक से श्रेष्ठ है। बौद्धों से हिन्दुओं की साधना की श्रेष्ठता बताने के लिए ही अश्लील मूर्तियाँ बनाई गई हैं।" परन्तु वस्तु-स्थिति भिन्न है। आज के युग में, उन मूर्तियों का औचित्य यूरोप की-सी नग्न कलाप्रियता के नाम पर किया जाए तो किया जाय, धर्म के नाम पर कदापि नहीं किया जा सकता। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार के जितने भी मन्दिर हैं, उनमें से एक हजार साल से अधिक पुराना एक भी नहीं है। ये सब

मूर्तियाँ उस युग की देन हैं जब अश्लीलता धर्म का अंग मानी जाती थी। वह वाम-मार्ग का युग था। वाममार्ग के उस युग में ही मूर्तियों की षोडशोपचार पूजा, देव-दासियों की प्रथा, अवतारवाद, राधा और कृष्ण की प्रेमलीला, अष्टधा भक्ति, नाम-संकीर्तन आदि की अवैदिक और पौराणिक कल्पनाओं का विकास हुआ, उनको धर्म का अंग माना गया और आज भी पौराणिक धर्म में उन्हीं का प्राबल्य है।

वाममार्ग नाम क्यों ?

वाममार्ग को वाममार्ग इसलिए तो कहा ही गया कि वह उल्टा रास्ता था, किन्तु उसे वाममार्ग या वामाचार इसलिए भी कहा गया कि इसमें वामा अर्थात् स्त्री का महत्त्व था। इसमें स्त्री को शक्ति का प्रतीक माना गया। शक्ति अर्थात् आद्याशक्ति, आद्याशक्ति अर्थात् जगज्जननी। 'शक्ति' केवल वैयाकरण की दृष्टि से ही स्त्रीलिंगी नहीं है, किन्तु उसमें मानव-मन की यह अनुभूति भी समाविष्ट है कि जैसे माता के पेट से शिशु जन्म लेता है, उसी प्रकार समस्त सृष्टि का अभ्युदय जगज्जननी के पेट से होता है। उस शक्ति को समस्त देवताओं की आराध्या माना गया। उसी शक्ति में जगत्-रचयिता ब्रह्मा का, जगत्पालयिता विष्णु का और जगत्-संहर्ता महाकाल का आवास माना गया। वह शक्ति ही जगत्-कारिका, जगत्-पालयित्री और महाकाल की स्वामिनी—उसके शव पर नृत्य करने वाली—सब देवताओं की अधिष्ठात्री मानी गई। एक ओर उमा, पार्वती, काली, दुर्गा, चण्डी और दूसरी ओर लक्ष्मी और राधा को उसी शक्ति का प्रतिरूप समझा गया। इतना ही नहीं, स्त्रीमात्र को उस शक्ति का प्रतिरूप मानकर उसकी पूजा का विधान किया गया। इस प्रकार दार्शनिक दृष्टि से स्त्रीमात्र में मातृ-बुद्धि करने में मानव-मन में उदात्त भावनाओं की सृष्टि हो सकती थी, किन्तु उसके साथ जो पंच मकार की साधना रखी गई, उसके कारण व्यवहार में वह मन की निम्नतम वृत्तियों को ही उद्बुद्ध करने में चरितार्थ हुई।

तान्त्रिक मतों का उदय

तान्त्रिक मतों को वाममार्ग का पर्यायवाची समझना चाहिए। जिन ग्रन्थों में पार्वती शिष्य बनकर प्रश्न करती हैं और महादेव या भैरव गुरु बनकर प्रश्नों के उत्तर देते हैं, वे आगम कहलाते हैं। जिन ग्रन्थों में महादेव शिष्य बनकर प्रश्न करते हैं और पार्वती गुरु बनकर उत्तर देती हैं, वे निगम कहलाते हैं। शैवों के इन आगम और निगमों की संख्या सैंकड़ों में है। यद्यपि तन्त्रों में शैवों के आगम और निगम दोनों शामिल किये जाते हैं, किन्तु खासतौर से शाक्तों के धर्मग्रन्थ ही तन्त्र शब्द से अभिहित होते हैं। इस तरह शाक्त मत का अध्ययन करने से ही वाममार्ग का

असली स्वरूप सामने आ सकता है। परन्तु ये तन्त्र-ग्रन्थ संख्या में विपुल होने पर भी अधिकांश अप्रकाशित हैं। बहुत-से तन्त्र-ग्रन्थ नेपाल और तिब्बत में ही प्राप्य हैं। (स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन मूल या अनूदित रूप में काफी तन्त्र-ग्रन्थों का तिब्बत से उद्धार करके लाए थे। वे भी अभी तक अप्रकाशित हैं और पटना म्यूजियम में सुरक्षित हैं।) इन मतों के अनुयायी अपने ग्रन्थ किसी अन्य मतावलम्बी को तो दिखाते ही नहीं, किन्तु अपने मतावलम्बी को भी तब तक नहीं दिखाते जब तक इनके गुह्यसमाज के दीक्षित-चक्र में शामिल होकर वह अपनी दृढ़ अनुरक्ति सिद्ध नहीं कर देता। 'गुह्यसमाज तन्त्र' में तो यहाँ तक लिखा है कि यदि कोई अनधिकारी व्यक्ति उस ग्रन्थ का दर्शन कर ले तो दर्शन करने वाला और दर्शन करवाने वाला दोनों नरक में जाते हैं। अपनी इस गुह्यता को बनाए रखने के लिए ही लोग अपने मन्दिर पर्वत-शिखरों पर या सघन वनों में बनाते हैं ताकि इनके दीक्षित-चक्र की साधना निर्विघ्न रूप से चलती रहे। कहीं-कहीं ये मन्दिर भूगर्भ में या गुफाओं में मिलते हैं। मन्दिरों में अन्धकाराच्छन्न गर्भगृहों की व्यवस्था भी कदाचित् इसी कारण की गई थी। इस प्रकार के अनाचार को देखकर कुपित होने वाले जन-सामान्य के कोप की आशंका से बचने के लिए भी ये अपने साधना-केन्द्र ऐसे स्थानों पर रखते हैं जहाँ दिन में तो अन्य लोग भले ही पहुँच जाएँ, किन्तु रात में कोई पहुँचने का साहस नहीं करता। (उदाहरण के लिए गोहाटी में कामाख्या मन्दिर और जम्मू के वैष्णवदेवी तीर्थ का नाम लिया जा सकता है।)

कुछ तन्त्रों में तन्त्र-संख्या ६४ बताई जाती है। कहीं-कहीं ऐसे भी उल्लेख हैं कि विश्व के तीन विभिन्न भागों में ६४-६४ तन्त्र मिलते हैं। किन्तु हस्तलिखित प्रतियों के रूप में भी उपलब्ध तन्त्रों की संख्या इससे कहीं अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि तन्त्रों की मूलभूमि बंगाल रही है। वहीं से असम, नेफा, नेपाल में और फिर उससे भी परे तिब्बत और चीन में बौद्ध धर्म के माध्यम में उनका प्रचार हुआ है। सामान्यतः तन्त्रों की रचना शिव-पार्वती के संवाद के रूप में ही हुई है। शाक्त मत की उदात्त और निम्न वृत्तियाँ आज के बंगाल में भी देखी जा सकती हैं। जिस धूम-धाम से दुर्गा-पूजा वहाँ मनाई जाती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं। शाक्त मत का उत्कृष्ट रूप रामकृष्ण मिशन के रूप में प्रस्फुरित हुआ और निकृष्ट रूप आज भी काली के मन्दिर में बकरों की बलि चढ़ाने की परम्परा में दृष्टिगोचर होता है। अद्वैत का उपासक रामकृष्ण मिशन भी शाक्त मत की ही देन है, यह बात कदाचित् कुछ लोगों को अटपटी प्रतीत हो, परन्तु हम यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन कर रहे हैं। यद्यपि रामकृष्ण मिशन का अद्वैत इस समय शांकर अद्वैत से प्रभावित है, परन्तु रामकृष्ण परमहंस की आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत जगज्जननी के रूप में प्रतिष्ठित शाक्तों का शक्ति-तत्त्व ही है, यह निर्विवाद है। एक दृष्टि से

तान्त्रिक लोग भी अद्वैत के उपासक हैं—इसका विवेचन हम आगे करेंगे जब वाम-मार्ग के दार्शनिक पक्ष पर विचार का प्रसंग आएगा।

पाँच मकार

वाममार्गियों ने जिन पाँच मकारों को सृष्टि का नियामक तत्त्व स्वीकार करके उनकी आराधना को चरम लक्ष्य माना है वे पाँच मकार ये हैं: (१) मद्य, (२) मांस, (३) मीन, (४) मुद्रा, और (५) मैथुन। मद्य ऐसी परमौषधि मानी गई है, जो व्यक्ति को संसारिक सुख-दुःख से परे पहुँचा देती है। मांस से अभिप्राय है ग्राम्य, वायव्य तथा वन्य पशुओं का मांस जिसे बल का स्रोत माना गया है। मीन अर्थात् मछली जिसे स्वादु तथा बुद्धिवर्धक और वीर्यवर्धक माना गया है। मुद्रा का अर्थ है भुना हुआ या पकाया हुआ या तला हुआ अन्न—जैसे मुरमुरे (बंगाल और बिहार में जिसे 'लाई' कहते हैं), पूरी-कचौरी, बड़े-पकौड़ी या मिष्टान्न। हाथों से की जाने वाली विभिन्न मुद्राओं की ओर भी मुद्रा शब्द का संकेत है। ह्रीं, क्लीं, फट् आदि बीजाक्षरी मन्त्रों का जाप करते हुए जो तरह-तरह की हस्तमुद्राएँ की जाती हैं, वे इस शब्द से अभिप्रेत हैं। परवर्ती नृत्यशास्त्र का विकास भी मुद्रा के आधार पर ही हुआ है। आधुनिक भारत में प्रचलित कथकली और भरत-नाट्यम् आदि नृत्यशैलियों में हस्तमुद्रा और मुखमुद्रा के इस विकास का अध्ययन किया जा सकता है।

मुद्रा का अर्थ

परन्तु वाममार्गियों के विधान में मुद्रा शब्द का एक विशेष अभिप्राय भी है जो अन्य किसी शास्त्र द्वारा समझ में नहीं आ सकता। मुद्रा का अर्थ है—पात्राधार या स्त्रीन्द्रिय योनि, या वह योगिनी साधिका स्त्री जिसके बिना तान्त्रिक साधक दीक्षितचक्र में प्रवेश नहीं पा सकता। किसी भी तान्त्रिक के लिए गुरु के पास दीक्षार्थ जाने से पूर्व यह आवश्यक है कि वह अपने साथ एक साधिका को भी अवश्य ले जाए—फिर वह चाहे उसकी पत्नी हो, या कन्या हो, या अन्य कोई भी स्त्री हो। वह स्त्री ही मुद्रा है। वज्रयानी उसे वज्रकन्या या वज्रधारिणी कहते हैं। शिष्य और शिष्या के रूप में साधक और साधिका पहले गुरु की सेवा करके उसे प्रसन्न करते हैं। जब गुरु प्रसन्न हो जाता है, तब वह इन दोनों का 'अभिषेक' करता है। अभिषेक यहाँ पारिभाषिक शब्द है। यह अभिषेक भी कई प्रकार का होता है। सामान्यतया इस अभिषेक का अर्थ वीर्य-सिंचन समझा जा सकता है। इस अभिषेक के बाद ही शिष्य और शिष्या दीक्षितचक्र में शामिल समझे जाते हैं। (साधक-साधिका की इस सदैव अनिवार्यता की झलक रवि बाबू की इस कविता-पंक्ति में भी दिखाई देती है: "न हूँगा न हूँगा मैं तापस, यदि न मिली तपस्विनी।")

मैथुन का अर्थ है भैरव और भैरवी का—शिव और पार्वती का—स्त्री और पुरुष का—संभोग, क्योंकि दीक्षितचक्र में उपस्थित सब स्त्री-पुरुष 'अहं भैरवस्त्वं भैरवी ह्यावयोरस्तु संगमः' की प्रतिज्ञा को चरितार्थ करने के लिए ही उपस्थित होते हैं। प्रत्येक पुरुष भैरव माना जाता है और प्रत्येक स्त्री भैरवी। इस मैथुन को जीवन के परमानन्द का स्रोत माना जाता है। प्रकृति और पुरुष के संयोग को कभी 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा गया था, किन्तु तान्त्रिकों ने उस उपमा के काव्यत्व को भुलाकर आध्यात्मिक अनुभूति को भी विशुद्ध भौतिक धरातल पर उतार लिया और अपने कामाचार को खुली छूट देने के लिए मैथुन को ही परमानन्द की संज्ञा दे डाली। इन पंच मकारों को काली तन्त्र में "एते पंच मकाराः स्युः मोक्षदा हि युगे-युगे" कहकर प्रत्येक युग में मोक्ष का परम साधन बताया गया।

चाहे कोई पुरुष हो और कोई स्त्री हो, वाममार्गी उनके समागम में दोष नहीं मानते। कुलार्णवतन्त्र में तो डंके की चोट कहा गया है कि "मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु"—अर्थात् अपनी माता को छोड़कर शेष स्त्रियों से समागम किया जा सकता है। और तो और, शास्त्रों में रजस्वला आदि के स्पर्श का निषेध किया है, किन्तु वाममार्गियों ने उनको भी अति पवित्र माना है। उनके एक अण्ड-वण्ड श्लोक में कहा गया है कि रजस्वला के साथ समागम पुष्करतीर्थ में स्नान के समान, चाण्डाली से समागम काशीयात्रा के समान, चमारी से समागम प्रयाग-स्नान के समान, रजक-दुहिता से समागम मथुरा-यात्रा के समान और कंजरी के साथ काम-क्रीड़ा अयोध्यावास के समान है। अन्य लोगों से अपनी परिभाषाओं को गुप्त रखने के लिए इन लोगों ने मद्य का नाम रखा 'तीर्थ', मांस का नाम रखा 'शुद्धि' या 'पुष्प' (मांसाहारी पंजाबियों में मांस को 'परसादा' या 'प्रसाद' कहने की प्रथा के साथ इसकी तुलना करिए), मीन का नाम रखा 'तृतीया' या 'जलतुरम्बिका' (बंगाल में मछली को 'जलतुरई' कहने का आम रिवाज है), मुद्रा का नाम रखा 'चतुर्थी' और मैथुन का नाम रखा 'पंचमी'। जो लोग वामाचार को नहीं मानते उन्हें ये लोग 'कण्टक', 'विमुख' या 'शुष्कपशु' आदि शब्दों से सम्बोधित करते हैं। ये मानते हैं कि भैरवी-चक्र में उपस्थित ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल-पर्यन्त लोग द्विज होते हैं और भैरवी-चक्र से अलग हो जाने पर सब अपने-अपने वर्ण में पहुँच जाते हैं।

भैरवी-चक्र में वाममार्गी लोग भूमि पर या लकड़ी के पट्टे पर एक बिन्दु, या त्रिकोण, या चतुष्कोण या वृत्त बनाकर उस पर शराब से भरा घड़ा रखते हैं और उसकी पूजा करते हैं (बिन्दु या त्रिकोण के पीछे भी उनकी तथाकथित फिलॉसफी है)। पूजा करते हुए वे मंत्र पढ़ते हैं—**'ब्रह्मशापं विमोचय'**—हे मद्य, तू ब्रह्मा के शाप से रहित हो। निर्दिष्ट गुप्त स्थान पर सब स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं; वाम-मार्गियों से इतर वहाँ कोई नहीं जा सकता। वहाँ एक स्त्री को नंगी करके पुरुष

उसकी योनि की पूजा करते हैं और स्त्रियाँ किसी पुरुष को नंगा कर उसके शिश्न की पूजा करती हैं। पुनः एक पात्र में मद्य भरकर और थाली में मांस के बड़े रखकर आचार्य के सामने ले जाते हैं। आचार्य 'भैरवोऽहम्' 'शिवोऽहम्' कहकर पात्र में से मद्य पीता है और बड़े खाता है, फिर उसी झूठे पात्र में से सब लोग बारी-बारी से मद्य पीते हैं और मांस खाते हैं। जब मद्य के नशे में माता-भगिनी आदि का विवेक लुप्त हो जाता है, तब कोई भी पुरुष और कोई भी स्त्री परस्पर कुकर्म में लिप्त हो जाते हैं।

आधुनिक भैरवी-चक्र

कुछ मास पूर्व ब्रिटेन में डॉ० वार्ड और कुमारी कीलर के जिस काण्ड की चर्चा अखबारों में हुई थी और जिस काण्ड ने एक बार तो ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को भी डावाँडोल कर दिया था, उस काण्ड का विवरण पढ़ने से वाममार्गियों के भैरवी-चक्र की सही तस्वीर सामने आ सकती है : शहर से दूर लॉर्ड एस्टर की विशाल किला-नुमा जागीर—उसमें निर्मल जल से भरा तालाब—उस तालाब में तैरती हुई नग्न सुन्दरियाँ और उनके साथ तैरते हुए विभिन्न मन्त्री, लॉर्ड और अन्य भद्र जन (जिनमें पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल अयूब खाँ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है)—फिर शानदार डिनर—उसमें शराब परोसती नग्न युवतियाँ और युवक—फिर कीलर का नग्नावस्था में मद्य-स्नान, फिर कीलर को कपड़े पहनाने के इच्छुक व्यक्तियों की भीड़ में से किसी एक पुरुष का चुनाव—फिर जिस मद्य से कीलर ने स्नान किया उसका सबमें वितरण और उस मद्य की लूट-खसोट—और फिर सबका स्वैराचार:—यह सब आधुनिक भैरवी-चक्र नहीं तो और क्या है?

उड्डीस तंत्र के अनुसार मद्यपान का एक आदर्श प्रयोग इस प्रकार है : घर में चारों ओर आले बने हों और हरेक आले में एक-एक बोतल शराब रखी हो। साधक एक आले वाली बोतल पीकर फिर दूसरे आले की ओर जाए, दूसरी बोतल खाली कर तीसरे आले की ओर, फिर चौथे आले की ओर, और इस प्रकार खड़ा-खड़ा तब तक मद्य पीता रहे जब तक लकड़ी के तख्ते के समान भूमि पर न गिर पड़े। जब नशा उतरे तो फिर उसी प्रकार पीना जारी रखे जब तक गिर न पड़े। जो इस प्रकार पीते-पीते तीसरी बार भूमि पर गिर पड़े उसका पुनर्जन्म नहीं होता —वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सच तो यह है कि ऐसे मनुष्य को दुबारा मनुष्य-योनि मिलने की कोई सम्भावना नहीं; वह मलमूत्र की किसी गन्दी नाली का कुत्सित कीड़ा ही अगले जन्म में बन सकता है, मनुष्य नहीं।

भैरवी-चक्र में उपस्थित ये भैरव-भैरवी कभी-कभी अधिक नशे में लड़ भी पड़ते हैं—इनमें परस्पर लतियाव, जूतमपैजार, केशाकेशी और मुक्का-मुक्की और धर-पटक हो जाती है। किसी-किसी को वहीं कै भी हो जाती है। उनमें जो सबसे

बड़ा सिद्ध माना जाता है, वह प्रायः पहुँचा हुआ अघोरी होता है और वह कै को भी खा जाता है। उसे विष्ठाभक्षण और मूत्रपान तक का परहेज नहीं होता। इनमें सन्त-शिरोमणि, सदाशिव और सबसे बड़ा जो सिद्ध माना जाता है उसका लक्षण यों किया गया है : **"हालां पिबति दीक्षितस्य मन्दिरे सुप्तो निशायां गणिकागृहेषु। विराजते कौलव चक्रवर्ती।"** इनकी परिभाषा में 'कौल' शब्द का अर्थ है सन्त। उसी को ये कुलीन और अच्छे कुल में पैदा हुआ मानते हैं जो उनके वाममार्ग से दीक्षित होकर सिद्धावस्था तक पहुँच जाए। उन कौलों में चक्रवर्ती अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है वह व्यक्ति जो लोक-लज्जा, शास्त्र-लज्जा और कुल-लज्जा को तिलांजलि देकर कलार के घर जाकर खूब शराब पीवे, वारांगनाओं के यहाँ जाकर निश्शंक होकर कुकर्म करे और रातभर वहीं सोवे; अर्थात् उनके यहाँ जो जितना कुकर्मी हो वहाँ वह उतना ही सिद्ध माना जाता है।

ऐतिहासिक पक्ष

भारतीय इतिहास में महात्मा बुद्ध का काल ऐसा सुनिश्चित है कि उसके बारे में आज तक कभी किसी विद्वान् ने विप्रतिपत्ति उपस्थित नहीं की। महात्मा बुद्ध का जन्म ५३५ ई० पू० में और उनकी मृत्यु ४८५ ई० पू० में हुई। जब तक महात्मा बुद्ध जीवित रहे, तब तक शास्ता के स्वयं विद्यमान रहने के कारण जब किसी विषय में शंका होती तो शिष्यगण शास्ता की सेवा में उपस्थित होकर उन शंकाओं का निवारण कर लेते। परन्तु बुद्ध के उपदेश कभी भी लिखे नहीं गए, इस-लिए उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध के मन्तव्यों के विषय में सन्देह पैदा होने लगे। सन्देह से विवाद बढ़ा और उस विवाद के उपशमन के लिए उनके शिष्यों ने समय-समय पर पाँच संगीतियाँ (गायन, संरक्षण, उद्धरण और आवृत्ति की सभाएँ) आयोजित कीं। प्रथम संगीति में तो केवल बुद्ध के वचनों का ही संग्रह किया गया। किन्तु बाद में नवीन विचार तथा मतभेद पैदा हुए और वे मतभेद संगीतियों में भी वाद-विवाद के रूप में उभरकर सामने आने लगे। पीछे तो यह परम्परा बन गई कि कोई भी विचार बौद्ध समाज में तब तक मान्यता प्राप्त नहीं करता था जब तक वह किसी संगीति में मान्य न हो जाए। प्रथम संगीति बुद्ध के अवसान के कुछ सप्ताह पश्चात् ही बुलानी पड़ी, जिसमें ५०० शिष्य उपस्थित हुए। फिर जब विनय और नैतिक नियमों का खुल्लमखुल्ला विरोध प्रारम्भ हो गया, तब सौ वर्ष के अन्दर-अन्दर दूसरी संगीति बुलानी पड़ी जिसमें दस सहस्र भिक्षु सम्मिलित हुए। इसी समय बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया—एक महासांघिक और दूसरा स्थविरवादी। बुद्ध के उपदेशों में जो किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरोधी थे वे स्थविरवादी, और जो परिवर्तन के पक्षपाती थे वे अधिक संख्या में होने के कारण महासांघिक कहलाए। यही अपरिवर्तनवादी आगे जाकर हीनयान और

परिवर्तनवादी महायान में रूपान्तरित हो गए। हीनयान आडम्बर के विरुद्ध था और धर्म की शुद्धता का पक्षपाती था, परन्तु महायान आडम्बर और समयानुसार परिवर्तन का पक्षपाती था। दोनों शब्दों के अर्थ से ही यह बात ध्वनित होती है—हीनयान अर्थात् छोटी सवारी अर्थात् निराडम्बर उपासना; महायान अर्थात् बड़ी सवारी अर्थात् विपुल आडम्बर के साथ शोभायात्रा निकालना, बड़े-बड़े मन्दिर और विशाल विहार तथा चैत्य बनवाना। बौद्धों का महायान ही मन्दिर और मूर्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दू धर्म का पूर्वरूप है।

मूर्ति-पूजा का श्रीगणेश

बुद्ध की सबसे पहली मूर्ति कदाचित् यूनानियों के सम्पर्क से गान्धार देश के लोगों ने बनाई थी। आज भी बुद्ध की प्राचीनतम मूर्तियाँ अफगानिस्तान और ईरान में ही पाई जाती हैं। अफगानों और ईरानियों ने बुद्ध को अपनी भाषा में 'बुत' कहा। यही बुत शब्द मूर्ति का पर्यायवाची है। बौद्धों की देखा-देखी पीछे हिन्दुओं ने भी अपने अवतारों की कल्पना करके उनकी मूर्तियाँ और मन्दिर बनाने प्रारम्भ कर दिये। इस काल के पूर्व कहीं भी मन्दिर या मूर्ति का वर्णन नहीं मिलता। यह ईसवी सन् के आरम्भ की और कनिष्क के काल की बात है। कुषाण-सम्राट् कनिष्क बौद्ध राजा था जिसका आधिपत्य ईरान और अफगानिस्तान तक फैला हुआ था।

तीसरी संगीति अशोक के समय २५१ ई० पू० में पाटलिपुत्र में बुलाई गई थी। सारनाथ और सांची की स्तम्भलिपियों से ज्ञात होता है कि अनाचार-परायण भिक्षुओं को अशोक ने श्वेत वस्त्र पहनाकर निकाल देने का आदेश दिया था। ये सब हीनयान-विरोधी थे। इन निष्कासित भिक्षुओं ने राजगृह और नालन्दा के पास ही अपना अड्डा जमाया और बाद में नालन्दा विश्वविद्यालय इनका प्रमुख केन्द्र बना। पहले महासांघिक, फिर महायानी और उसके बाद वज्रयानी, ये सब बौद्ध धर्म के अवांछनीय लोग थे, परन्तु इनकी संख्या अनल्प थी और वर्चस्व प्रचुर, इसलिए धीरे-धीरे ये ही बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व करने लगे और नालन्दा विश्व-विद्यालय के माध्यम से उन्होंने अपने मत को दृढ़ दार्शनिक भित्ति प्रदान कर अपने विद्वानों द्वारा अपने मत का प्रचार किया। तिब्बत में बौद्ध धर्म के महायानी और वज्रयानी रूप का प्रचार करने वाले दीपंकर श्रीज्ञान और स्मृतिज्ञान कीर्ति इसी विश्वविद्यालय के आचार्य थे। दीपंकर श्रीज्ञान को ही तिब्बती लोग 'अतिशा' के नाम से पूजते हैं।

ईसवी सन् के आरम्भ में, कनिष्क के समय तक (७८ ई०) आते-आते महायान-धर्म ने कला में बुद्ध के चरण, बोधिवृक्ष, रिक्त आसन और छत्र आदि के स्थान पर इनकी मूर्तियों को प्रश्रय दिया। महायान का पूर्ण प्रकाशित रूप कनिष्क के समय

ही सामने आया और उसके लगभग ५०० वर्ष बाद तो वह पूर्ण प्रतिष्ठित हो गया। धीरे-धीरे महायान की लोकप्रियता का असर हीनयान पर भी पड़ने लगा और वह भी उससे बिना प्रभावित हुए नहीं रह सका। हीनयान के अधिकांश ग्रन्थ पालि में हैं और महायान के ग्रन्थ मिश्र-संस्कृत में या शुद्ध संस्कृत में। महायान का मान्य ग्रन्थ है 'ललित विस्तर'। इस ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट है कि इसमें 'बुद्ध की लीला का ललित और सविस्तर वर्णन' है। बुद्ध के जीवन को अलौकिक व्यक्ति की लीला के रूप में चित्रित किया गया है और बुद्ध के मुख को प्रभामंडल से आलोकित बताया गया है। बाद में बुद्ध का यह अलौकिकत्व और मुख के चारों ओर का प्रभा-मंडल पौराणिक अवतारों में ज्यों-का-त्यों उतर आया। महायान के ग्रन्थों में कहा गया था कि जो लोग बुद्धमूर्ति या किसी प्रकार के स्तूप का निर्माण करते हैं, भित्ति-चित्र खींचते हैं (जैसे अजन्ता और एलोरा में), स्तूपों पर पुष्पार्पण या सुगन्धि अर्पण करते हैं या उसके सामने गायन-वादन करते हैं, या बुद्ध के प्रति अचानक भी आदर की भावना व्यक्त करते हैं, यहाँ तक कि जो बालक अनजाने या क्रीड़ा में भी बुद्ध के अंगों का आकार दीवार पर खींचते हैं, वे सब बोधि तक पहुँच जाते हैं। महायान की यह विचारधारा ही पौराणिक हिन्दू धर्म में भक्तिमार्ग की जननी है। महायानियों के साहित्य में जिस लोक में अमिताभ प्रतिष्ठित हैं उसे 'सुखावती व्यूह' नाम दिया गया है। इसी सुखावती व्यूह लोक के आधार पर पुराणों और तन्त्रों में स्वर्ग और नरक की कल्पना अधिक प्रगल्भ रूप में सामने आई है।

महायान पर भी हिन्दू साहित्य, धर्म, दर्शन और साधना का कम प्रभाव नहीं पड़ा। इसी कारण कुछ लोग महायान को हिन्दू बौद्ध धर्म या हिन्दू धर्म को बौद्ध महायान का रूपान्तर कहते हैं। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि महायान का मूल स्रोत श्रीमद्भगवद्गीता ही है। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के परस्पर सम्मिश्रण के बाद ईसा की पहली सहस्राब्दी में जो भावधारा भारतीय जनमानस में बह रही थी वह इसी प्रकार की थी। बाद में जब औपनिषदिक और पातंजल योग की सहायक नदियाँ भी इस धारा में मिल गईं तब रहस्यात्मक साधना-पद्धति का प्रचार हुआ। इसी रहस्यात्मक योग-पद्धति ने आगे जाकर तांत्रिक, शैव और शक्तिसाधना के प्रारम्भिक रूप का काम किया।

'परावृत्ति' शब्द का अर्थ

इसी महायान से बौद्धों के दो और परवर्ती सम्प्रदाय निकले जिनमें एक था वज्रयान और दूसरा सहजयान। तांत्रिक महायान धर्म का आदिप्रवर्तक कौन था, इस विषय में विवाद है। परन्तु महायान के 'सूत्रालंकार' ग्रन्थ में बुद्धत्व अर्थात् निर्वाण अर्थात् विश्व और विचार की एकात्मता (अद्वैत) अर्थात् तथता (बुद्ध को तथता प्राप्त करने के कारण ही 'तथागत' कहा जाता है) की प्राप्ति के लिए जो

पाँच प्रकार की परावृत्तियाँ बताई गई हैं (पंचेन्द्रिय परावृत्ति, मानस सर्वोद्ग्रह परावृत्ति, विकल्प परावृत्ति, प्रतिष्ठा परावृत्ति और मैथुन परावृत्ति) उनमें 'परावृत्ति' शब्द के अर्थ पर भारी विवाद है। फ्रांस के प्रसिद्ध प्राच्यशास्त्री प्रो० एस० सिल्वाँ लेवी ने 'मैथुन परावृत्ति' का अर्थ किया है : 'केन्द्र के चतुर्दिक् परिभ्रमण' (Revolution)। इस शब्द का सम्बन्ध बुद्धों और बोधिसत्त्वों के साधनात्मक रहस्यमय युग्मों से जोड़ा गया है। जापान के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० सुजुकि ने 'मैथुन परावृत्ति' शब्द का अर्थ किया है : 'आत्मा की आकस्मिक जागृति या उत्पाद'। जर्मनी के विद्वान् प्राच्यशास्त्री डॉ० विंटरनित्ज ने इसका सामान्य अर्थ किया है : 'मैथुन से विरति या विरोध' और विशेष अर्थ किया है : 'संसार-सम्बन्धी सामान्य विचारणा से अलग रहने की वृत्ति।' परन्तु डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने इसका 'मैथुन से विराग' अर्थ न लेकर यह अर्थ किया है : 'मैथुन-जनित आनन्द के समान सुख का उपभोग।' यह औपम्य विधान औपनिषदिक साहित्य के 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' शब्द के समकक्ष जा पड़ता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि परावृत्ति चित्त की वृत्तियों का वह परिवर्तन है जिसमें साधक संसार के प्रति अपने सामान्य दृष्टिकोण को बदल देता है। पदार्थों को सस्वभाव और संसार को माया मानना सामान्य दृष्टि है। इस सामान्य दृष्टि और व्यवहार से उलटकर पुनः चित्त के नैसर्गिक बिन्दु की ओर चित्त का आवर्तन ही परावृत्ति है। इसी परावृत्ति शब्द के कारण महायान में मैथुन और शक्तितत्त्व का प्रादुर्भाव समझा जाता है।

बौद्ध धर्म में तांत्रिकता का समावेश करने वाला आचार्य असंग था या नागार्जुन, यह विवादास्पद है। किन्तु यह निश्चित है कि छठी शताब्दी तक मंत्र, यंत्र, कुंडलिनी, मंडल, शक्तितत्त्व और पंचमकार आदि तांत्रिक बातें महायान में सम्मिलित हो चुकी थीं और सातवीं शताब्दी तक वज्रयान के रूप में बाकायदा प्रतिष्ठित हो चुकी थीं।

महायान का काल ईसवी सन् के प्रारम्भ से छठी शताब्दी तक रहा और उसके बाद ७वीं से १०वीं शताब्दी तक गुरु-शिष्य-परम्परा के रूप में गुप्त रूप से वज्रयान प्रचलित रहा। उसके बाद बारहवीं शताब्दी तक सहजयान का बोलबाला रहा। छठी शताब्दी के बाद ही ८४ सिद्धों का समय आता है जिन्होंने अपने उपदेशों और रहस्यगीतों से तथा अपने शिष्यों की परम्परा द्वारा सहजिया मत का प्रचार किया। सिद्धों का समय ८वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक माना जाता है। कुछ विद्वानों ने आदि सिद्ध सरहपाद (या सरहपा) को वज्रयानी साधना का आद्य आचार्य माना है।

८४ सिद्धों का युग

इन सिद्धों के नामों के अन्त में प्रायः 'पाद' या 'नाथ' शब्द जुड़ा होता है। बौद्ध

तान्त्रिकों से ही धीरे-धीरे 'नाथ' सम्प्रदाय का जन्म हुआ। नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध हिन्दू हैं और शेष सिद्ध प्रायः बौद्ध। इन ८४ सिद्धों में से कितने बौद्ध थे और कितने हिन्दू, यह निर्णय करना भी कठिन है। परन्तु भारतीय इतिहास में एक युग ऐसा रहा है (८वीं से १२वीं शताब्दी तक) जब इन सिद्धों का ही बोल-बाला था और धार्मिक क्षेत्र में इन्हीं की मान्यता थी। इन सिद्धों में यद्यपि कोई-कोई ब्राह्मण और क्षत्रिय भी थे, किन्तु अधिकांश लोग नीच वर्णों के थे और शिक्षित भी बहुत कम थे। वज्रयानियों तक के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए हैं, किन्तु इन सहजयानी सिद्धों के ग्रन्थ लोक-भाषा में लिखे गए हैं। लोक-भाषा का आश्रय लेने के कारण ही जन-सामान्य में इनके मत का प्रचार भी अधिक हुआ। समाज में इन सिद्धों की मान्यता का जहाँ तक प्रश्न है वह इसी से सिद्ध है कि अमरकोष में इन्हें देवयोनि कहा गया है। सिद्धों का एक पर्यायवाची 'गुह्यक' भी है जो उनकी तन्त्र-साधना की गुह्यता का द्योतक है। महाकवि कालिदास के मेघदूत में सिद्धांगनाओं और सिद्ध-वधुओं का भी, किन्नरियों के साथ वर्णन आया है। इन सिद्धों में सरहपा, लुईपा, कान्तपा, दारिपा, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, नागार्जुन और कृष्णमूर्ति आदि प्रसिद्ध हैं। सिद्धों ने वज्रयान द्वारा प्रतिपादित साधना को भी कठोर बताकर सहज साधना का प्रचार किया। ये ८४ सिद्ध ही वाममार्ग के असली आचार्य हैं। इनका कहना था कि वेदादि शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म का निर्वाह करना कठिन तो है ही, साथ ही कलियुग के लिए वह वर्जित भी है, इसलिए पाप-प्रधान कलियुग में मोक्षप्राप्ति का उपाय केवल सहज सुख की प्राप्ति ही है।

इन ८४ सिद्धों की संख्या ८४ ही क्यों है, इसका भी निश्चित उत्तर नहीं है। अनेक विद्वानों ने सिद्धों की जो नाम-सूची दी है वह जहाँ नामों की दृष्टि से भिन्न है वहाँ संख्या की दृष्टि से भी भिन्न है। परन्तु किसी भी सूची के अनुसार इनकी संख्या ८४ नहीं बनती। ८४ संख्या का अभिप्राय कामशास्त्र के ८४ आसनों से है या ८४ लाख योनियों से, यह कहना भी कठिन है। विद्वानों का अन्तिम निष्कर्ष यही है कि १०८ की तरह (माला में १०८ मनके होते हैं।) यह ८४ संख्या भी रहस्य-संख्या (Mystic Number) है।

सिद्धों की भाषा

इनमें से कई सिद्धों की रचनाओं का अनुवाद वापस संस्कृत में भी हुआ है। ये सिद्ध जिस प्रकार अपने आचार-व्यवहार में ऊटपटाँग थे, वैसे ही इनकी भाषा भी अटपटी थी, केवल शब्दों की दृष्टि से ही नहीं बल्कि अर्थ की दृष्टि से भी। गोपनीयता रखने के लिए ही उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसका अर्थ बहुत बार तो केवल उसकी संस्कृत-टीका से ही समझ में आ सकता है, मूल अपभ्रंश भाषा से नहीं। बाद में कबीर की वाणी में जो 'बरसे कम्बल भीगे पानी' के ढंग की उलट-

बाँसियाँ आई हैं, उनका मूल भी सिद्धों की भाषा ही है। कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित—आलोक-निरालोक-सी इनकी भाषा को 'संध्या भाषा' का नाम दिया गया है। परन्तु डॉ० विधुशेखर महाचार्य ने अनेक युक्ति-प्रमाणों से सिद्ध करके लिखा है कि उनकी भाषा का नाम 'संध्या भाषा' नहीं, किन्तु 'संधा-भाषा' है। 'संधा' शब्द का अर्थ उन्होंने किया है—'अभिसंधाय', अर्थात् 'अभिप्रेत्य', अर्थात् जान-बूझकर किसी खास मतलब से वैसी भाषा रखी गई है, जिससे जानकार लोग उसका अर्थ समझ सकें, गैर-जानकार नहीं। इन सिद्धों की भाषा ही आधुनिक समय में प्रचलित विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की जननी है, इसीलिए उनकी भाषा का यहाँ उल्लेख किया गया है। भारत की अधिकांश आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं (तमिल को छोड़कर) के इतिहास का पर्यालोचन करते हुए सिद्धों की भाषा का अध्ययन अनुपेक्षणीय है। पहले बुद्ध ने संस्कृत का तिरस्कार कर तात्कालिक लोक-भाषा पालि (जिसे कदाचित् ग्राम्य भाषा होने के कारण ही पालि नाम दिया गया। पल्ली-गाँव) को प्रश्रय दिया था, किन्तु बाद में उसके अनुयायियों ने पालि की उपेक्षा करके पुनः संस्कृत का आश्रय लिया। इसीलिए महायानियों या वज्रयानियों के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए। किन्तु सहजयानी सिद्धों ने पुनः बुद्ध की प्रवृत्ति को अपनाया और उस समय की अपभ्रंश भाषाओं में ग्रन्थ भी लिखे, प्रचार भी किया, तभी वे लोकप्रिय भी हुए।

'हठयोग प्रदीपिका' यद्यपि संस्कृत में लिखा ग्रन्थ है, किन्तु सिद्ध-युग का है। उस समय की प्रचलित धर्म-पद्धति का आभास पाने के लिए 'हठयोग प्रदीपिका' का निम्न श्लोक देखिए—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥

"कुलीन (जिसे पहले हमने 'कौल' कहा है) मैं उसे मानता हूँ जो रोज गोमांस खाये और अमरवारुणी पिये; अन्य लोग तो कुल-घातक हैं।" गनीमत है कि फिर अगले श्लोक में ही उसकी यों व्याख्या कर दी गई है—

गो शब्देनोदीपिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥

"गौ का अर्थ है जिह्वा, उस जिह्वा को उलटकर तालु में प्रविष्ट करना (हठ-योग की एक क्रिया, जिसे खेचरी मुद्रा भी कहते हैं) ही गोमांस का भक्षण है जो बड़े-से-बड़े पाप का नाश करने वाला है।" गोमांस-भक्षण का यह यौगिक अर्थ तो पता नहीं किसी ने लिया या नहीं लिया, किन्तु इससे कितनों ने गोमांस-भक्षण के समर्थन में प्रेरणा पाई, यह कल्पना सहज ही की जा सकती है।

दार्शनिक पक्ष

हिन्दू (वैदिक) धर्म के प्रति बौद्धों की आम धारणा क्या थी, यह इस उक्ति (सम्भवतः आचार्य धर्मकीर्ति की यह उक्ति है) से पता चल जाएगा—

वेद प्रामाण्यं कस्यचिकर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापारम्भः पापाहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिङ्गानि जाड्ये॥

"अक्लमारों की पाँच निशानियाँ है—वेद को प्रमाण मानना, इस सृष्टि के कर्ता के रूप में किसी ईश्वर को मानना, स्नान करने में धर्म समझना, उच्च वर्ण का अभिमान करना, और पाप नष्ट करने के लिए तपस्या करना।" अर्थात् वेद तथा ईश्वर के प्रति जन-सामान्य की आस्था को विचलित वे कर ही चुके थे। फिर समाज में आई रिक्तता को भरने के लिए बुद्ध की मूर्ति और नाना बोधिसत्त्वों की उपासना के रूप में जो आडम्बरवाद उन्होंने चलाया, वह हिन्दू धर्म में भी नाना देवी-देवताओं के रूप में ज्यों-का-त्यों उतर आया। फिर मानव की बौद्धिक तृप्ति के लिए जो दार्शनिक आधार तैयार किया गया उसमें मन्त्र-तन्त्र और योग की चामत्कारिक सिद्धियों का ही प्रमुख स्थान रहा। हमने ऊपर लिखा है कि वज्रपान और सहज-यान का ही रूपान्तर वाममार्ग है। परन्तु तान्त्रिक साधना की दृष्टि से जो आध्यात्मिकता का आवरण उन लोगों ने अपने क्रिया-कलाप पर चढ़ाया है, वह योगदर्शन से ही प्रसूत प्रतीत होता है। योगदर्शन में यदि अष्टांग-योग का विधान है तो बौद्ध तान्त्रिक साहित्य में षडंग-योग का वर्णन है।

बिन्दु की सिद्धि

तान्त्रिक साधना का मुख्य लक्ष्य है—बिन्दु-सिद्धि। बौद्धतान्त्रिक परिभाषा में बिन्दु ही बोधिचित्त नाम से प्रसिद्ध है। जैसे मनोमय कोश का सारांश मन है, और प्राणमय कोश का सारांश प्राण, वैसे ही अन्नमय कोश का सारांश शुक्र धातु या वीर्य है। अज्ञानी जीव के मन-प्राण-शुक्र ये तीनों ही चंचल होते हैं तथा मलिन होते हैं। बिन्दु शब्द से इन तीनों का ही अभिप्राय है। गुरु की कृपा से और अभिषेक-क्रिया से इन तीनों की शुद्धि होती है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम में बिन्दु-साधना का स्थान ही सर्वोच्च है। प्रथम आश्रम में बिन्दु-प्रतिष्ठा होती है, उस समय बिन्दु-क्षोभ निषिद्ध है। अशुद्ध बिन्दु क्षुब्ध होने पर प्राकृतिक नियम से अधोगति की ओर उन्मुख होता है। यही उसकी च्युति या पतन है, जिसका फल है मृत्यु। यदि इस बिन्दु को कोई ऊर्ध्वगामी कर सके तो वह अमरत्व लाभ कर सकता है (**मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।**)। ऊर्ध्वरेता की अवस्था प्राप्त करने

के लिए बिन्दु का ऊर्ध्वगामित्व आवश्यक है। ऊर्ध्वरेता बन जाने पर मनुष्य का अन्त:स्रोत सदैव ऊर्ध्वगामी रहता है। यही दिव्य अवस्था है।

इसके अलावा योगदर्शन की तरह शरीर को आठ चक्रों में विभाजित किया गया है। इन आठ चक्रों में सबसे नीचे है मूलाधार चक्र। इसी मूलाधार चक्र में निहित बिन्दु को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए मेरुदण्ड के नीचे मूलाधार के पास ही अवस्थित कुण्डलिनी को जागृत करना होता है। गुरु-कृपा से इस कुण्डलिनी के जागृत होने पर जब ब्रह्मरन्ध्र चक्र में कुण्डलिनी और बिन्दु का मेल होता है, तब मनुष्य ऊर्ध्वरेता की अवस्था तक पहुँच जाता है। ब्रह्मरन्ध्र चक्र ही उष्णीष चक्र या सहस्रदल कमल है। बिन्दु को उद्‌बुद्ध कर कुण्डलिनी के सहयोग से वहाँ तक पहुँचाना ही सिद्धि का चरम लक्ष्य है। ऊर्ध्वरेता बन जाने पर साधक का बिन्दु अधोगामी न रहने के कारण सन्तति-प्रजनन नहीं करता, अर्थात् जन्म-मरण का चक्कर छूट गया—यही मोक्ष है। उष्णीष कमल में कुण्डलिनी और बिन्दु के समागम से अमृत का झरना झरने लगता है—वही अमरता या सदाशिवत्व है।

शिव, शक्ति, त्रिशूल

तान्त्रिकों की परिभाषा में बोधिसत्त्व अपने निर्वाण के पश्चात् इस अवस्था में जब पहुँचते हैं तब सदा प्रज्ञापारमिता के संग आलिंगित रहते हैं। प्रज्ञापारमिता ही तारा है, अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में पहुँची हुई कुण्डलिनी। इसी कुण्डलिनी को उमा या पार्वती कहा गया। बौद्धों ने इस कुण्डलिनी को प्रज्ञा नाम दिया, शैवों ने पार्वती, वैष्णवों ने राधा, और वाममार्गियों ने ललना, रसना अवधूती या चाण्डाली। ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी और बिन्दु का समागम ही बौद्धों की दृष्टि में तथागतत्व—असली बुद्धत्व, शैवों की दृष्टि में सदाशिवत्व, वैष्णवों की दृष्टि में आनन्दकन्दत्व और वाममार्गियों की दृष्टि में सिद्धत्व है। बौद्धों के अनुसार प्रज्ञा ही शक्ति है। इसी प्रज्ञा को कुण्डलिनी या इड़ा पिंगला कहा गया है। ब्रह्मरन्ध्र में प्रज्ञा और उपाय (करुणाप्रेरित, बुद्धत्व की ओर अग्रसर बोधिचित्त) दोनों का एकत्र अवस्थान ही निर्वाण या अद्वय है। 'अद्वयवज्र संग्रह' में लिखा है—'**शिवशक्ति समायोगात् जायते चाद्‌भुतं सुखम्**'—शिव और शक्ति के समागम से अद्‌भुत सुख होता है। शक्ति का प्रतीक है त्रिकोण या त्रिशूल। त्रिशूलधारी साधु आज भी चाहे जहाँ देखे जा सकते हैं। कुछ तान्त्रिकों ने ओ३म् को भी त्रिशूल का ही रूप सिद्ध किया है। इस त्रिकोण की विस्तृत व्याख्या है। इसी त्रिकोण को, जो प्रज्ञा या शक्ति का दूसरा नाम है, 'हेवज्रतन्त्र' में भग भी कहा गया है। इस भग को महासुख का आवास माना गया है। यही वज्रालय या वज्रासन भी कहा जाता है। इसको सिंहासन बनाकर जो आसीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है।

वज्रयानियों ने बोधिचित्त को वज्रसत्त्व नाम दिया है। उनके निर्वाणावस्था-

पन्न वज्रसत्त्व की एक मूर्ति तिब्बत में मिलती है जो तिब्बती भाषा में 'याब्-युम्' या युगनद्ध मूर्ति कहलाता है। यह युगनद्ध ही, जिसमें अवलोकितेश्वर और प्रज्ञा-पारमिता तारा वज्रासनस्थ और परस्पर दृढ़ालिंगित अवस्था में दिखाये गए हैं, वज्रयानियों का चरम आराध्य है। शैवों की अर्धनारीश्वर की कल्पना और वैष्णवों के लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण या सीता-राम के युग्मों की कल्पना का मूल यही युगनद्ध है। वज्रयानियों का अद्वैत भी यही है।

वज्र शब्द के अनेक अर्थ हैं। तिब्बती भाषा में वज्र का पर्यायवाची शब्द है 'दोर्जे'। जो आजकल दार्जीलिंग के नाम से विख्यात पर्वतीय स्थान है उसका असली नाम है 'दोर्जेलिङ्'। ऐसा प्रतीत होता है कि वह वज्रयानियों का स्थान रहा है। भूतान में 'भूत' शब्द भी इसी वज्र का पर्यायवाची है। वज्र का अर्थ है कठोर, हीरा या मणि, चमकीली बिजली। यह भी शून्य का प्रतीक है। बौद्धों का विश्वास है कि बुद्ध ने इन्द्र से वज्र छीनकर इसे बौद्ध-धर्म का प्रतीक बना लिया। बुद्ध इसीलिए वज्रपाणि कहलाए। वज्र के तीन शूल हैं—बुद्ध, धर्म और संघ, जो बौद्ध धर्म में 'त्रिरत्न' कहलाते हैं।

परन्तु वज्रयानियों की परिभाषा में इसका एक और अर्थ भी है। 'ज्ञानसिद्धि' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

शुक्रं वैरोचनं ख्यातं वज्रोदकं तथा परम्।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्मं वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥

अर्थात्—वज्र का अर्थ पुंसेन्द्रिय और पद्म का अर्थ है स्त्रीन्द्रिय। बाद में भारतीय संस्कृति में कमल के महत्त्व का उद्गम यही प्रतीत होता है। खजुराहो आदि मन्दिरों में अश्लील मूर्तियाँ वज्र और पद्म के मेल की ही द्योतक हैं। वज्र और पद्म का मेल ही युगनद्ध है। वज्रयानियों का जो सबसे बड़ा मन्त्र है—"ओं मणिपद्मे हुँ", वह भी मणि (वज्र) और पद्म के मेल—युगनद्ध की उपासना का चरम साधन माना गया है। वाममार्ग युगनद्ध का ही उपासक है। वह उसे 'शिव-शक्ति समागम' कहता है।

वाममार्ग के ग्रन्थों में ध्यान के सम्बन्ध में उपदेश इस प्रकार किया गया है—"भक्त को चाहिए कि वह अपना सर्वस्व देवी को अर्पण करने के लिए पहले भावना द्वारा अपने हृदय-कमल को देवी का सिंहासन बना ले, फिर हृदय-कमल से टपकने वाले अमृत से देवी के चरणों का प्रक्षालन करे, फिर इन्द्रियों और विचारों की चंचलता को नृत्यवत् प्रस्तुत कर दे, फिर स्वार्थ-शून्यता और वासना-शून्यता के पुष्प उपहार में चढ़ाए। फिर वह सुरा का समुद्र, मांस और भुनी मछलियों का पहाड़, भात-दूध-चीनी और घी का ढेर देवी के सम्मुख धर दे। फिर त्रिपुण्ड्र के अमृत में देवी को स्नान कराए।" इस सब ध्यान की प्रक्रिया से भक्तों में आध्यात्मिक भावना के बजाय इन्द्रियों को उन्मादित करने वाली वृत्ति ही अधिक जागृत होती

होगी, इसमें सन्देह नहीं। फिर जब घण्टे-घड़ियाल बजते हैं, धूप जलती है, फूल महकते हैं, दीपक टिमटिमाकर कुछ प्रकाश और कुछ अप्रकाश का आलम पैदा कर देते हैं और मालाएँ लहराने लगती हैं, तब साधिकाओं के जमघट को देखकर साधक भी उद्दाम वासना के सागर में लहराने लगें तो क्या आश्चर्य ! फिर तो सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व किसी ज्ञानी के मन के किसी निभृत कोने में भले ही झाँकता रहे, किन्तु जनसाधारण को तो वाममार्ग की ओर ही जाने की प्रेरणा मिलती है।

आधुनिक भाषा में कहना हो तो वाममार्ग को विशुद्ध शिश्नोदरवाद या यौनवाद का मार्ग कहा जा सकता है। इस विषय में वामपन्थी (कम्युनिस्ट) भी ऐतिहासिक वाममार्ग के भूले-बिसरे अवशेष ही प्रतीत होते हैं, परन्तु ऋग्वेद में लिखा है—"मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः" (ऋक् ७।२१।५) शिश्न को देव मानने वाले कभी सत्य को नहीं पा सकते।

('आर्योदय' सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, १५ नवम्बर १९६३)

शिक्षा का उद्देश्य

जब श्रीमती इन्दिरा गांधी सत्ता के शिखर पर थीं तब एक बार एक सार्वजनिक भाषण में उन्होंने बड़े पते की बात कही थी। उन्होंने कहा था—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमसे दो बहुत बड़ी गलतियाँ हो गईं। पहली गलती तो यह कि हमने अंग्रेजों के जाने के पश्चात् उनके द्वारा प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया, और दूसरी गलती यह कि हमने अंग्रेजों के समय की नौकरशाही और अफसरशाही को अपनी शासन-व्यवस्था में ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया।

एक प्रकार से, वर्तमान काल में देश में जितनी भी समस्याएँ हैं, उन सबका मूल कारण उक्त दोनों गलतियों को माना जा सकता है। हो सकता है कि किसी को इस बात में अत्यन्त सरलीकरण की गन्ध आये, परन्तु कुशल चिकित्सक की तरह अन्य मनीषी विद्वान् भी किन्तु-परन्तु के हेर-फेर के साथ इसी निदान की स्थापना करेंगे। देश का ऐसा कौन-सा विचारशील व्यक्ति है जिसने शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता न बताई हो? राष्ट्रपति से लेकर सामान्य राजकर्मचारी तक, साधु-सन्तों से लेकर सामान्य नागरिक तक, शिक्षितम्मन्यों से लेकर अनपढ़ किसान तक सब एकस्वर से शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की बात कहते हैं। वह भी आज से नहीं, जिस दिन से भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है उसी दिन से, परन्तु आज तक स्थिति ज्यों-की-त्यों है।

क्या यह माना जाए कि इस शिक्षा-प्रणाली में स्थायित्व के ऐसे तत्त्व हैं कि यह बारम्बार प्रयत्न करने पर भी हटती नहीं और वज्रलेप की तरह चिपककर बैठ गई है? या यह माना जाए कि इस शिक्षा-प्रणाली के विरोधी अयथार्थदर्शी हैं, वे इसके गुणों को नहीं जानते, इसलिए उनके इतना कोसने पर भी यह अपने गुणों के कारण आज तक टिकी हुई है, और आगे भी टिकी रहेगी? या यह माना जाए कि भारत के निवासी कायर हैं जो इस शिक्षा-प्रणाली के परिवर्तन की बात तो खूब जोर-शोर से करते हैं, किन्तु इसे हटाने का प्रसंग आते ही उनके सामने अर्जुन के व्यामोह की-सी स्थिति पैदा हो जाती है और वे अपने हाथ से गाण्डीव फेंककर **"सीदन्ति मम गात्राणि···वेपथुश्च शरीरे मे···"** की मुद्रा में किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर बैठ जाते हैं? या यह माना जाए कि भले ही अधिसंख्य जनता इस शिक्षा-प्रणाली के परिवर्तन के पक्ष में हो, किन्तु इस शिक्षा-प्रणाली के समर्थक लघुसंख्यक

होकर भी इतने साधन-सम्पन्न और चतुर हैं कि वे अपनी चतुराई से इस परिवर्तन को क्रियान्वित नहीं होने देते ?

इसी प्रकार के और भी अनेक कारणों की तलाश की जा सकती है और प्रत्येक कारण के पक्ष में तर्क-परम्परा भी प्रस्तुत की जा सकती है, पर हमें लगता है कि उनमें से कोई भी कारण पर्याप्त कारण की कोटि में नहीं आता। फिर सबके चाहते हुए भी शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन क्यों नहीं हो पाता ?

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को जारी करने में अंग्रेजों का क्या उद्देश्य था, यह बात कई बार दुहराई जा चुकी है। अंग्रेजों को अपना शासन चलाने के लिए नौकरशाही की जरूरत थी और यह शिक्षा-प्रणाली उस नौकरशाही की मशीनरी के ऐसे पुर्जे तैयार करती थी जो उसमें पूरी तरह फिट बैठते थे। ये पुर्जे उस मशीनरी में एक बार फिट होने के बाद अपने-आपको कितना सौभाग्यशाली समझते थे, इसका अनुमान आज के अंग्रेजीदाँ लोगों को देखकर लगाया जा सकता है। यह अंग्रेज-परस्तों और अंग्रेजीपरस्तों का जादू सिर पर चढ़कर बोलने की पराकाष्ठा का द्योतक है। स्वर्गीय श्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू का यह वाक्य—"मैं इस देश का प्रधानमन्त्री बनने वाला अन्तिम अंग्रेज होऊँगा" (I will be the last Englishman to be the Prime Minister of India." यह वाक्य भारत में भूतपूर्व अमरीकी राजदूत श्री जॉन केनेथ गैलब्रैथ ने हाल में ही लिखी 'एज ऑफ अनसर्टेण्टी' नामक पुस्तक में उद्धृत किया है और उसने इसी मनोवृत्ति के कारण नेहरूजी की प्रशंसा की है।) हो सकता है, नेहरूजी ने उक्त बात गम्भीरता से न कही हो, पर इससे उनके मन का रुझान छिपा नहीं रहता।

पर नहीं, किसी पर भी दोषारोपण करने की आवश्यकता नहीं है—न अंग्रेजों पर, न अंग्रेजपरस्तों पर। इतना कोलाहल होने पर भी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन न होने का मुख्य कारण है—दिशाहीनता, उद्देश्य की अनिश्चितता और मानसिक विभ्रम। परिवर्तन सभी चाहते हैं, पर वह परिवर्तन क्या हो, किस तरह हो और किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हो—यह किसी के सामने स्पष्ट नहीं है। जब मंजिल ही नहीं मालूम तो जाएँ किधर ?

महात्मा गांधी न केवल दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे, प्रत्युत अनेक क्षेत्रों में अपने मौलिक तत्त्व-चिन्तन से नवीन और व्यावहारिक स्थापनाएँ करने वाले भी थे। वे स्कूल-कॉलेजों के इतने विरोधी थे कि अपनी किसी सन्तान को उन्होंने किसी स्कूल या कॉलेज में नहीं पढ़ाया। इतना ही नहीं, उन्होंने उस समय छात्रों का आह्वान किया कि वे स्कूल-कॉलेजों का बहिष्कार करें। हमारे आज के कई बड़े नेता उसी समय की उपज हैं। पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का बहिष्कार तो एक नकारात्मक पहलू था। उसका रचनात्मक रूप था—बुनियादी तालीम। इस बुनियादी तालीम का मुख्य उद्देश्य था—श्रम की प्रतिष्ठा, अर्थात् बालक कुछ-न-कुछ उत्पादक श्रम

करे और साथ में शिक्षा भी प्राप्त करे। उत्पादक श्रम में शामिल था—तकली चलाना, रूई धुनना-पींजना और सूत अटेरना, खिलौने बनाना, बागबानी और खेती-बाड़ी के काम में हाथ बँटाना, आदि। बुनियादी तालीम में पुस्तकों का स्थान नहीं के बराबर था और इतिहास, भूगोल, गणित, भाषा आदि सब विषय बालकों को बिना पुस्तकों के सिखाये जाते थे। बुनियादी तालीम का विचार बहुत अच्छा था, पर वह सेवाग्राम के सिवाय और कहीं नहीं चल पाया और अब तो शायद वहाँ भी नहीं है।

इधर जब से जीवन-स्तर को उन्नत करने की लहर चली है, तब से समझा जाने लगा है कि जो विद्या अर्थकरी नहीं है, वह विद्या नहीं है। इसीलिए शिक्षा को रोजी-रोटी की समस्या हल करने वाली होनी चाहिए—यह विचार उभरकर सामने आया, और जो शिक्षा युवकों को अपनी रोजी-रोटी कमाने के योग्य न बना सके, उसे सर्वथा व्यर्थ समझा जाने लगा। पर रोजी-रोटी का अर्थ भी केवल नौकरी समझा गया, जो अन्त में नौकरशाही की वंशवृद्धि में ही सहायक हुआ। परिणाम ? शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ बेकारों की संख्या में वृद्धि। इस समय देश में शिक्षितों की बेरोजगारी की एक नई समस्या भयंकर रूप से उपस्थित हुई है, जिसने युवकों के असन्तोष में घी का काम किया है।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का वैदिक आदर्श क्या है—यदि एक बार यह स्पष्ट हो जाए तो शायद बहुत-सा वाद-विवाद स्वयं शान्त हो जाए और शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता को हृदय से अनुभव करते हुए भी उस विषय में दिशाहीनता की स्थिति के कारण विद्यमान विवशता समाप्त हो सके। एक बार मंजिल का नक्शा सामने आ जाने पर उस तक पहुँचने का मार्ग भी तैयार किया जा सकता है।

उपनिषत्कालीन ऋषियों ने, शिक्षा कैसी होनी चाहिए, इस प्रश्न का समुचित उत्तर निम्नांकित मन्त्र में दिया है—

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

इस मन्त्र का प्रायः सहभोजों के अवसर पर उच्चारण किया जाता है, पर इसका किसी प्रकार के भोज से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो विद्याभ्यास के प्रारम्भ में गुरु और शिष्य द्वारा सम्मिलित रूप से उच्चरित होने वाला मन्त्र है। इस स्थापना का प्रतिपादक शब्द है—'नौ', जो द्विवचन है, अर्थात् हम दोनों—गुरु और शिष्य। विद्या ग्रहण के साथ ही इस मन्त्र का सम्बन्ध है, इस बात का द्योतक है—'**अधीतम्**' शब्द। **अधीतम्** का अर्थ है—विद्या-स्वाध्याय—जो कुछ हम पढ़ते या

पढ़ाते हैं। जिस धातु से 'स्वाध्याय' शब्द का निर्माण होता है, 'अधीतम्' में भी वही धातु है। **अधीतम् अध्याय** और **अध्ययन**—तीनों समानार्थक शब्द हैं। व्याकरण की दृष्टि से तीनों में केवल प्रत्यय का अन्तर है। 'अधीतम्' शब्द यहाँ कर्त्ता के स्थान पर है। अब इस मन्त्र का सीधा अन्वय और अर्थ यों होगा—

नौ अधीतं सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै,
(नौ अधीतम्) तेजस्वि अस्तु, मा विद्विषावहै।

गुरु और शिष्य दोनों मिलकर पाठ प्रारम्भ करने से पहले कहते हैं—हमारा स्वाध्याय साथ-साथ हमारी रक्षा करने वाला हो, साथ-साथ हमारे भोजनाच्छादन की व्यवस्था करने वाला हो, हम दोनों मिलकर साथ-साथ पराक्रम करें, हम परस्पर द्वेष न करें।

अर्थात्, अध्ययन-अध्यापन का उद्देश्य इस मन्त्र के अनुसार यह है कि गुरु और शिष्य आत्म-रक्षा करने में समर्थ हों, भोजन के लिए निराश्रित या पराश्रित न हों, समाज में वीरता के भाव की स्थापना करने वाले हों, उनका स्वाध्याय उन्हें तेजो-हीन और आत्म-गौरवहीन न बनाए और वे दोनों परस्पर द्वेष या प्रतिद्वन्द्विता के शिकार न हों, अर्थात्—गुरु के अन्दर अपने शिष्य के प्रति वही भावना होनी चाहिए जो एक पिता में अपने पुत्र के लिए होती है। प्रत्येक पिता चाहता है कि रूप, गुण, शौर्य, विद्या आदि में मेरा पुत्र मुझसे बढ़कर निकले। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**सर्वस्माज्जयमिच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराजयम्**'—अन्य सबसे विजय की कामना करे, किन्तु पुत्र से पराजय की कामना करे। अपने पुत्र को गुणों में अपने से बढ़कर देखने की इच्छा जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही सृष्टि के विकास के लिए आवश्यक भी। इसी प्रकार गुरु के मन में सदा यह भावना रहनी चाहिए कि मेरा शिष्य विद्यादि गुणों में मुझसे भी बढ़कर निकले, तभी समाज को योग्यतर नागरिकों की उपलब्धि की परम्परा कायम रह सकती है।

इस प्रकार इस मन्त्र के अनुसार निष्कर्ष-रूप में शिक्षा के ये पाँच उद्देश्य सामने आए—

१. आत्मरक्षा (**सह नौ अवतु**)
२. रोजी-रोटी की व्यवस्था (**सह नौ भुनक्तु**)
३. सामाजिक पराक्रम (**सह वीर्यं करवावहै**)
४. तेजस्विता (**तेजस्वि नौ अधीतमस्तु**)
५. अविद्वेष (**मा विद्विषावहै**)।

विश्व-बन्धुत्व

जो शिक्षा छात्रों को आत्मरक्षा और शत्रुओं से देशरक्षा के योग्य न बना सके, जो शिक्षा छात्रों की रोजी-रोटी की समस्या हल न कर सके—उन्हें श्रम से जी

चुराना सिखाए, जो शिक्षा विजिगीषु समाज का निर्माण न कर सके, जो शिक्षा छात्रों को तेजस्वी बनाने के बजाय उनका तेज छीनकर उन्हें अकालवृद्ध बनने के लिए छोड़ दे और जो शिक्षा सारे समाज को ऐक्यबद्ध करने के बजाय राग-द्वेष में फँसाकर नाना वर्गों और नाना जातियों में बाँटकर विघटन की ओर प्रवृत्त करे, जो शिक्षा समाज को परस्पर जोड़ने के बजाय तोड़े, वह सही शिक्षा नहीं है।

'सह नौ अवतु' की व्याख्या में ब्रह्मचर्य स्वयं समाविष्ट है, क्योंकि बिना ब्रह्मचर्य के शरीर, मन, बुद्धि का समुचित विकास सम्भव नहीं, और उनके विकास के बिना आत्मरक्षा कैसी ?

'सह नौ भुनक्तु' उस आश्रम-व्यवस्था का सूचक है जिसमें आ+श्रम अर्थात् चारों ओर श्रम का ही बोलबाला हो—जहाँ जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नौकर-चाकरों का उपयोग न हो, अपितु गुरु और शिष्य स्वयं मिल-कर अपने श्रम से अपने भोजनाच्छादन की जरूरतें पूरी कर लेते हों। बिना श्रम के आश्रमों की कल्पना में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के विलासितापूर्ण होस्टलों की झलक है, होटल अधिक और आश्रम कम हैं।

'सह वीर्यं करवावहै' उस स्थिति का संकेत करता है, जब राष्ट्र में कोई नागरिक कायर और दुर्बल न हो। इसीलिए तो 'वीर' एक ऐसा सम्बोधन है, जो आज भी भारतीय भाषाओं में भाई या पति के लिए व्यवहृत होता है।

'तेजस्वि नौ अधीतमस्तु'—इस बात को द्योतित करता है कि राष्ट्र के बच्चों को ऐसी पुस्तकें न पढ़ाई जाएँ 'जिनको पढ़के बेटे बाप को खब्ती समझते हैं।' अपने पूर्वजों, अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी सभ्यता के प्रति हीन भावना पैदा करने वाली शिक्षा-प्रणाली जहाँ व्यक्ति और राष्ट्र को स्वाभिमान से वंचित करती है, वहाँ उनकी अस्मिता छीनकर जीवन में निराशा का संचार करती है।

'मा विद्विषावहै'—शिक्षा-प्रणाली में आजकल विद्यमान प्रतियोगिता केवल द्वेष-भावना को प्रोत्साहन देती है। पर वैदिक शिक्षा-प्रणाली द्वेष-भावना के स्थान पर पारस्परिक सहयोग को महत्त्व देती है। यह सहयोग केवल गुरु और शिष्य का ही नहीं, शिष्यों के आपसी सहयोग का भी सूचक है। प्रतियोगिता के वातावरण में पलने वाले बालक ही आगे चलकर युद्धलिप्सु बनते हैं। प्रतियोगिता का पाठ पढ़ा-कर विश्व-शान्ति की आशा करना दिवास्वप्न मात्र है।

शिक्षा का यही वैदिक आदर्श है, जिसकी संक्षेप में ऊपर चर्चा की गई है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखा जाए तो शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन के सम्बन्ध में दिशाहीनता की स्थिति समाप्त हो सकती है और राष्ट्र के उद्धार के साथ-साथ विश्व-मानव की एकता के स्वप्न को यथार्थ के धरातल पर उतारा जा सकता है।

(डी० ए० वी० शताब्दी स्मारिका, १५ नवम्बर १९८७)

ग़लत दिशा देने वाली शिक्षा

देश के राजनेता और अन्य मनीषी अनेक बार यह उन्मुक्त हृदय से स्वीकार कर चुके हैं कि आज़ादी के बाद जो ग़लतियाँ हमसे हुई हैं उनमें सबसे बड़ी ग़लती यह है कि हमने अंग्रेज़ों द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए चलाई गई शिक्षा-प्रणाली को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर किया। उस शिक्षा-प्रणाली को जारी करने का दारोमदार मैकाले पर था। निश्चित रूप से उस शिक्षा-प्रणाली का अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ियत के साम्राज्य को चिर-स्थायी बनाना भी उद्देश्य था। अंग्रेज़ों को उस समय इस बात की कल्पना नहीं थी कि एक दिन हमको भारत से अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर वापस जाना पड़ेगा। उनकी दृष्टि में यह घटना कितनी ही अन-होनी क्यों न हो, पर भारत में चले तीव्र स्वतन्त्रता-संघर्ष के कारण उन्हें जाना ही पड़ा। भारत आज़ाद हुआ, पर आज़ादी के बाद भी उसी शिक्षा-प्रणाली का प्रभाव है कि अंग्रेज़ भले ही चले गए, पर वे अपने पीछे शिक्षित समाज की ऐसी पीढ़ी छोड़ गए जो पूरी तरह अंग्रेज़ियत में रची-बसी थी। उस पीढ़ी को ब्रिटिश दासता का उच्छिष्ट और अंग्रेज़ों का मानसपुत्र कहा जा सकता है।

स्वतन्त्र-चेता राष्ट्रवादियों ने शिक्षा-प्रणाली के इस प्रदूषण को स्वीकार करके भी उसे बदलने की बार-बार माँग उठाई, स्वयं सरकारी राजनेताओं ने भी उस शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन के लिए बार-बार शिक्षा-आयोग बिठाए, परन्तु इसमें वे कृत-कार्य नहीं हुए, क्योंकि वे स्वयं भी उसी शिक्षा-प्रणाली की पैदावार थे। इसलिए पूर्वनिर्मित ढाँचे से निकलना उनके लिए सम्भव नहीं हो सका। इसका मूल कारण यह है कि हमारे चिन्तन का आधार ही ग़लत था। यदि चिन्तन की सही दिशा अपनाई गई होती तो हमारी वर्तमान शिक्षा की यह दुर्दशा नहीं होती।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का मूल उद्देश्य है—बालक के शरीर, मन और बुद्धि का उचित विकास, ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में सृष्टि को समझकर उसमें अपनी उचित भूमिका निभाने का आत्मविश्वास, अपनी आजीविका के लिए परोपजीवी बनने के बजाय स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने का साहस, शोषणरहित समता-मूलक प्रबुद्ध समाज का निर्माण, वर्ग-विद्वेष से हटकर सर्वभूत-हित की कामना, मानवता और मानवीय संवेदना का आदर और अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का उचित अभिमान। बुद्धि-विरुद्ध

अन्धविश्वासों और पाखण्डों से दूर रहकर तर्कशुद्ध, विज्ञान-सम्मत विचारधारा को अंगीकार करने की बात इसमें स्वयमेव समाविष्ट हो जाती है। मनुष्य एक चेतन और बुद्धितत्व-प्रधान प्राणी है। वह सत् और असत् का विवेक करने में समर्थ है। पर आधुनिक शिक्षा ने हमें मानसिक और बौद्धिक दोनों दृष्टियों से गुलाम बना दिया है।

एक घटना

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए एक घटना का उल्लेख करना ठीक होगा। जब स्वामी श्रद्धानन्द भागलपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता करने जा रहे थे, तब मार्ग में लखनऊ में वे उत्तर प्रदेश के गवर्नर के यहाँ ठहरे। यह सन् १९१५ की बात है। गवर्नर का नाम लॉर्ड मेटकाफ़ (?) था। वे गुरुकुल कांगड़ी जा चुके थे, इसलिए स्वामी श्रद्धानन्द जी से भलीभाँति परिचित थे। तब तक स्वामी श्रद्धानन्द जी संन्यासी नहीं बने थे, महात्मा मुंशीराम ही थे। गवर्नर के निवास-स्थान पर उनकी एक अंग्रेज़ से भेंट हुई जो लंदन में आई० सी० एस० का डायरेक्टर था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इण्डियन सिविल सर्विस में—जिसका संक्षिप्त रूप आई० सी० एस० है—प्रशिक्षित होकर ही बड़े अंग्रेज़ अधिकारी भारत में प्रशासन सँभालने के लिए चुने जाते थे। विरले ही सौभाग्य-शाली भारतीय इस सर्वोच्च प्रशासनिक सेवा में सम्मिलित होने का गौरव प्राप्त कर सकते थे। उस अंग्रेज़ डायरेक्टर ने महात्मा मुंशीराम जी से कहा—"मेरे पास आई० सी० एस० में भर्ती होकर जो भारतीय विद्यार्थी आते हैं, मैं यह देखकर प्रसन्न होता हूँ कि सभी बड़े प्रतिभाशाली और परिश्रमी होते हैं। पर जिस बात को देखकर मुझे सबसे अधिक हैरानी होती है वह यह है कि उन विद्यार्थियों में मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति नहीं होती। इसका कारण क्या है?" महात्मा मुंशीराम जी ने कहा—"यदि इसका कारण जानना चाहते हैं तो मेरे साथ गुरुकुल कांगड़ी चलिए, वहाँ स्वयं आपके प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा।" फिर थोड़ी देर ठहरकर बोले—"जिन विद्यार्थियों की सारी शिक्षा विदेशी भाषा के माध्यम से हुई हो उनमें चिन्तन की मौलिकता कभी नहीं आ सकती।"

यही कारण है कि ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित शिक्षा की सही दिशा को अपनाने के लिए और राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श उपस्थित करने के लिए महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का पौधा रोपा। उस गुरुकुल में आधुनिक विषयों को पढ़ाने के लिए अपने अलग ग्रन्थ तैयार किये गए और मैकाले की शिक्षा-प्रणाली से प्रभावित पाश्चात्य चिन्तन का अनुकरण करने वाले ग्रन्थों का निराकरण किया गया। जो प्राचीन विषय थे, उनके ग्रन्थ तो मूल रूप से उपलब्ध थे, पर आधुनिक विषयों के ग्रन्थ अधिकांश ग़लत और मिथ्या विचारधारा का प्रचार करते थे।

ग़लत शिक्षा का उदाहरण

उदाहरण के लिए, विदेशियों के लिखे इतिहास-ग्रन्थों के माध्यम से यह मिथ्या प्रवाद फैलाया गया कि आर्य लोग इस देश के मूल निवासी नहीं, वे तो बाहर से हमलावर बनकर आए। यहाँ के मूल निवासियों को, जिनको आदिवासी कहा गया, पराजित करके उन्होंने यहाँ शासन करना प्रारम्भ कर दिया। इस विचारधारा को फैलाने का मुख्य कारण यह था कि अंग्रेज़ हमें बताना चाहते थे—जिस तरह आर्यों ने बाहर से आकर इस देश पर अधिकार कर लिया था, उसी तरह हम भी भले ही बाहर से आए हैं पर हमने भी इस देश पर अधिकार कर लिया है, इसलिए हमारा यह अधिकार किसी भी तरह नाजायज़ नहीं है। आर्यों के बाहर से इस देश में आने का आज तक कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। किसी भारतीय ग्रन्थ में इसका संकेत तक नहीं। हाँ, उल्टे संकेत तो हैं, अर्थात् यहाँ से आर्य लोग सुदूर विदेशों तक गए। सत्य यह है कि आर्य ही इस देश के मूल निवासी हैं। यहाँ के देश का नाम आर्यावर्त, पर्वतों का नाम हिमालय और विन्ध्याचल आदि तथा नदियों का नाम गंगा, यमुना, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, कृष्णा, कावेरी, गोदावरी, नर्मदा आदि—ये सब नाम आर्यों के ही दिए हुए हैं। यदि इस देश में आर्यों से पहले कोई और लोग रहते थे, तो वे इस देश को क्या कहते थे? हिमालय को क्या कहते थे? गंगा-यमुना आदि नदियों को किस नाम से सम्बोधित करते थे? कोई पाश्चात्य इतिहासकार आज तक यह बताने का साहस नहीं कर सका।

आश्चर्य की बात है कि आज भी हमारे स्कूल-कॉलेजों में इतिहास की पुस्तकों में यही ग़लत बात पढ़ाई जाती है। आज का शिक्षित वर्ग इसी ग़लत विचारधारा से अनुप्रमाणित है। यह विचारधारा भारतवासियों में राष्ट्रप्रेम की भावना कैसे पैदा कर सकती है? वेद तो स्पष्ट कहता है—**"अहम् भूमिम् अददाम् आर्याय"**—मैंने यह भूमि आर्यों को ही दी है। उक्त ग़लत विचारधारा कितनी बद्धमूल हो गई है उसका प्रमाण यह है कि हाल में ही पिछले कुछ दिनों से दूरदर्शन पर एक शे'र बार-बार दोहराया जाता रहा है—

सर-ज़मीने हिन्द पर, अक़्वामे फ़िराक।
काफ़िले बसते गए, हिन्दोस्ताँ बनता गया॥

अर्थात्—विदेशों से आए हमलावर काफ़िलों के इस देश में बसने के बाद से ही यह देश बनना शुरू हुआ। क्या उनके आने से पहले हिन्दोस्ताँ नहीं था? क्या इन मुग़लों और पठानों तथा अंग्रेज़ों या अन्य विदेशियों के हमलावर बनकर इस देश में आने के बाद से ही हिन्दोस्ताँ बना है? इन इतिहासकारों की बुद्धि की बलिहारी है!

पाश्चात्य शिक्षा आत्मघाती

इसके अतिरिक्त आज जो अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता है उसमें यही तो सिखाया जाता है कि हम सफल प्रतिद्वन्द्वी कैसे बन सकते हैं ? अपनी इच्छाओं को बेलगाम छोड़कर उन्हें पूरा करने के लिए उपभोक्ता-सामग्री को अधिक-से-अधिक कैसे संग्रह कर सकते हैं—औरों से कैसे आगे बढ़ सकते हैं ? अर्थात् हमारा वर्तमान अर्थशास्त्र हमें होड़ और प्रतिस्पर्धा के चक्र में धकेलकर निरन्तर मानव-जाति को पतन की ओर अग्रसर करता है। यहाँ त्याग, तपस्या, संयम का कोई स्थान नहीं है।

इसी तरह समाज-विज्ञान में हमें पढ़ाया जाता है कि मनुष्य का पुराना इतिहास अन्धकार और अक्षमताओं से भरा है। वह निरन्तर शोषण और अन्याय का युग था। उससे हम केवल घृणा करना ही सीख सकते हैं। हमारी सारी कुशलता इसी बात में है कि अपने पूर्वजों से और अपने अतीत से घृणा करते रहें। नृतत्वशास्त्र में भी यही पढ़ाया जाता है कि अब तक समाज की जितनी कोटियाँ हुई हैं, वे सब पिछड़ी हुई थीं, अज्ञानी थीं। उन सीढ़ियों को पार करके ही आज हम सभ्यता के वर्तमान शिखर पर आरूढ़ हुए हैं। अपनी समस्त पुरातन उपलब्धियों को नकारना और उनसे घृणा करना आज के शिक्षित समाज का पेशा-सा बन गया है।

समाज-विज्ञान के विषयों के साथ जितने प्राकृतिक विज्ञान हैं उनमें भी यही दूषित दृष्टिकोण दिखाई देता है। हमें बताया जाता है कि प्रकृति निरी जड़ है, उससे हमारा सम्बन्ध केवल उसके अधिक-से-अधिक उपभोग से ही जुड़ा है। इसलिए अपने स्वार्थों के लिए वृक्षों को काटना, उद्योगीकरण के नाम पर समस्त प्राकृतिक पर्यावरण और नदियों को प्रदूषित करना हमारी प्रगति की निशानी है। हमारे उपभोग की कोई सीमा नहीं है। प्रकृति से चाहे जैसे खिलवाड़ करना हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। ऊर्जा पैदा करने के लिए हम पृथिवी की कोख को खाली कर सकते हैं, वनों और वनस्पतियों को उजाड़ सकते हैं। किसी भी पदार्थ के स्वरूप को मनमाने ढंग से बदल सकते हैं।

इसी तरह विज्ञान की अन्य शाखाओं के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। इस प्रकार की विचारधारा संसार को संघर्ष की ओर, महायुद्धों की ओर और अन्ततः मानव-जाति के विनाश की ओर ही ले-जा सकती है। यह सर्वथा आत्मघाती शिक्षा है। भारत तो ज्ञान-विज्ञान का आगार रहा है। उसने संसार को प्रकाश दिया है; जीवन को जीने का सही उपाय सिखाया है; मनुष्य के जीवन में नैतिकता और आध्यात्मिकता का महत्त्व बताकर सही रास्ता दिखाया है। पर आज उसी भारत में शिक्षा की ऐसी दुर्दशा हो गई है कि हम दिशाहीन की तरह भटक रहे हैं।

आर्यों की शिक्षण-संस्थाएँ ही इस ग़लत धारा को मोड़ सकती हैं। अपने देश को सुधारने का दायित्व हमारा है, किसी और का नहीं। सही दिशा के माध्यम से ही यह सम्भव है। ('आर्यजगत्' ८ सितम्बर १९९१ का सम्पादकीय)

भारत को इण्डिया मत बनाओ

हमारी संविधान सभा के सम्मुख, स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद, इस देश के नामकरण के लिए तीन संज्ञाएँ उपलब्ध थीं—'इण्डिया', 'भारत' और 'हिन्दुस्तान'। उससे पूर्व मुसलमानों का द्वि-राष्ट्रीय सिद्धान्त के आधार पर देश का विभाजन हो चुका था, इसलिए तत्त्वतः आम भारतीय जन मन में यह सोचता था कि जब मुसलमानों का अलग देश पाकिस्तान बन गया तो बाकी रहा हिस्सा स्वतः 'हिन्दुस्तान' बच गया। इसलिए इसका नाम हिन्दुस्तान ही रखा जाएगा। तर्क, युक्ति, संगति और ऐतिहासिक घटनाचक्र का यह अनिवार्य निष्कर्ष था। पर हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस ने पाकिस्तान के निर्माण को स्वीकार करके भी द्विराष्ट्रीय सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया। यह ठीक वैसी ही बात थी जैसे कोई गुलगुले खाकर भी गुड़ से परहेज करे। इसी कारण कांग्रेस के मन में तब से लेकर आज तक एक मानसिक उलझन बनी रही जो कभी दूर नहीं हुई। इसी उलझन के कारण उसने संविधान सभा में भारत के लिए 'इण्डिया' शब्द के साथ-साथ 'इण्डिया दैट इज भारत' कहकर 'इण्डिया' शब्द को प्रधान बनाया और भारत को उसका गौण पर्यायवाची। यदि यह उपवाक्य, 'भारत, जो इण्डिया भी है' ('भारत दैट इज इण्डिया') के रूप में स्वीकृत होता तो भारत नाम की अस्मिता कुछ और ही होती। संविधान सभा के मुस्लिम सदस्य तो इसी बात से प्रसन्न थे कि इस देश का नाम 'हिन्दुस्तान' नहीं रखा गया, क्योंकि उनको इस शब्द में साम्प्रदायिकता की गंध आती थी। कांग्रेसी नेताओं ने भी शुक्र मनाया कि इस देश का नाम 'इण्डिया' के साथ भारत हो गया, जबकि संविधान-निर्माताओं में अग्रणी डॉ० अम्बेडकर 'हिन्दुस्तान' शब्द के पक्ष में थे।

वास्तविकता यह है कि 'इण्डिया' और 'हिन्दुस्तान' ये दोनों शब्द विदेशियों के दिये हुए हैं और अपने पराधीनता के काल में हमने गले में पड़े ढोल की तरह उन शब्दों को अपना लिया और बजाना शुरू कर दिया। 'आर्यावर्त' और 'भारत' ये दोनों संज्ञाएँ प्राचीन हैं। हमारे पवित्र षोडश संस्कारों से पूर्व संकल्प-पाठ की जो पण्डित-परम्परा है उसमें "जम्बूद्वीपे भारतखण्डे आर्यावर्तेकदेशे" का उल्लेख है। आर्यावर्त को प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य, अवाच्य और मध्य—इन पाँच भागों में विभाजित करके बाद में इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। 'विष्णु पुराण', 'बृहत् संहिता', 'ध्वन्यालोक' और 'कादम्बरी' में 'भारत' शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। जिस

तरह भारत में रहने वाले को 'भारतीय' कहा जाता है, उसी तरह हिन्द में रहने वाले को 'हिन्दी' या 'हिन्दू' कहा जाना चाहिए। इस नाते 'हिन्दू' और 'भारतीय' ये दोनों शब्द पर्यायवाची ठहरते हैं। परन्तु जो लोग अपनी मान्यताओं में अक्ल के दखल को स्वीकार नहीं करते, वे यहाँ भी 'हिन्दू' शब्द को राष्ट्र के बजाय सम्प्रदाय-विशेष के साथ जोड़ते हैं। समस्त भाषा-विज्ञान, तर्क-संगति और बुद्धिमत्ता को ताक पर रखकर हमारे नेताओं के राजनीति-प्रधान मनों ने 'हिन्दू' होने को ही साम्प्रदायिक होना करार दे दिया और गैर-हिन्दू होना राष्ट्रवादी होने की निशानी बन गया।

पिछले ३६ सालों के घटनाचक्र ने सिद्ध कर दिया है कि संविधान सभा द्वारा इस देश का नाम 'भारत' स्वीकार किये जाने पर भी, अभी तक हमारे राष्ट्रीय नेताओं के मनों में 'इण्डिया' शब्द ही अधिक हावी है। उनके चिन्तन की प्रत्येक क्रिया से यही ध्वनित होता है कि इस देश की प्रगति के लिए वे देश का पश्चिमी-करण आवश्यक मानते हैं। हमें पश्चिम से द्वेष नहीं है; वैज्ञानिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में पश्चिम ने जो प्रगति की है उसकी हम अवहेलना भी नहीं करना चाहते, परन्तु आजादी के पश्चात् राष्ट्र बनने के लिए जो ऐतिहासिक दृष्टि और सांस्कृतिक अस्मिता अपेक्षित थी, वह प्रतीक्षित ही रह गई। हमें राष्ट्र मिला, स्वतन्त्रता मिली, किन्तु आत्मगौरव नहीं मिला और ऐतिहासिक बोध नहीं मिला। हमने अतीत में चिरकाल के चिन्तन, गहन मन्थन और बारम्बार परीक्षण के बाद जिन जीवन-मूल्यों की सृष्टि की थी, हमारे नेताओं के सामने वे उजागर नहीं हो पाए। इसमें शायद उनकी नीयत का दोष उतना नहीं, जितना समुचित दृष्टि और ज्ञान के अभाव का दोष है। वे जीवन-भर 'भारत' की 'खोज' ही करते रहे, वह इन्हें मिला नहीं। अंग्रेजों ने अपने राज्य को बरकरार रखने के लिए क्लर्क पैदा करने की मशीन के रूप में जो शिक्षा-प्रणाली चलाई थी, वह हमने ज्यों-की-त्यों स्वीकार कर ली। पहले वह शिक्षा-प्रणाली ब्रिटिश-भक्त, अंग्रेजी पढ़े-लिखे क्लर्क या 'ब्यूरोक्रेट' पैदा करती थी, वही शिक्षा-प्रणाली अब सामाजिक कर्तव्य-बोध की भावना से सर्वथा विहीन, अधिकार और पदलिप्सा की होड़ में आकाश-पाताल एक करने वाले, आदर्शों और जीवन-मूल्यों के प्रति सर्वथा अनास्थावान् पश्चिम के वैसे ही नकलची चमचे पैदा कर रही है।

यह चमचागिरी केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं है, बल्कि हमारे राष्ट्रीय जीवन का अंग बन गई है। चाहे भारतीय संगीत हो, या भारतीय कला, चाहे भारतीय पुरातत्त्व हो, या भारतीय इतिहास—इन सबके सम्बन्ध में अभी तक हम गुलामी के दिनों की तरह आज तक 'अंग्रेजवाक्यं प्रमाणम्' के आधार पर ही चलते हैं। किसी भी देश में प्रगति करने का हमारा मानदण्ड केवल यही रह गया कि हम पश्चिम की कितनी नकल कर सकते हैं। और तो और, आधुनिक

मकानों के डिजाइनों में भी प्राचीन भारतीयता से—जिसमें धूप और हवा की काफी गुंजाइश थी, परे हटकर, हमने पश्चिम की आधुनिकता की नकल प्रारम्भ कर दी। चण्डीगढ़ के निर्माण के लिए हमने फ्रांसीसी वस्तुविद्—ला कारबुजिए को बुलाया। भाखड़ा बाँध के निर्माण के लिए हमने अमरीकी विशेषज्ञों को बुलाया। पुलिस में अनुशासन कैसे लाया जा सकता है यह सीखने के लिए हमारे प्रशासक यूरोप जाते हैं; और अब तो, जिस भारत ने अपनी भारतीय पद्धति से हॉकी के खेल में चमत्कार दिखाकर सारे संसार को चमत्कृत कर दिया था, अब उसी के लिए विदेशी प्रशिक्षकों को बुलाने की बात कही जा रही है।

आजादी से पहले हम स्वप्न देखा करते थे कि देश के स्वतन्त्र होते ही हमारी अपनी भाषाएँ पनपेंगी, साम्राज्यवाद की प्रतीक अंग्रेजी का वर्चस्व घटेगा, भारतीय वेश, भारतीय रहन-सहन और भारतीय आचार-विचार को प्रोत्साहन मिलेगा। पर ३६ साल के बाद जो कुछ दिखाई दिया, वह उस कल्पना के सर्वथा विपरीत है। जब तक हम अंग्रेजों के गुलाम थे, तब तक इन सब बातों के लिए हम अंग्रेजों को दोष देते थे। परन्तु जब अंग्रेज चले गए तो विरासत में जो अंग्रेजी और अंग्रेजियत छोड़ गए, उसको जिन नाजों से हमने पाला है, उसको देखकर शायद अंग्रेज भी मन-ही-मन खुश होते होंगे कि भले हमारा राज्य नहीं रहा, परन्तु नकलची बनने का जो बीज हम भारत में बो आए थे, वह बीज अब फल-फूलकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुका है।

हम अंग्रेजी माध्यम के स्कूल खोलने में अपनी शान समझते हैं। जब हमारे छोटे-छोटे बच्चे गले में टाई बाँधे और अन्य अंग्रेजी लिबास धारण किये घर में आए हुए मेहमानों को अंग्रेजी की कविता सुनाते हैं, तब हमको स्वयं अपने सौभाग्य पर ईर्ष्या होती है और हम अपने होनहार साहबजादों के भविष्य के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। हमने गाँवों में पेयजल की व्यवस्था करने के बजाय देश की राजधानी में विशाल कीड़ागार बनाने को तरजीह दी। भले ही वे सब स्टेडियम अब हमारे लिए सफेद हाथी सिद्ध हो रहे हों, परन्तु हम तो एक बार दिल्ली को फ्रांस की राजधानी पेरिस बनाकर दिखा देना चाहते थे न! इतना बड़ा गुटनिरपेक्ष देशों का शिखर सम्मेलन हुआ, जिसमें अनेक देशों के राज्याध्यक्ष सम्मिलित हुए, परन्तु उस सारे समारोह में जिस निर्दयता से राजभाषा हिन्दी का बहिष्कार किया गया, क्या किसी और देश में वैसा सम्भव है?

दूर क्यों जाएँ, हम गाँव-गाँव में दूरदर्शन पहुँचाना चाहते हैं, वह भी रंगीन। अब दूरदर्शन विलासिता की वस्तु नहीं रहा, वह जीवन की आवश्यकता बन गया है—मान लिया, परन्तु दूरदर्शन के अन्दर 'नेशनल प्रोग्राम' के नाम से जो राष्ट्र का इतना समय और धन बरबाद किया जाता है, उसको देखकर पता नहीं लगता कि यह कार्यक्रम भारत में चल रहा है या ब्रिटेन में। परिवार-नियोजन के सम्बन्ध में,

या दहेज की बुराइयों के विरोध में, या २० सूत्रीय कार्यक्रम के महत्त्व के सम्बन्ध में जब हम अंग्रेजी के माध्यम से जनता को सम्बोधित करना चाहते हैं, तब समझ में नहीं आता कि यह जनता कौन-से देश की निवासी होगी। कम-से-कम भारत की रहने वाली तो वह हो नहीं सकती, क्योंकि यहाँ तो केवल दो प्रतिशत लोग ही अंग्रेजी जानते हैं।

हम तो शिकायत करते हैं कि हमारे देश की प्रतिभा विदेशों को पलायन कर रही है, परन्तु अपने देश की प्रतिभाओं की हमने पूछ कब की है? विदेश से उधार ली गई प्रतिभा या विदेश का प्रमाणपत्र-प्राप्त भारयीय प्रतिभा को हम भले ही कुछ स्थान दे दें, किन्तु जिस चीज पर विदेश की छाप नहीं है, वह हमारे लिए व्यर्थ है। भारत से ही विदेश को निर्यात की गई किसी वस्तु का आयात करने में हमको जो मानसिक सुख होता है, वह स्वदेशी वस्तु के प्रयोग से नहीं होता। हम भारत को 'इण्डिया' बनाने पर तुले हैं, उसको हम 'भारत' नहीं देखना चाहते।

भारत को 'इण्डिया' मत बनाओ !

(दैनिक भास्कर, इन्दौर, १४ अगस्त १९८३)

व्याध का घातक तीर

जब से शिक्षा मंत्रालय को समाप्त करके भारत सरकार ने मानव-संसाधन-विकास मंत्रालय बनाया है, तब से २१वीं सदी में जाने का अभियान तेजी से शुरू हो गया है। सबसे पहले तो मानव को भी संसाधन मानकर उसको चेतना-शून्य एक यंत्र बना दिया गया। २१वीं सदी के लिए जो नई पीढ़ी तैयार करनी है, उसका मूल आधार शिक्षा-नीति ही हो सकती है। वह शिक्षा-नीति किस प्रकार की होगी, इसका आभास तथाकथित नई शिक्षा-नीति से हो जाता है। इस नई शिक्षा-नीति में संस्कृत को जिस तरह से अपदस्थ किया गया है, वह आश्चर्यजनक है। नेताओं के भाषणों में हमेशा प्राचीन संस्कृति की रक्षा की दुहाई दी जाती है, परन्तु व्यवहार सर्वथा उसके विपरीत होता है। संस्कृत के बिना प्राचीन भारतीय संस्कृति की जो बात करते हैं, उनके मन में कौन-सी भारतीय संस्कृति है जो बिना संस्कृत के जी सकती है, यह हम नहीं जानते। संस्कृत के बिना संस्कृति की बात करना वैसा ही है जैसे कि बीज के बिना वृक्ष की बात करना।

सरकार ने जिस ढंग से संस्कृत को समाप्त करने का यत्न किया है उसका क्या परिणाम होगा, इसकी कल्पना शायद उन लोगों ने नहीं की। यदि उसके भयावह परिणाम की तनिक भी कल्पना होती तो शायद इस प्रकार निर्मम व्याध की तरह वे संस्कृत को अपनी नासमझी के तीर का निशाना न बनाते। उन्होंने अरबी-फारसी के समकक्ष संस्कृत को रखकर सभी 'क्लासिकल' भाषाओं की पढ़ाई को अनिवार्यता से वंचित कर दिया है और उसके स्थान पर आधुनिक भाषाओं की पढ़ाई को महत्त्व दिया है। जिस त्रिभाषा-सूत्र की बात कही जाती है उसमें मातृभाषा के रूप में अपने प्रदेश की भाषा, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी, और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में अंग्रेजी—इन तीनों को अनिवार्य करने के बाद त्रिभाषा-सूत्र की योजना पूरी हो गई। जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी है वे दूसरी भाषा के रूप में भारत की कोई अन्य प्रान्तीय भाषा पढ़ेंगे। इस प्रकार जिस सफाई से संस्कृत का सफाया किया गया है उससे किसी गहन षड्यंत्र का आभास होता है। यह सब अनजाने हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जिस प्रकार शुरू से ही भारत सरकार ने ऐसे लोगों के हाथ में शिक्षा-मन्त्रालय सौंपा जिनको किसी भी दृष्टि से भारतीय संस्कृति का पक्षपाती नहीं कहा जा सकता, उसी से सरकार के रुझान का पता लगता है। अंग्रेजी को अनिवार्य रूप से समस्त भारत पर थोपने की गरज से यह

षड्यंत्र किया गया लगता है, क्योंकि सरकार को लगता है कि बिना अंग्रेजी के २१वीं सदी में हम छलाँग नहीं लगा सकते। इसीलिए कम्प्यूटर का निर्माण करने वाले मानव को भी एक यंत्र बनाकर कम्प्यूटर-युग का दास बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ की गई है।

पाश्चात्य संस्कृति और उसकी वाहक अंग्रेजी के भक्त इन नेताओं की सेवा में हम निवेदन करना चाहते हैं कि स्वयं पाश्चात्य देशों में ही संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में जो अनुराग प्रदर्शित किया गया है, वह अद्‌भुत है। संस्कृत-साहित्य के जैसे खोजी और मर्मज्ञ विद्वान् इन पाश्चात्य देशों ने प्रदान किये हैं, उन पर भारतीय विद्वान् भी न केवल गर्व कर सकते हैं, प्रत्युत ईर्ष्या भी। आनुपातिक दृष्टि से इन पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य का जितना ठोस और तथ्यपूर्ण अनुसंधानात्मक कार्य किया है, उतना और वैसा हम भारतीयों ने भी कदाचित् नहीं किया। मैक्स-मूलर, ग्रिफिथ, मैकडॉनल, कीथ, पारजीटर, विन्टरनित्ज, वुलनर, विलसन, रेनु और लुडविग आदि कुछ नाम गिनाए जा सकते हैं। हम यहाँ कलकत्ता में संस्कृत-कॉलेज की स्थापना करने वाले एस० एच० विलसन के जीवन से सम्बद्ध एक प्रसंग का उल्लेख करना चाहते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि सन् १८२४ में ऋषि दयानन्द का जन्म हुआ और उसी वर्ष कलकत्ता में विलसन के प्रयत्नों से संस्कृत-कॉलेज की स्थापना हुई। विलसन ने चुने हुए भारतीय विद्वानों को इस कॉलेज में प्राध्यापक नियुक्त किया। वह स्वयं भी संस्कृत-वाङ्मय की प्रत्येक शाखा का मर्मस्पर्शी विद्वान् और भारतीय संस्कृति का प्रेमी था।

परन्तु कॉलेज खुलने के ११ साल बाद ही लॉर्ड मैकाले के नाम से जो नया धूमकेतु उदय हुआ, वह भारत में उच्च अधिकारी नियुक्त होने के पश्चात् समस्त भारत को ईसाईयत और पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगने के लिए बद्धपरिकर हो उठा। भारतीय संस्कृति को नष्ट करने के लिए उसने उसके मूल संस्कृत भाषा पर ही कुठाराघात करने का निश्चय किया। उसकी सबसे पहले कोपदृष्टि कलकत्ता के संस्कृत-कॉलेज पर ही पड़ी। वहाँ संस्कृत के अध्यापकों के साथ दुर्व्यवहार होना प्रारम्भ हुआ। उनको पग-पग पर अपमानित किया जाने लगा। अन्त में इस दुर्व्यवहार और अपमान से खिन्न होकर कॉलेज के एक आचार्य ने कॉलेज के संस्थापक श्री विलसन महोदय को निम्न श्लोक लिखकर भेजा—

अस्मिन्संस्कृतपाठ-सद्मसरसि त्वत्स्थापिता ये सुधी—
हंसाः कालवशेन पक्षरहिता दूरं गते ते त्वयि।
तत्तीरे निवसन्ति संहितशरा व्याधास्तदुच्छित्तये
तेभ्यस्त्वं यदि पासि पालक तदा कीर्तिश्चिरं स्थास्यति॥

अर्थात्—इस संस्कृत-विद्यालय-रूपी सरोवर में आपके द्वारा नियुक्त जो

अध्यापक-रूपी हंस थे, वे आपके दूर चले जाने पर कालवश पक्ष-विहीन (पंख-विहीन और समर्थन-विहीन) हो गए हैं। उस सरोवर के तट पर आज धनुष पर बाण चढ़ाए कुछ व्याध उपस्थित हैं। उन व्याधों से इन अध्यापक-रूपी हंसों की आप यदि रक्षा कर सकें तो आपकी कीर्ति चिरस्थायी होगी।

इस पद्यमय पत्र से मर्माहत होकर स्वयं विलसन ने भी संस्कृत के श्लोकों में ही पत्र का जो उत्तर भेजा वह संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति के प्रति उसकी गहन आस्था को व्यक्त करता है। विलसन ने लिखा था—

१. **विधाता विश्वनिर्माता हंसास्तत्प्रियवाहनम्।**
अतः प्रियतरत्वेन रक्षिष्यति स एव तान्॥
२. **अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम्।**
देवभोग्यमिदं यस्माद्देवभाषेति कथ्यते॥
३. **न जाने विद्यते किन्तन्माधुर्यमत्र संस्कृते।**
सर्वदैव समुन्मत्ता येन वैदेशिका वयम्॥
४. **यावद्भारतवर्षं स्याद्यावद्विन्ध्यहिमालयौ।**
यावद्गंगा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम्॥

अर्थात् (१) विश्व का निर्माण करने वाले ब्रह्मा हैं और हंस उनका प्रिय वाहन है। अपना वाहन अत्यन्त प्रिय होने के कारण स्वयं ब्रह्मा ही अब अपने हंस-रूपी अध्यापकों की रक्षा करेंगे। (२) अमृत बहुत मधुर होता है, परन्तु संस्कृत उस अमृत से भी बढ़कर मधुर है। इसीलिए देवता इसका उपभोग करते हैं और इसी कारण यह देवभाषा के नाम से विख्यात है। (३) मैं नहीं जानता कि संस्कृत भाषा में ऐसी कौन-सी माधुरी भरी हुई है कि हम लोग विदेशी होकर भी इसके पीछे दीवाने हैं। (४) जब तक भारतवर्ष है, जब तक विन्ध्याचल और हिमालय हैं और जब तक गंगा और गोदावरी नदियाँ हैं तब तक संस्कृत विद्यमान रहेगी।

जब मैकाले का कोप संस्कृत-कॉलेज पर कम नहीं हुआ और इसकी अवस्था दिनों-दिन क्षीण होती गई तो कॉलेज के एक अन्य अध्यापक ने दुःखी होकर फिर विलसन को ही श्लोकमय पत्र भेजा—

गोलश्रीदीधिकाया बहुविटपिततटे कोलिकातानगर्यां।
निस्संगो वर्तते संस्कृतपठनगृहाख्यः कुरंगः कृशांगः॥
हन्तुं तं भीतचित्तं विधृतखरशरो "मेकले" व्याधराजः
साश्रुः ब्रूते स भो-भो "उइलसन" महाभाग मां रक्ष-रक्ष॥

—कलकत्ता नगरी में अवस्थित गोलसर नामक सरोवर के नाना वृक्षाच्छादित तट पर संस्कृत विद्यालय-रूपी एक मृग निरन्तर क्षीण होता चला जा रहा है। उस भयभीत मृग को मारने के लिए लॉर्ड मैकाले-रूपी व्याधराज अपने हाथ में तीक्ष्ण बाण लिये खड़ा है। इस अवस्था में यह विद्यालय-रूपी मृग अपनी आँखों में

आँसू भरकर आपको सम्बोधित करता हुआ कह रहा है—"हे विलसन ! मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो !"

विलसन इस बार भी कम मर्माहत नहीं हुए। फिर अपने दुःखी हृदय से निम्न उत्तर दिया—

निष्पिष्टापि परं पदाहतिशतैः शश्वद्बहुप्राणिनां
सन्तप्तापि करैः सहस्रकिरणेनाग्निस्फुलिंगोपमैः।
छागाद्यैश्च विचर्वितापि सततं मृष्टापि कुद्दालकैः
दूर्वा न म्रियते कृशापि सततं धातुर्दया दुर्बले॥

—विविध प्राणियों के पदाघात से घास निरन्तर पददलित होती रहती है, अग्नि की चिनगारी के समान सूर्य-किरणें उसे संतप्त करती रहती हैं, भेड़-बकरी आदि उसे चरते रहते हैं और कुदालों से उसका उन्मूलन भी होता रहता है, फिर भी वह घास कभी नहीं मरती, क्योंकि दुर्बलों के ऊपर सदा परमात्मा की दया बनी रहती है।

हे व्याधराज मैकाले ! तुम तो चले गए और तुम अपने सपनों को सर्वांश में पूर्ण भी नहीं कर पाए, परन्तु चिन्ता मत करो ! तुम्हारे जाने के बाद भी तुम्हारे मानस-पुत्र यहाँ मौजूद हैं और जो काम बाप नहीं कर सका उसे बेटे पूरा कर दिखाएँगे। जो पुत्र अपने पिता को भी मात न कर पाए, वह २१वीं सदी को क्या मुँह दिखाएगा ?

['आर्यजगत्' के संस्कृत रक्षा विशेषांक (३० अगस्त, १९८७) का सम्पादकीय]

क्या संस्कृत मृत भाषा है ?

हमारी विज्ञान-प्रिय सरकार देश को इक्कीसवीं सदी में ले जाने के लिए जिस प्रकार देश को तैयार करना चाहती है, उसका आधार नई शिक्षा-नीति को बनाया गया है। सिद्धान्त-रूप से यह बात ठीक है कि जिस ढंग की शिक्षा दी जाएगी, हमारी भावी पीढ़ी उसी ढंग की तैयार होगी। परन्तु यदि नीति-निर्माताओं की दृष्टि में स्पष्टता न हो तो उसका परिणाम भावी पीढ़ी के साथ-साथ सारे देश को भी भोगना पड़ेगा। नीति-निर्माताओं की दृष्टि में यदि स्पष्टता नहीं है तो इसमें दोष उनकी नीयत का नहीं, प्रत्युत कारंण यह है कि स्वयं इन नीति-निर्माताओं ने अपने जीवन में जो शिक्षा ग्रहण की है, उसी के अनुसार वे भावी पीढ़ी को भी डालना चाहते हैं।

'मानव संसाधन मन्त्रालय' के निर्माण से यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि अब सरकार की दृष्टि में मानव भी अन्य जड़ पदार्थों की तरह संसाधन-मात्र है; वह कोई स्वतन्त्र-कर्तृत्व वाला चेतन पिण्ड नहीं। इसीलिए वे मानव को संसाधन के रूप में विकसित करना चाहते हैं। इसीलिए शिक्षा के साथ रोजगार-प्रशिक्षण पर जोर दिया जा रहा है, शिक्षा को भी एक उद्योग के ढाँचे में ढाला जा रहा है और उसका कंप्यूटरीकरण किया जा रहा है। सारे संसार में जो वैज्ञानिकता की तीव्र लहर चल रही है, शायद उसके प्रभाव से हम भी बच न पाएँ। परन्तु देश के समस्त बुद्धि-जीवियों के सामने अपने शरीर की रक्षा के साथ-साथ अपनी आत्मिक चेतना का प्रश्न भी मुँह बाए खड़ा है।

संस्कृत भाषा और साहित्य के विभिन्न विषयों पर परम्परागत शिक्षा पर ध्यान देने की प्रवृत्ति कांग्रेस के सारे इतिहास में दिखाई नहीं देती। जब मोतीलाल नेहरू कमेटी ने शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट तैयार की थी तो उस पर ध्यान नहीं दिया गया और न ही बाद के किसी शिक्षा-आयोग ने इस पर ध्यान दिया, हालाँकि एक के बाद एक शिक्षा-आयोग निरन्तर बैठते रहे और बिना किसी अपवाद के सभी शिक्षा-आयोग इस बात पर बल देते रहे कि अंग्रेजों के द्वारा चलाई गई शिक्षा-प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। परन्तु समस्त शिक्षा-आयोगों की रिपोर्ट केवल 'पर उपदेश' बनकर रह गई। सरकार भी कुछ इस ढंग से बात कहती रही जैसे कि शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन स्वयं उसको नहीं, किसी और को करना है।

शिक्षा-आयोगों की रिपोर्टें आती गईं और संस्कृत की परम्परागत शिक्षण-

संस्थाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती गईं। संस्कृत की कुछ पाठशालाएँ देशी राज्यों में राजाओं के अनुदान से चला करती थीं। परन्तु जब राजा समाप्त हो गए तो उन संस्थाओं के जीवन का स्रोत भी सूख गया। अब भी इस देश में लगभग ५ हजार संस्कृत पाठशालाएँ होंगी। शायद उनकी पक्की इमारतें भी होंगी और उन सभी के पास शिक्षक भी होंगे, किन्तु केन्द्र और राज्य सरकारों की नीतिहीनता और दृष्टि-दोष ने इन पाठशालाओं को गौशालाओं के रूप में बदल दिया है। निम्न-मध्यम वर्ग के बच्चे इन पाठशालाओं में पढ़ते हैं और येन-केन-प्रकारेण यजमानी या पुरोहिताई करके अपनी जीविका चलाते हैं। यदि कोई किसी स्कूल या कॉलेज में संस्कृत के शिक्षक का पद पा लेता है तो वह उसका सबसे बड़ा अहोभाग्य है। इन्जीनियरी या डॉक्टरी या वकालत जैसे धनोपार्जक व्यवसायों के मुकाबले संस्कृत जैसी 'मृत भाषा' का आज सभ्य समाज के जीवन में क्या उपयोग रह गया है? पहले कभी संस्कृत पढ़ने वाले 'पंडित' कहलाते थे, अब वे भी पंडित कहलाने के योग्य नहीं रहे। आज का अल्ट्रा-मॉडर्न समाज उनको पढ़े-लिखे भिखारी की श्रेणी में रखने से भी बाज नहीं आता। जिस प्रकार इस आधुनिक समाज के लिए चोटी, जनेऊ तथा धोती उपहास के पात्र बन गए, वैसे ही संस्कृत का विद्यार्थी भी। इसका मूल कारण यह है कि आज का युग अर्थ-प्रधान हो गया है। इसीलिए अर्थकरी विद्या को ही विद्या माना जाने लगा है, भले ही वह अर्थकरी विद्या देश और समाज में कितने ही अनर्थ की सृष्टि क्यों न करे।

नई शिक्षा-नीति में संस्कृत की सर्वथा अवहेलना कर दी गई है। कहीं भी किसी भी स्तर पर यह आवश्यक विषय नहीं रहा। यद्यपि शिक्षा-सम्बन्धी विभागों के मन्त्रियों के भाषणों में संस्कृत के प्रति आदर और पूजा के भाव की कमी नहीं होती, परन्तु यह आदर और पूजा-भाव बहुत-कुछ वैसा ही है जैसाकि मन्दिरों में देवमूर्तियों के लिए होता है। हमारी जाति ने बड़ा आसान तरीका निकाल लिया है कि जब किसी महापुरुष के पद-चिह्नों पर चलने की अपने में न सामर्थ्य हो, न इच्छा, तो उस महापुरुष को परमात्मा का अवतार बनाकर मन्दिर में देव के रूप में प्रतिष्ठित कर दो। इससे मनुष्य की आडम्बर-प्रियता और प्रदर्शन-प्रियता के स्वभाव की सन्तुष्टि हो जाएगी और समाज के अल्पशिक्षित वर्ग के लोगों को अपनी भक्ति-भावना को चरितार्थ करने का एक बहाना मिल जाएगा। कुछ वैसा ही पूजा-भाव संस्कृत के प्रति भी दिखाया जा रहा है, अर्थात् हे देवी! तुम हमारी मानसिक अर्चना का अर्घ्य, पाद्य और नैवेद्य स्वीकार करती रहो, परन्तु हमारे दैनिक जीवन में और व्यवहार में कोई दखल न दो, क्योंकि वहाँ तो हमने अंग्रेजी देवी को प्रतिष्ठित कर रखा है।

आज अंग्रेजी में मैट्रिक-पास युवक को सरकारी कार्यालयों में आसानी से सर्विस मिल सकती है, परन्तु संस्कृत के शास्त्री और आचार्य-पास विद्वान् को नहीं। क्योंकि

प्रत्येक कदम पर अंग्रेजी की पूछ है, इसलिए जिनको अंग्रेजी नहीं आती वे भी अंग्रेजी जानने का ढोंग करते हैं। किसी दिन ऐसी स्थिति आ जाय कि अंग्रेजी के बजाय संस्कृत से अधिक लाभ मिलने लगे, तो हमारा यह अर्थ-लोलुप समाज जो महत्त्व आज अंग्रेजी को दे रहा है, वही महत्त्व संस्कृत को देने लग जाएगा। असल में न उसको संस्कृत से वास्ता है, न अंग्रेजी से वास्ता है, उसको केवल अर्थ से वास्ता है। यह मनोवृत्ति ही इस अर्थ-प्रधान युग की सबसे बड़ी देन है।

अब उत्तर प्रदेश की सरकार ने अपने राज्य में त्रिभाषा सूत्र के अन्तर्गत हिन्दी, उर्दू और गुरुमुखी इन तीन भाषाओं को रखने का प्रस्ताव पेश किया है। विद्वानों की दृष्टि में उर्दू या पंजाबी केवल लिपि के भेद से ही अलग भाषा का अभिमान करती हैं, जबकि वे लिपि का भेद हटा देने पर हिन्दी भाषा के अन्तर्गत ही समाहित हो सकती हैं। इसमें भी मुख्य उद्देश्य यह लगता है कि अब तक हिन्दी पढ़ने वाले छात्र भूले-भटके संस्कृत का विषय ले लिया करते थे, परन्तु इस प्रकार के त्रिभाषा-सूत्र से उस संस्कृत का कहीं स्थान नहीं रहेगा। वास्तविकता यह है कि एक अकेली संस्कृत भाषा के पढ़ने से भारतवर्ष की समस्त भाषाओं का मर्म पकड़ा जा सकता है। भारतीय भाषाओं का ही क्यों, हम तो कहेंगे, समस्त भारतीय (इंडो-यूरोपियन) भाषा-परिवार की जितनी भाषाएँ हैं, उन सब की तह तक पहुँचा जा सकता है। तभी तो संस्कृत समस्त भाषा-विज्ञान का आधार बनी हुई है। संसार का शायद ही कोई विश्वविद्यालय हो, जहाँ संस्कृत के शिक्षण की व्यवस्था न हो। कभी-कभी ऐसा आभास होता है कि जिस तरह योग 'योगा' बनकर पश्चिम में अधिक पाँव फैलाता जा रहा है, कहीं संस्कृत के सम्बन्ध में भी वैसा न हो कि संस्कृत का विदेशों से आयात करने पड़े।

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जर्मनी का महान् संस्कृत-प्रेमी डॉ० लुडविग अपने जीवन-भर की सारी कमाई—जो लगभग ६० लाख रुपए के आसपास बैठती है, संस्कृत के विकास और शोध-कार्य के लिए डी० ए० वी० कॉलेज कमेटी को और विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान(होशियारपुर को) दान कर गया? 'सेंट पीटर्सबर्ग लैक्सिकन' (सात खण्डों के लगभग १५ हजार पृष्ठों में संस्कृत-जर्मन कोश) और मौनियर विलियम्स द्वारा तैयार की गई संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी के संस्कृत-प्रचार में महान् योगदान से कौन इन्कार कर सकता है? सच तो यह है कि संस्कृत मृत भाषा नहीं है। मृत वे लोग हैं जो इसे 'अपनी' कहते तो हैं, पर इसे अपनाते नहीं हैं। संस्कृत केवल भारत की थाती नहीं है। यह समस्त मानव-जाति की चिर-निधि है। संसार की सबसे प्राचीन भाषा संस्कृत में ही वह अद्भुत कोष सुरक्षित है जो मानव-जाति के पूर्वज मनीषियों ने और ऋषि-मुनियों ने हजारों सालों तक अपने चिन्तन-मनन और स्वाध्याय के परिणामस्वरूप संचित किया था। आज भी सारे भारत की राष्ट्रीय एकता की जैसी सामर्थ्य इस भाषा में

है, वैसी किसी और भाषा में नहीं। कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत के प्रत्येक प्रदेश में आज भी संस्कृतज्ञों का सर्वथा अभाव नहीं है। किसी भारतीय भाषा का कोई प्रतिष्ठित साहित्यकार ऐसा नहीं होगा, जो अपनी भाषा के साथ-साथ संस्कृत का भी ज्ञाता न हो। यदि अपने पूर्वजों की उस महान् विरासत को हम सुरक्षित रखना चाहते हैं तो नई शिक्षा-नीति में इसके लिए एक राष्ट्रीय नीति निर्धारित करनी होगी और संस्कृत के पठन-पाठन को सही दिशा देनी होगी। अन्यथा अतीत के साथ वर्तमान को जोड़ने वाली उस महान् कड़ी को तोड़कर हम अपने भविष्य पर ही कुठाराघात करेंगे।

(आर्यजगत् का संस्कृत रक्षा विशेषांक, ३० अगस्त १९८७)

बिना केन्द्रबिन्दु के वृत्त और परिधि कैसी ?

सन् १९७२ के मार्च मास में नई दिल्ली में जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत सम्मेलन हुआ था, उसमें फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० जीन फिलियोजा ने अपना निबन्ध पढ़ते हुए संस्कृत के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था वह ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा था—

"अनेक विद्वान् चिरकाल से यह समझते चले आ रहे हैं कि संस्कृत एक ऐसी पवित्र और साहित्यिक भाषा है जिसका ब्राह्मण-वर्ग से विशेष सम्बन्ध है। यह किसी हद तक सही है। परन्तु भारतीय समाज में उसके रचनात्मक पहलू को स्पष्ट करने के लिए और विदेशी भाषाओं पर तथा स्वयं भारतवर्ष की आधुनिक और प्रादेशिक भाषाओं पर भी उसके प्रभाव की व्याख्या करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है।

"यदि अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में संस्कृत केवल पुरातनपंथी साक्षर वर्ग में सीमित होती तो हम इस तत्त्व को कैसे समझेंगे कि समस्त एशिया की मुख्य भूमि पर और समुद्र के पार चीन और जापान में उसका प्रचार बौद्धों ने किया था, जो ब्राह्मणों को अपने में सम्मिलित होने की स्वीकृति तो देते थे, पर वे स्वयं अधिकतर अब्राह्मण थे।

"वास्तव में अफगानिस्तान से कन्याकुमारी तक समस्त भारतीय समुदायों में केवलमात्र संस्कृत ही सम्पर्क-भाषा थी। इसी कारण उत्तर-वैदिक काल के जितने धार्मिक समुदाय हैं उन सबने अपने धर्मग्रन्थ संस्कृत में लिखना ही उचित समझा।

"समस्त एशियाई महाद्वीप में संस्कृत का प्रचार बहुत व्यापक था, परन्तु दक्षिण-पूर्वी एशिया में उसका प्रभाव और स्वीकृति और भी अधिक थी। वहाँ यह केवल आयातित या अनूदित भाषा नहीं थी, बल्कि स्वयं समृद्धि प्राप्त कर रही थी। चम्पा (वियतनाम), कम्पूचिया(कम्बोडिया) और इण्डोनेशिया में काव्य-शैली में तीसरी से तेरहवीं शताब्दी तक में संस्कृत के एक हजार से अधिक शिला-लेख मिले हैं। वे इस बात के स्पष्ट साक्षी हैं कि इन देशों में भारतीय संस्कृति का कितना आदर था।

"संस्कृत केवल साक्षर वर्गों तक सीमित नहीं थी, अपितु वहाँ की स्थानीय साधारण भाषा में भी उसकी प्रतिध्वनि विद्यमान है। इसके बिना हम इस बात की

व्याख्या नहीं कर सकते कि चम्पा, कम्बोडिया, बर्मा, थाईलैण्ड, लाओस, मलयेशिया और इण्डोनेशिया में अनेक संस्कृत-शब्दों को किस प्रकार सम्मिलित कर लिया गया है। प्रो० गौण्डा ने 'इण्डोनेशिया में संस्कृत' नाम से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है।"

प्रो० जीन ने अपना विद्वत्तापूर्ण निबन्ध इन शब्दों से समाप्त किया था—"समस्त इतिहास में, वास्तव में संस्कृत केवल कुछ साक्षर वर्गों तक ही सीमित नहीं रही। ब्राह्मण-परम्परा ने इसको बेशक उच्चतम स्तर तक पहुँचाया, परन्तु यह समस्त भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया की आम जनता तक फैल गई और इस प्रकार यह समस्त भारत की सांस्कृतिक एकता की माध्यम ही नहीं बनी, प्रत्युत भारत के बाहर भारतीय संस्कृति के विस्तार का भी कारण बनी।"

उन्नीसवीं सदी में यूरोप को संस्कृत का प्रथम परिचय देने वालों में अग्रणी कलकत्ता के तत्कालीन न्यायाधीश सर विलियम जोन्स ने कहा था कि "संस्कृत-भाषा की पुरातनता के सम्बन्ध में चाहे कुछ भी कहा जाए, परन्तु उसकी रचना अद्भुत है। वह ग्रीक से अधिक परिपूर्ण है, शब्दभण्डार की दृष्टि से लैटिन से अधिक विपुल है और इन दोनों भाषाओं से कहीं अधिक परिष्कृत है।"

इसके साथ ही प्रो० मैक्समूलर ने भारतीय सिविल सर्विस के छात्रों के सम्मुख जो सात भाषण दिये थे, जो 'इण्डिया ह्वाट इट कैन टीच अस' (India what it can teach us) नामक पुस्तक में संकलित हैं, तीसरे व्याख्यान में कहा था—"हमें कदाचित् यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत की सभी भाषाओं का मूल स्रोत संस्कृत है। मेरा यह निश्चित मत है कि संस्कृत का आरम्भिक ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् भारत की सभी भाषाओं को सीख पाना बहुत सरल हो जाता है।"

ऊपर हमने संस्कृत के सम्बन्ध में जान-बूझकर कुछ लम्बे उद्धरण दिये हैं। ये उद्धरण विदेशी विद्वानों के इस प्रयोजन से दिये गए हैं कि भारत के आधुनिक शिक्षित-वर्ग में जब तक विदेशी विद्वानों के उद्धरणों के साथ कोई बात नहीं कही जाती, तब तक उनका मन और बुद्धि आश्वस्त नहीं होते। उसके मन की हीन भावना भारतीय विद्वानों द्वारा प्रकट किये गए विचारों के प्रति उतनी उदार और निष्पक्ष नहीं हो पाती जितनी विदेशी विद्वानों के कथनों के प्रति होती है। जहाँ तक भारतीय विद्वानों का सम्बन्ध है, उनके कथनों को देखकर तो ये तथाकथित मानसिक दृष्टि से पराधीन भारतीय विद्वान् तो सीधा यह कहने से नहीं चूकेंगे—हाँ, अपनी दही को खट्टा कौन कहता है? ये उद्धरण हमने इस प्रयोजन से भी दिये हैं कि इस बार के हंसराज-दिवस के विशाल समारोह में, समारोह के मुख्य अतिथि, शिखरस्थ अधिवक्ता डॉ० लक्ष्मी मल्ल सिंघवी ने अपने भाषण में माननीय रक्षा मन्त्री महोदय (श्री कृष्णचन्द्र पन्त)—जो वहाँ उपस्थित थे—को लक्ष्य

करके बड़े मार्मिक शब्दों में उनसे अपील की थी कि "आप देश के रक्षा-मन्त्री हैं, इस नाते देश की सीमाओं की रक्षा करना आपका कर्तव्य है। परन्तु देश की सांस्कृतिक सीमाओं की रक्षा करना भी रक्षा-मन्त्री के नाते आपका उतना ही बड़ा कर्तव्य है। इसलिए मैं आपसे हाथ जोड़कर और झोली फैलाकर यह भीख माँगता हूँ कि कृपा करके संस्कृत की रक्षा करें। जो शिक्षा-नीति आपने बनाई है और उसमें त्रिभाषा-सूत्र को जिस ढंग से लागू किया है, उसका सीधा परिणाम यह होगा कि आगामी दस वर्ष के बाद इस देश में न कोई संस्कृत का अध्यापक होगा और न कोई संस्कृत का छात्र होगा। और जब संस्कृत नहीं रहेगी तो भारतीय संस्कृति भी कहाँ रहेगी? वेदादि शास्त्र नहीं रहेंगे तो भारतीय संस्कृति किसके आधार पर टिकेगी? जो संस्कृत भारतीय अस्मिता का मूल है उसकी उपेक्षा करके आप भारतीय आत्मा का हनन कर रहे हैं।"

एक बात विशेष रूप से समझने की है। संसार में ऐसा कभी कोई वृत्त नहीं बनता जिसकी केवल परिधि हो और उसका कोई केन्द्रबिन्दु न हो। बिना केन्द्र के परिधि कैसी? परन्तु जो संस्कृत समस्त भारतीय वाङ्मय का, समस्त प्राचीन मनीषा का और हजारों सालों के भारतीय संस्कारों का मूल केन्द्रबिन्दु है, वह साहित्य मनीषा और संस्कार का समूचा आविष्कार इस केन्द्रबिन्दु के बिना धराशायी हो जाएगा। हम परिधि का तो अधिक-से-अधिक विस्तार करना चाहते हैं, परन्तु उसके केन्द्रबिन्दु को नष्ट कर देना चाहते हैं। यहाँ फिर वही बात दोहराने की है—**"नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्"**—मूल नष्ट हो गया तो न पत्ते रहेंगे, न फूल रहेंगे और न फल आएँगे। हमारी माननीय सरकार विज्ञान का कितना बड़ा चमत्कार करना चाहती है कि बिना मूल के वह पत्तों, पुष्पों और फलों की आकांक्षा करती है! वह बिना केन्द्र के वृत्त का विस्तार करना चाहती है!

हम एक और बात की ओर भी ध्यान खींचना चाहते हैं। हमने संस्कृत को भारतीय अस्मिता का मूल और भारतीय मनीषा की परिधि का केन्द्रबिन्दु कहा है, परन्तु यह भी उसका पूर्ण परिचय नहीं है। वास्तव में तो संस्कृत को केवल भारतीय अस्मिता का मूल कहना भी उसका अवमूल्यन करना है, क्योंकि वह भारतीय अस्मिता के बजाय मानवीय अस्मिता का मूल है, और इस नाते से वह समस्त मानव-जाति की ऐसी बहुमूल्य निधि है कि उसके अभाव में मानव-जाति विचारों की दृष्टि से दरिद्र हो जाएगी। भारतीय ऋषि केवल भारतीयों के पूर्वज नहीं थे, वे समस्त मानव-जाति के पूर्वज थे और उन्होंने हजारों सालों तक जो चिन्तन किया, जो मन्थन किया, ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में ऊहापोह करने के पश्चात् जो महत्त्वपूर्ण अवदान दिया, वह सिवाय संस्कृत के और किस भाषा में सुरक्षित है? इसके अतिरिक्त इन ऋषि-मुनियों ने केवल बुद्धिकौशल के द्वारा नहीं, प्रत्युत आत्मानुभूति के द्वारा भी जिन आध्यात्मिक रहस्यों का साक्षात्कार किया और

सृष्टि तथा उसके नियन्ता के सम्बन्ध में जो विशिष्ट विचारधारा प्रस्तुत की, उसका संचय और परिचय भी सिवाय संस्कृत के संसार की और किस भाषा से प्राप्त किया जा सकता है ?

इसलिए केवल भारतीय अस्मिता की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि मानवीय अस्मिता की दृष्टि से भी संस्कृत की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। भारत सरकार को यह सौभाग्य प्राप्त है और यह उसका विशेषाधिकार भी है कि मानव-जाति की यह चिरनिधि उसके पास अभी तक सुरक्षित है। इसलिए भविष्य में भी इसकी रक्षा के लिए वह समस्त मानव-जाति के प्रति उत्तरदायी है। यदि भारत सरकार अपने दायित्व का निर्वाह नहीं करती तो मानव-जाति के प्रति वह कितना बड़ा अपराध कर रही है ? यदि पहरेदार ही खजाने की रखवाली के प्रति लापरवाही बरते तो उस पहरेदार को कौन बर्दाश्त करेगा ? और कब तक ?

('आर्यजगत्' ३० अप्रैल १९८९ के अंक का सम्पादकीय)

धर्म और राजनीति

भारत के स्वतन्त्र होते ही उस समय के राष्ट्र-नेताओं ने बड़ी दूरदर्शिता के साथ भारत को धर्मनिरपेक्ष-गणतन्त्र घोषित किया। इस धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के अन्तर्गत जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अन्त:करण की और धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी गई थी, वहाँ इसका सामान्य अभिप्राय यह भी था कि—अपने से भिन्न धर्मावलम्बियों के प्रति सहिष्णुता का बर्ताव किया जाएगा। इसीलिए धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को आधुनिक व्याख्याकारों ने "सर्व- धर्म-समभाव" के शब्द से सम्बोधित किया है। इस समय सारे देश में इस विषय पर ऊहापोह चल रही है कि राजनीति में धर्म का दखल या धर्म में राजनीति का दखल कहाँ तक उचित है?

आधुनिक बुद्धिवादी तो स्पष्ट रूप से यह मानकर चलते हैं कि धर्म एक नितान्त व्यक्तिगत मामला है। व्यक्ति के लिए धर्म की मनोवैज्ञानिक जरूरत हो सकती है, लेकिन धर्म की कोई सामाजिक या सार्वजनिक आवश्यकता नहीं है। इसलिए उनकी दृष्टि में धार्मिक संस्थानों का भी कोई औचित्य नहीं है। फिर किसी भी सार्वजनिक मामले पर किसी धर्म-संस्थान के अनुशासन को मानने का प्रश्न भी नहीं होता। उसके अनुसार ये धर्म-संस्थान पुरानी व्यवस्थाओं के अवशेष-मात्र हैं और जितनी जल्दी वे समाप्त हो जाएँ उतना अच्छा है। लेकिन आम आदमी को धर्म-संस्थानों से सर्वथा काट सकना सम्भव नहीं है।

धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के कारण इस देश में अल्पसंख्यकों ने धर्म के नाम पर विशेषाधिकार प्राप्त करने और बहुसंख्यकों को उन्हें मानने के लिए बाधित करने के आन्दोलन भी समय-समय पर कम नहीं किये हैं। अल्पसंख्यक अपनी मनमानी के लिए धर्म के नाम पर प्रशासन को बाधित करते रहे हैं और यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी करते रहे हैं कि उनके धार्मिक नियम सर्वोपरि हैं, उनके ऊपर राष्ट्र का कोई कानून लागू नहीं होता, अर्थात् वे देश के कानूनों से ऊपर हैं। जब धर्म के नाम पर तस्करी, लूट, हत्या और आतंकवाद को प्रश्रय दिया जाता है, तब यह प्रश्न और भी गम्भीर हो जाता है। इसलिए सारे देश में इस समय यह माँग उठ रही है कि धर्म को राजनीति से अलग रखा जाए और किसी धर्म-संस्थान को राजनीति में दखल देने की अनुमति नहीं दी जाए।

असल में धर्मनिरपेक्ष (सैक्यूलर) और धार्मिक (थियोक्रैटिक) राज्य इन दो

शब्दों ने काफी भ्रम फैलाया है। यहाँ धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह लिया जाता है कि धर्म के आधार पर नागरिकों के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा और धार्मिक राज्य का यह अर्थ लिया जाता है कि राज्य की नीतियाँ किसी विशेष धर्म के सिद्धान्त पर आधारित होंगी और अन्य धर्मावलम्बियों को उस राज्य में वह स्थान प्राप्त नहीं होगा जो राज्य की मान्यताओं वाले धर्म के विरुद्ध हों।

ये दोनों शब्द मध्यकालीन यूरोप से चलते-चलते हम तक आए हैं। परन्तु यूरोप में इन दोनों शब्दों की पृष्ठभूमि और इतिहास सर्वथा भिन्न हैं। धर्मनिरपेक्ष शब्द का मध्ययुगीन यूरोप में उस समय आविष्कार हुआ था जब रोमन कैथोलिक चर्च के प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह से वहाँ की भूमि हिल गई थी। यूरोप के राज्य मुख्य रूप से ईसाई राज्य थे, जैसे कि आज भी हैं, और उन राज्यों में धार्मिक अल्पसंख्यकों को सताना बुरा नहीं समझा जाता था। उदाहरण के लिए, यहूदियों के ऊपर होने वाले अत्याचारों में राज्य की ओर से हस्तक्षेप करना जरूरी नहीं समझा जाता था। जब रोम से पूर्ण विच्छेद हो गया, प्रोटैस्टैण्टवाद का उदय हुआ, तब का इतिहास रोमांचकारी होते हुए भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि उस समय धर्मनिरपेक्ष राज्य को भी धार्मिक मामलों से, अर्थात् ईसाइयत से पूर्णतः अलग-थलग रहने की कोई प्रेरणा नहीं की गई। यूरोप के प्रोटैस्टैण्ट राज्य भी ईसाइयों के संरक्षण के लिए उतने ही उत्साहित थे जितना स्वयं रोम था। जब इंग्लैण्ड ने पोप के प्रभुत्व से मुक्ति पाई तब इंग्लैण्ड के बादशाह ने 'डिफैन्डर ऑफ दी फेथ' अर्थात् धर्मरक्षक की पदवी ग्रहण की, जो आज तक कायम है।

जब बीसवीं सदी में मार्क्सवाद के प्रभाव में धर्मविरोधी ईसाई और चर्चविरोधी नारे लगने लगे, तब तथाकथित धर्मनिरपेक्षवाद में भी वह विचारधारा प्रविष्ट हो गई और धर्माचार्यों को सैक्यूलर अर्थात् लौकिक ईसाइयत के पक्षपोषण की प्रेरणा मिली। यूरोप के राष्ट्र उस समय धर्मनिरपेक्षवाद को परलोक से सर्वथा पृथक् केवल सांसारिक मामलों में दिलचस्पी रखने वाला समझते थे। पश्चिम में व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार चलने की स्वतन्त्रता देने के बजाय धर्म-संस्थान के आदेशों के अनुसार चलाने की परम्परा रही है। वहाँ आदमी की परमात्मा तक पहुँच केवल परमात्मा के चुने हुए पैगम्बर और उसके संस्थान के माध्यम से ही हो सकती है। व्यक्ति स्वयं धर्म-अधर्म या भले-बुरे का विवेक करने में निर्णायक नहीं हो सकता। उनकी दृष्टि में कोई व्यक्ति परमात्मा से सीधा सम्बन्ध रखने का दावा नहीं कर सकता, और जो व्यक्ति अपने अन्तःकरण की आवाज के मुताबिक चलना चाहे और अपने को पवित्र माने, वह राज्य का शत्रु है। राज्य का आदेश ही धर्म-अधर्म और भले-बुरे का निर्णायक होता है।

भारतीय परम्परा

भारतीय परम्परा के अनुसार यहाँ धर्मनिरपेक्ष राज्य और धार्मिक राज्य, ये दोनों शब्द प्रायः सन्दर्भ-हीन ही रहे हैं। भारत के सारे इतिहास में केवलमात्र अशोक ही ऐसा राजा हुआ जिसने अपने राज्य को धार्मिक राज्य घोषित किया। उससे पहले या उसके बाद अन्य किसी राजा ने अपने राज्य को धार्मिक राज्य घोषित नहीं किया। उसके बाद मुगलों और ईसाइयों के जमाने में राज्य के धर्म को मानने वालों को विशेष प्रश्रय देने की बात चली। उससे पहले भारत के समस्त राजा आधुनिक दृष्टि से प्रायः धर्मनिरपेक्ष ही रहे हैं। वे स्वयं किसी भी मत को मानने वाले रहे हैं। परन्तु अन्य मतावलम्बियों के साथ केवल धर्म-भेद के कारण उन्होंने भेदभाव किया हो, ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। जब भारत के नेताओं ने अपने संविधान में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को स्वीकार किया था तो उनके सामने पश्चिम का राजनैतिक इतिहास भी था और इसीलिए उन्होंने आधुनिकता और प्रगतिवाद की दृष्टि से धर्मनिरपेक्षवाद के सिद्धान्त को अपनाया।

सबसे अधिक गड़बड़ी धर्म और मजहब तथा पंथों और सम्प्रदायों को एक ही समझने की भूल से हुई है। धर्म न 'रिलीजन' है, न मजहब है, न पंथ है, न सम्प्रदाय। धर्म तो ऐसे शाश्वत सिद्धान्तों का नाम है जिनसे मानव-जाति परस्पर सुख और शान्ति से रहती हुई जीवन को ऊँचाई की तरफ ले-जा सके। धर्म नैतिकता और आचरण-प्रधान है, मान्यता-प्रधान नहीं। धर्म व्यक्ति-केन्द्रित नहीं है, सदाचार-केन्द्रित है। धर्म बाह्य आडम्बर या कर्मकाण्ड नहीं। वह व्यक्ति का अपना सारे समाज को व्यवस्थित रखने का आदर्श है। धर्म का नाम 'धर्म' है ही इसलिए कि वह सारी प्रजा को धारण करता है—**"धर्मो धारयते प्रजाः।"** इसके साथ ही जनेऊ, तिलक, दाढ़ी, चोटी या बुरका या खतना या कोई भी बाहरी चिह्न धर्म का अंग नहीं हैं। वे विशिष्ट वर्गों की सामाजिक पहचान की निशानियाँ हो सकती हैं, परन्तु उनका धर्म से कोई वास्ता नहीं है। इसीलिए नीतिकारों ने यह भी स्पष्ट कहा है—**"न लिंगं धर्मकारणम्।"**—कोई बाहरी चिह्न धर्म का कारण नहीं होता।

जितने सैमेटिक मजहब हैं वे सब व्यक्ति-केन्द्रित हैं। अपने पैगम्बरों और मत-प्रवर्तकों पर ईमान लाने का वहाँ सबसे अधिक महत्त्व है। वे अपने पैगम्बर के नाम से ही पहचाने जा सकते हैं। इसलिए उनके धर्म-ग्रन्थों द्वारा बताई गई व्यवस्थाएँ उनके अनुयायियों के लिए ठीक हो सकती हैं, परन्तु उनसे भिन्न लोगों के लिए नहीं, इसीलिए वे सार्वत्रिक भी नहीं हैं; और जो सार्वत्रिक नहीं है वह धर्म भी नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि ईसाई का धर्म अलग हो और मुसलमान का अलग या हिन्दू का अलग। इनके मत और मज़हब अलग हो सकते हैं, परन्तु धर्म

नहीं। इसलिए धर्म वह है जिसे सब पंथ और मतों वाले धर्म मानने को बाध्य हों। जिस किसी चीज में मतभेद हो, वह धर्म का अंग नहीं हो सकता। इस दृष्टि से धर्म को एक प्रकार से सब मतों और मजहबों का 'महत्तम समापवर्तक' (हाइएस्ट कॉमन फैक्टर) कहा जा सकता है।

सार्वत्रिक धर्म

अब प्रश्न यह है कि वह सार्वत्रिक धर्म क्या है जिससे समाज अपने-आपको धारण करता है? उस धर्म की व्याख्या योगदर्शन के दो सूत्रों में यम और नियम की परिभाषा करके बता दी है। **"तत्राहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"** और **"शोच सन्तोष तपः स्वाध्याय ईश्वर-प्रणिधानानि नियमाः"** अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम हैं और शौच (शरीर, मन और वाणी की पवित्रता), सन्तोष (श्रम से धनार्जन करना और गरीबों का शोषण न करना), तप (सुख-दुःख और सर्दी-गर्मी में सन्तुलित रहना), स्वाध्याय (सदाचार-परक ग्रन्थों का अध्ययन और आत्मनिरीक्षण) तथा ईश्वर-प्रणिधान (परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण)—ये नियम हैं। ये यम और नियम ऐसे सार्वत्रिक आदर्श हैं जो समस्त मनुष्य-समाज पर लागू होते हैं। इसलिए सबसे पहली बात तो यह है कि सैक्यूलर शब्द का अर्थ धर्मनिरपेक्ष के बजाय पंथ-निरपेक्ष किया जाय तो समस्या का समाधान हो सकता है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि बिना धर्म के राजनीति अधर्म-परायण हो जाएगी, तब उसका अर्थ इसी सार्वत्रिक धर्म से होता है, किसी मत या पंथविशेष के उपदेशों से नहीं; और जब यह कहा जाता है कि राजनीति में धर्म को दखल नहीं देना चाहिए, तब उसका अभिप्राय यहाँ धर्म शब्द से उपर्युक्त सार्वत्रिक धर्म नहीं होता, प्रत्युत केवल मजहब और पंथ से होता है।

धर्मनिरपेक्ष नहीं, पंथनिरपेक्ष

इसलिए निष्कर्ष के रूप में हमारा कहना यह है कि जब रामराज्य का नाम लेकर यह कहा जाता है कि उस समय भी राजनीति में धर्म को दखल देने का अधिकार था, तो अब क्यों न हो? यह तर्क ठीक नहीं बैठता, क्योंकि रामराज्य में किसी मजहब या पंथ का दखल नहीं था। वहाँ यम-नियम वाले सार्वत्रिक धर्म का ही दखल था। परन्तु अब धर्म के नाम पर इन मजहबों और पंथों को राजनीति में दखल देने के लिए उचित ठहराया जाय, तो वह सर्वथा गलत, अयुक्तियुक्त और असंगत होगा। उक्त शाश्वत नियमों के बिना समाज कायम नहीं रह सकता और इन तथाकथित मजहबों और पंथों को धर्म मान लेने पर समाज टूटने से बच नहीं सकता। इसलिए हमारा कहना यह है कि राजनीति में शाश्वत धर्म का स्थान तो सदा रहेगा और रहना चाहिए, परन्तु मजहब और पंथ को स्थान बिल्कुल नहीं

देना चाहिए। धर्मनिरपेक्ष शब्द का अर्थ 'पंथनिरपेक्ष' करने पर ही सही स्थिति कायम रह सकती है।

मीमांसादर्शन में धर्म की व्याख्या की गई है—"**यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।**"—अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है। अभ्युदय को लौकिक उन्नति और निःश्रेयस् को पारमार्थिक उन्नति कह सकते हैं। जिससे लोक और परलोक दोनों सधें, वही धर्म है। जब हम राजनीति को धर्म से अलग करने की बात कहते हैं तो उसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि वह लोक और परमार्थ दोनों की परिधि से मुक्त है। अभ्युदय जीवन का बाहरी रूप है, और निःश्रेयस् जीवन का आन्तरिक रूप है। इस अर्थ में धर्म जीवन को समग्र रूप में जीने की कला है। क्योंकि राजनीति भी जीवन का अंग है इसलिए अगर राजनीति को धर्म से सर्वथा अलग करने की बात कही गई तो वह जीवन से कट जाएगी।

राजनीति—धर्म का अंग

वास्तव में तो धर्म की समग्रता को देखते हुए और प्रजा को धारण करने की उसकी कसौटी को पूरा करते हुए यह मानना होगा कि राजनीति भी धर्म का ही एक अंग है। परन्तु आजकल राजनीति शब्द भी दूषित हो गया है। प्राचीन शास्त्र की मर्यादा के अनुसार राजनीति नहीं, **राजधर्म** शब्द ही समाचीन है। इसीलिए जिन स्मृतियों में प्रजा के साथ-साथ राजाओं के भी कर्तव्यों का निर्देश है, उन्हें धर्मशास्त्र या नीतिशास्त्र कहा गया है। वह धर्म निःसन्देह आचार-प्रधान है, मान्यता-प्रधान नहीं। इन नीतिशास्त्रों में व्यक्ति के, समाज के और विभिन्न वर्णों तथा विभिन्न आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन है। धर्म की दृष्टि से जिन चार वर्णों और चार आश्रमों में व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का विभाजन किया गया है, उनके कर्तव्यों का निर्देश ही इन धर्मशास्त्रों का मुख्य प्रयोजन है। यह ठीक है कि युग के अनुरूप इन स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओं में भी परिवर्तन आया है, पर उसे सामयिक धर्म कहा जा सकता है। परन्तु वे मर्यादाएँ जो व्यक्ति और समाज को परस्पर सौमनस्य के साथ एक सूत्र में बाँधती हैं, वे सदा धर्म का ही अंग मानी गई हैं, फिर चाहे वे स्मृतिकार मनु हों, पाराशर हों, शुक्राचार्य हों, कौटिल्य हों, व्यास हों या याज्ञवल्क्य हों।

राज-धर्म का अभिप्राय भी राजकीय धर्म नहीं, जिसमें किसी सम्प्रदाय-विशेष को प्रश्रय दिया जाता हो और विभिन्न सम्प्रदायों का दमन किया जाता हो, प्रत्युत राजा के लिए और राज्यकार्य से सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए उन मर्यादाओं का निर्धारण ही राजधर्म है जिनसे, बिना किसी भेदभाव के समस्त प्रजा का पालन हो सके। भारतीय मानस की यही चिन्तन-परम्परा रही है और आज भी भारत के जन-जन को जितनी आसानी से यह भाषा समझ में आती है उतनी आसानी से

पश्चिम के इतिहास से और वहाँ के राजतन्त्र की प्रणालियों से आई धर्म और राजनीति की भाषा नहीं।

धर्म और राजनीति की प्रतिद्वन्द्विता यूरोप के इतिहास की देन है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद वहाँ क्रिश्चियन चर्च ने इतने अधिक अधिकार बटोर लिये कि वह जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वाधिकारी बन बैठा। उसने अपने कानून, अपने न्यायालय और अपने कारागार बना लिये। घर-बार और जमीन-जायदाद पर कब्जा कर लिया। सारे यूरोप में २० प्रतिशत जमीन अपने हाथ में करके वह अकूत सम्पदा का मालिक बन गया। चर्च इस हद तक निरंकुश हो गया कि अपने विरोधियों को जिन्दा जलाने और तड़पा-तड़पाकर मारने को भी वह अपने धर्म का ही हिस्सा समझने लगा। यह वही युग था जब पोप, लोक और परलोक दोनों का सबसे बड़ा ठेकेदार बनकर स्वर्ग की हुण्डी लिखकर दिया करता था। यूरोप के मध्य-युग का इतिहास चर्च की इस सर्वसत्ता-वादिता का ही इतिहास है।

धर्म राज-सत्ता का साधन नहीं

परन्तु जब यूरोप में राज-सत्ता बल पकड़ती गई और चर्च के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हुआ तो राष्ट्रीयता की भावना ने चर्च के साम्राज्यवाद को चुनौती दी और अनेक देश पोप के प्रभुत्व से मुक्त हो गए। तभी से धर्मतन्त्र और राजतन्त्र को अलग करने का आन्दोलन चला। परन्तु भारत में धर्म को कभी भी राजसत्ता का साधन नहीं समझा गया। यहाँ कोई धर्माचार्य किसी राजा की नियुक्ति नहीं करता था, न ही उसे अपने पद से हटाता या जाति से बहिष्कृत करता था। यहाँ कभी किसी राजा ने समान सम्प्रदाय का अनुयायी होने के नाते जनता से अपने समर्थन या राजभक्ति की माँग नहीं की। यहाँ तो सदा धर्म को जीवन का नियामक और समाज को सुव्यवस्थित तथा मर्यादित रखनेवाला साधन माना गया और यह समझा गया कि राजा या प्रजा में यदि कहीं कोई कमी है तो वह धर्म की न्यूनता का परिणाम है।

यह धर्म योगदर्शन में प्रतिपादित यम और नियम वाली वह सार्वत्रिक व्यवस्था है जिसके बिना व्यक्ति और समाज टिक नहीं सकते। इसी प्रवृत्ति को गीता ने दैवी और आसुरीवृत्ति का नाम दिया है। इसी कारण धर्म का प्रतिनिधि यहाँ उन लोगों को माना गया जो सदा सत्ता से दूर रहकर त्याग और तपस्यापूर्वक अपना जीवन बिताते थे। उनके आदर्श और जीवन से प्रेरणा लेकर ही राज और समाज-व्यवस्था में रहना सीखते थे। ऐसे धर्मात्मा लोग वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा तक से बचकर सदा निस्स्वार्थ भाव से राजा और प्रजा को सही परामर्श दिया करते थे। इसीलिए अकिंचन होने पर भी उनके प्रति हरेक के मन में आदर होता था। वे भी सदा व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर अहर्निश परोपकार में रत रहते हुए समाज और राष्ट्र के हित की दृष्टि से राजा और प्रजा का मार्गदर्शन किया करते थे।

यही ऋषियों की परम्परा है।

सैक्यूलर का अर्थ धर्मनिरपेक्ष नहीं, केवल पंथनिरपेक्ष है, तथा पंथ और धर्म एक चीज नहीं है। धर्म तो केवल मानव-धर्म है। वह संसार के सब मनुष्यों के लिए समान है और देश तथा काल के अन्तर से उसमें अन्तर नहीं आता। उस धर्म की परिभाषा के रूप में चाहे योगदर्शन के यम और नियम की परिभाषा शामिल कर लो, या मीमांसादर्शन की अभ्युदय और निःश्रेयस् वाली परिभाषा, या मनुस्मृति की 'दशकं धर्मलक्षणं' वाली परिभाषा या बायबिल में 'टेन कमाण्डमेंट्स' (Ten Commandments) वाली परिभाषा। धर्म वही है जो सब देशों में, सब कालों में, संसार के सभी मानव-वर्गों पर समान रूप से लागू हो, किसी मनुष्य का अन्तःकरण उसका विरोधी न हो। इसीलिए हमने धर्म को महत्तम समापवर्त्तक (Highest common factor) कहा है।

सर्व-धर्म-समभाव

धर्म और राजनीति की इस बहस में एक पहलू और विचारणीय है। आजकल धर्मनिरपेक्ष शब्द का जो उदार अर्थ किया जाता है वह सर्व-धर्म-समभाव है। इस शब्द से जो सहिष्णुता की ध्वनि प्रकट होती है, वह निश्चित रूप से भारतीय परम्परा की ही देन है, इस्लामी या ईसाई-परम्परा की नहीं। क्योंकि सामी मजहब (Semetic Religions) हमेशा अपने खुदा, अपने पैगम्बर, अपने कर्मकाण्ड और अपने क्रियाकलाप को सदा दूसरों के खुदा, उनके पैगम्बर और उनके कर्मकाण्ड से अधिक अच्छा बताते रहे हैं। अपने मत से भिन्न मत वालों को काफिर कहने में जिस गौरव की अनुभूति उन्हें होती है वही उनको जिहाद के लिए प्रेरित करती है, और वे जिहाद के नाम पर इतनी क्रूरता तक उतर सकते हैं कि उसके सामने इन्सानियत तो क्या, हैवानियत भी मात खा जाए। यूरोप का मध्य युग का इतिहास ईसाइयत और इस्लाम के इसी संघर्ष की दर्दनाक कहानी है।

किसी युग में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रकट होने पर भारत में भी साम्प्रदायिक वैमनस्य अवश्य रहा होगा। परन्तु चिरकाल के अनुभव के पश्चात् भारत के निवासियों ने 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को अपने जीवन में रचनात्मक रूप दिया है। यही कारण है कि भारत के बाहर से आने वाले मजहबों के अनुयायियों को यहाँ सदा समानता का अधिकार दिया गया, फिर चाहे वे पारसी हों, यहूदी हों, या ईसाई हों, या मुसलमान हों। भारत की इस सहिष्णुता की तुलना संसार के किसी अन्य देश से नहीं की जा सकती।

परन्तु सर्व-धर्म-समभाव की यह भावना धीरे-धीरे इस हद तक पहुँच गई कि हमने सत्य और असत्य को एक ही तराजू पर तोलना प्रारम्भ कर दिया। हमने 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' की जितने जोर से रट लगाई, उसकी ध्वनि सदा हिन्दुओं

की जमात में या मन्दिरों में तो सुनाई दी, परन्तु कभी किसी मुस्लिम जमात या मस्जिद अथवा गिरजे में नहीं। इसलिए धर्म के सही स्वरूप की रक्षा के लिए अधर्म को धर्म कहने वाली व्यवस्थाओं का निराकरण भी अत्यन्त आवश्यक है। अगर गोकुशी धर्म नहीं हैं, तो धर्म के नाम पर भैंसे, बकरे या भेड़ की बलि भी धर्म नहीं है। अगर बुरका और खतना धर्म का अंग नहीं हैं, तो तिलक और पगड़ी भी धर्म का अंग नहीं हैं। जो धर्म बालविवाह का समर्थन करे, स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने के अधिकार से वंचित करे, विधवा-विवाह का विरोध करे, या देवदासी-प्रथा और नग्न पूजा का समर्थन करे, वह भी धर्म नहीं है। इसलिए धर्म के नाम पर इस प्रकार के जितने भी अधार्मिक कृत्य हैं और जितने भी मानवता-विरोधी और समाज-विरोधी कर्मकाण्ड हैं, उन सबका निराकरण भी अत्यन्त आवश्यक है।

धर्म और राजनीति की इस बहस में जब तक धर्म के सही स्वरूप का निर्धारण नहीं होगा तब तक साम्प्रदायिक अभिनिवेश धर्म की छाती पर मूँग दलते रहेंगे और धर्म और राजनीति परस्पर-विरोधी ही माने जाते रहेंगे। इसीलिए धर्म को जहाँ सब सम्प्रदायों से ऊपर और अलग करके देखना होगा, वहाँ साम्प्रदायिक मान्यताओं को उस पर हावी होने देने से भी बचाना होगा।

तब धर्म से राजनीति को या राजनीति से धर्म को घबराने की आवश्यकता नहीं रहेगी। आजकल के अनैतिक समझे जाने वाले राजतन्त्र में नैतिकता का समावेश धर्म ही करेगा। तब यह नहीं कहा जा सकेगा कि 'राजनीति में सब-कुछ जायज है।' धर्म-विहीन राजनीति तो अराजकता का अपर पर्याय है।

धर्म और राजनीति का सन्तुलन

भारत को महान् से और महान् बनाने का स्वप्न देखने वाले और उसकी जय-यात्रा का महाकाव्य लिखने वाले महाभारतकार महर्षि व्यास ने ५,००० वर्ष पूर्व सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

—"अरे लोगो! मैं भुजा उठाकर यह उच्च स्वर से कह रहा हूँ, परन्तु कोई मेरी बात सुनता नहीं। मनुष्य-जीवन के जो चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इनमें सांसारिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक अर्थ और काम की सिद्धि भी धर्म के माध्यम से ही हो सकती है। लोग धर्म का सेवन क्यों नहीं करते?"

महर्षि व्यास का यह आक्रोश आज भी उतना ही सत्य है जितना उस समय रहा होगा। उन्हीं महर्षि व्यास ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए धर्म की भी एक सर्वमान्य परिभाषा कर दी है। वह इस प्रकार है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

—"धर्म का सार क्या है, यह भी जान लो और उसको सुनकर अपने मन में दृढ़ता से धारण कर लो। वह सार यह है—अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध अन्य व्यक्तियों के साथ आचरण नहीं करना चाहिए।" धर्म की यह ऐसी सार्वत्रिक परिभाषा है जिसके सही होने पर किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। इस परिभाषा में न कहीं साम्प्रदायिक अभिनिवेश है, न किसी कर्मकाण्ड को स्थान है और न ही किसी दार्शनिक मान्यता का पोषण है। इस कसौटी पर कसने पर हरेक मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार स्वयं ही धर्म और अधर्म का निर्णय कर सकता है। इस धर्म का निर्धारण करने में किसी ग्रन्थ, या गुरु या पैगम्बर की भी आवश्यकता नहीं है। इस कसौटी के आधार पर अनपढ़ और गँवार व्यक्ति भी उचित और अनुचित का विवेक कर सकता है।

यह धर्म समग्र जीवन का अंग है और इससे जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नहीं रह सकता; राजनीति भी क्योंकि जीवन का अंग है, इसलिए वह भी। किसी देश और किसी काल में भी इस परिभाषा का अपलाप सम्भव नहीं। जब तक मानव विद्यमान है तब तक उसके साथ यह कसौटी भी रहेगी।

स्वतन्त्रता की सीमा

इससे यह भी स्पष्ट है कि धर्म अनुभूति-जन्य है, बुद्धि-जन्य नहीं। वह मान्यताप्रधान नहीं, प्रत्युत आचार-प्रधान और नैतिकता-प्रधान है। अगर संसार के किसी मानव को किसी आचार पर आपत्ति है तो वह अपनी अन्तरात्मा की कसौटी पर कसकर देख लेगा कि मैं अमुक व्यक्ति के साथ जैसा व्यवहार कर रहा हूँ यदि वैसी परिस्थिति में मैं स्वयं होता, तो क्या मैं भी अपने साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना पसन्द करता? अगर मनुष्य के पास उचित और अनुचित के उल्लेख की यह कसौटी न होती तो मनुष्य-समाज कभी का विच्छृङ्खलित हो चुका होता।

इस आचरण-प्रधान धर्म की व्याख्या योगदर्शन ने यम और नियम के रूप में की है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये नियम हैं। यम समाज की सुचारु व्यवस्था के लिए हैं और नियम व्यक्तिगत जीवन की सुचारु व्यवस्था करने के लिए हैं। जहाँ तक व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी नियमों का प्रश्न है, उनका पालन करने में मनुष्य स्वतन्त्र है, क्योंकि उनका पालन न करने से उसको केवल व्यक्तिगत हानि ही उठानी पड़ेगी। यदि कोई व्यक्ति जान-बूझकर अपने जीवन को उन्नत नहीं करना चाहता, तो उसके लिए उसे बाधित नहीं किया जा सकता। परन्तु जहाँ तक सामाजिक नियमों का प्रश्न है—जिन्हें योगदर्शन में यम कहा गया है, उनमें किसी को स्वतन्त्रता नहीं है। इसीलिए समाज में हिंसा करने वाला, या असत्य आचरण करने वाला, या चोरी-ठगी अथवा डाका डालकर परद्रव्य का अपहरण करने वाला,

व्यभिचारी तथा औरों का शोषण करके पूँजी का अपरिमित परिग्रह करने वाला व्यक्ति दण्डनीय है। यह दण्ड देना भी राज्य का काम है, व्यक्ति का नहीं। अगर कोई राज्य इस प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था नहीं करता तो वह राज्य नहीं है। तब केवल अराजकता ही सम्भव है। इसीलिए जब व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है तब उसका यही अर्थ होता है कि जहाँ वह व्यक्तिगत हितकारी नियमों में स्वतन्त्र है, वहाँ उसे सामाजिक हितकारी नियमों में परतन्त्र रहना पड़ेगा।

व्यावहारिक राजनीति

यदि कभी ऐसी स्थिति आ जाए जब समाज और व्यक्ति के हितों में परस्पर टकराव हो, तब क्या किया जाए? उसके लिए भी नीति-निर्माताओं ने बहुत सुन्दर व्यवस्था की है। वह इस प्रकार है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

—जब व्यक्ति और समाज के हितों में संघर्ष हो तो राज्य और समाज के व्यवस्थापकों का यह कर्त्तव्य है किसी कुल के हितों की रक्षा के लिए वे एक व्यक्ति के हित को छोड़ दें। जब किसी कुल और ग्राम के हितों में संघर्ष हो, तो ग्राम के हित के लिए कुल के हित को त्याग दें। जब किसी ग्राम और जनपद के हितों में परस्पर टकराव हो तो जनपद के हित के लिए ग्राम के हित को त्याग दें। परन्तु यदि मनुष्य की अन्तरात्मा के साथ संघर्ष हो तो सारी पृथिवी को भी त्याग देना उचित है। इसमें प्रथम तीन बातें व्यावहारिक राजनीति का अंग हैं और अन्तिम बात उसी धर्म की ओर संकेत करती है जिसको महर्षि व्यास ने तथा अन्य अनेक धर्मशास्त्रों ने तरह-तरह से प्रतिपादित किया है। इसी से यह बात भी निकलती है कि—

यद् भूतहितमत्यंतं तत् सत्यमिति मे मतम्।

अर्थात्—जिससे अधिक-से-अधिक प्राणियों का अधिक-से-अधिक हित हो वही सत्य है, या वही धर्म है। यह परिभाषा हमको पाश्चात्य दार्शनिकों के उस मन्तव्य तक ले जाती है जिसमें उन्होंने आचरणशास्त्र (एथिक्स) की समाप्ति "**ग्रेटेस्ट फ्रेजर ऑफ दि ग्रेटेस्ट नम्बर**" पर जाकर की है। इसी बात को महात्मा बुद्ध बहुत पहले अपने भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कह चुके हैं—"**चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय**"—भिक्षुओ, तुम जब उपदेश करने जाओ तो हमेशा अधिकतम लोगों के सुख और हित का ध्यान रखो जिससे लोक-कल्याण हो सके। महात्मा बुद्ध का यह उपदेश भारतीय संस्कृति का वही शाश्वत उद्घोष है जिसमें "**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि**

पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्" का वर्णन है। इसीसे **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** वाली भारतीय संस्कृति की विशेषता चरितार्थ होती है।

इस प्रकार धर्म राजनीति को सन्तुलित करता है और राजनीति धर्म को सन्तुलित करती है। दोनों एक-दूसरे के लिए आवश्यक हैं। यदि धर्म का यह रूप स्वीकार हो तो वह किसी भी अवस्था में तिरस्करणीय नहीं, बल्कि राजनीति के लिए भी वरणीय है, क्योंकि इसके बिना राजनीति केवल निरंकुश तानाशाही बन जाएगी।

दूषित दृष्टिकोण

परन्तु यदि धर्म का यह सही रूप स्वीकार न हो और पश्चिम की विचारधारा के अनुसार धर्म को रिलीजन, मजहब, सम्प्रदाय या किसी पंथ का पर्यायवाची माना जाए, तो उस धर्म को राजनीति से सर्वथा दूर रखना होगा, क्योंकि साम्प्रदायिक मान्यताओं में परस्पर इतना मतभेद है कि अपनी मान्यताओं पर आग्रह करने वाले कभी दूसरे मत वालों के प्रति उदार नहीं हो सकते। अनुचित आग्रह का अर्थ ही असहिष्णुता है। सम्प्रदायों की विशेषता यह है कि प्रत्येक अपने सम्प्रदाय के श्रेष्ठतर होने का आग्रह करता है। किसी समय भैरवी-चक्र भी धर्म का अंग माना जाता रहा है। वाममार्गियों ने तो पंच-मकार की उपासना के नाम से मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन का खुल्लमखुल्ला प्रचार किया था, हालाँकि तान्त्रिक और दार्शनिक दृष्टि से ये पारिभाषिक शब्द हैं और इनका वही अर्थ नहीं है जो लोगों में प्रचलित है। परन्तु व्यवहार में उनके वही अर्थ चलते रहे जो धर्म की आड़ में केवल अधर्म का ही अंग थे।

साम्प्रदायिक मान्यता को धर्म का रूप देने का यही दुष्परिणाम होगा। अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार राजनीति को चलाने वाले तथा सियासत और मजहब को परस्पर जोड़ने वाले इस्लाम-मतानुयायी न केवल अपने से भिन्न मतावलम्बियों को काफिर कहते हैं, उनका धर्मग्रन्थ काफिरों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था भी करता है। दारुल-हरब और दारुल-इस्लाम की फिलॉसफी के उपासक किसी गैर-इस्लामिक राज्य के प्रति निष्ठा न रखना अपना धर्म समझते हैं। सैमेटिक मजहबों के साथ-साथ अन्य पंथों और सम्प्रदायों में भी यही प्रवृत्ति उभर रही है। यही 'फंडमेंटलिज्म' है। अब अकाली भी खुमैनी के रास्ते पर चल रहे हैं।

निष्कर्ष-रूप में हम कह सकते हैं कि धर्म का भारतीय परम्परा वाला अर्थ स्वीकार करने पर धर्म राजरीति के लिए भी वांछनीय है, परन्तु पाश्चात्य परम्परा वाला धर्म राजनीति से सर्वथा दूर रहना चाहिए। सोवियत संघ, वियतनाम, चीन, इण्डोनेशिया, मिस्र और तुर्की ने यही किया है। वे किसी भी साम्प्रदायिक धर्म को

अपनी राजनीति पर हावी नहीं होने देते। यदि भारत सरकार सही तौर से देश के 'सैक्युलर' (धर्मनिरपेक्ष नहीं, पंथनिरपेक्ष) संविधान की रक्षा करना चाहती है, तो उसे बहुजन-समाज के हितों की उपेक्षा करके केवल क्षणिक राजनैतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अल्पसंख्यकों या विभिन्न सम्प्रदायों को महत्त्व देने से बाज आना होगा। तर्क-विरुद्ध, बुद्धि-विरुद्ध और विज्ञान-विरुद्ध साम्प्रदायिक मान्यताओं को, अन्धविश्वासों को और चमत्कारों के नाम पर जनता को लूटने वाले साधु-संतों को नियन्त्रण में रखना होगा। इसी का फलितार्थ यह भी है कि उसे साम्प्रदायिक पार्टियों को राजनैतिक मान्यता देना बन्द करना होगा। चुनावों में सम्प्रदाय और जाति के आधार पर उम्मीदवार खड़े करने पर रोक लगानी होगी। धार्मिक स्थानों पर राजनैतिक गतिविधियों पर अंकुश लगाना होगा, क्योंकि इसके बिना न राज्य टिक सकता है न राष्ट्र।

(आर्यजगत् के मार्च १९८७ के तीन अंकों में मुद्रित लघु लेखमाला)

हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान

हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान—इन तीन शब्दों के सम्बन्ध में बहुत भ्रम है। इन तीनों शब्दों को ही साम्प्रदायिकता के साथ जोड़ दिया गया है और तीनों के बीच में पड़ा, दोनों तरफ अपनी छाया फेंकने वाला 'हिन्दू' शब्द भी धर्म के साथ जुड़कर बहुसंख्यक सम्प्रदाय का ही वाचक बन गया है। परन्तु अन्य धर्मों के समान हिन्दू धर्म की क्या कोई परिभाषा हो सकती है? इस्लाम या ईसाइयत की तरह क्या यह किसी एक पैगम्बर से (जो प्रकारान्तर से अवतार का ही दूसरा रूप है), एक ग्रन्थ से, एक विचार-पद्धति से और एक उपासना पद्धति से जुड़ा है? क्या इसके सर्वस्वीकृत दार्शनिक चिन्तन की कोई एक रूपरेखा है? 'हिन्दू' शब्द के अन्तर्गत जितने वर्ग और सम्प्रदाय हैं, क्या उनकी कोई एक धार्मिक संहिता, आचार-संहिता और नीति-संहिता है? धार्मिक स्तर पर ये सम्प्रदाय अनेक स्तरों पर परस्पर-विरोधी ही अधिक हैं। मुस्लिम-काल में बहुत पहले इनमें परस्पर मुठभेड़ भी होती रही है। परन्तु जिसे हम भारतीय संस्कृति की विशेषता कहते हैं वह यह है कि इतने अन्तर्विरोधों के बावजूद उसकी जीवनी-शक्ति अदम्य है, अक्षय है। उसकी उदारता, सहिष्णुता, सर्वधर्म-समभाव की प्रवृत्ति और विचार-स्वातन्त्र्य की छूट उसे संगठनात्मक रूप से भले ही कभी एक और दृढ़ न होने दे, इसे उसकी दुर्बलता कह लीजिए, पर यही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। यही उसके चिर-जीवन का रहस्य है।

कुछ उदाहरण लीजिए। पाणिनि की अष्टाध्यायी में **"येषां च विरोधः शाश्वतिकः"**—यह एक सूत्र है। जिनका आपस में सदा विरोध रहता है उनका उदाहरण दिया है—**'काकोलूकयोः' 'ब्राह्मण-श्रमणयोः'**—अर्थात् कौए और उल्लू की आपस में कभी नहीं बनती, वैसे ही ब्राह्मण और श्रमण की आपस में कभी नहीं बनती—उनका शाश्वत विरोध है (श्रमण=बौद्ध भिक्षु)। परन्तु इतिहास साक्षी है कि कालान्तर में वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण और बौद्ध धर्मावलम्बी श्रमण प्रेम-पूर्वक साथ-साथ रहे और आज भी रह रहे हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं को उनके ग्रन्थों में आदेश था—**'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम्'**—हाथी पीछा कर रहा हो तो भी प्राण-रक्षा के लिए जैन-मन्दिर में नहीं जाना चाहिए। परन्तु यहाँ भी इतिहास साक्षी है कि हिन्दुओं और जैनों में कभी विरोध बेशक रहा, परन्तु धीरे-धीरे भौगोलिक परिवेश और साहचर्य ने उन्हें सौहार्दपूर्वक साथ-साथ रहना

मिखाया। सम्राट् अशोक सदा अपने नाम के साथ **'देवानां प्रिय'** (देवताओं का प्यारा) विशेषण लगाया करते थे, परन्तु अमर कोषकार जैन विद्वान् अमरसिंह ने उसका अर्थ 'मूर्ख' कर दिया। यह अर्थ उस काल का द्योतक है जब जैनों और बौद्धों में परस्पर संघर्ष था। पर बाद में जैन और बौद्ध भी परस्पर प्रीतिपूर्वक रहे और आज भी रहते हैं।

जब साथ रहना ही है, तो प्रेम से रहो, यही सांस्कृतिक विकासशील चेतना हमें विरासत में मिली है। इसी का नाम हिन्दुत्व है। इसी चेतना के फलस्वरूप यहाँ हिन्दुओं के परस्पर-विरोधी सम्प्रदायों ने ही सौहार्दपूर्वक जीना नहीं सीखा, बल्कि यहूदियों, पारसियों, ईसाइयों और मुसलमानों तक के साथ—जो बाहर से आए थे, सौहार्दपूर्वक साथ रहने का आदर्श उपस्थित करके एक नए जीवनदर्शन को जन्म दिया। उसी जीवनदर्शन का नाम 'हिन्दू' है।

कुछ विद्वानों ने वैदिक धर्म को हिन्दू धर्म से अभिन्न स्वीकार किया है। पर सत्य यह है कि वैदिक, शैव, वैष्णव तथा अन्य परम्पराओं ने मिलकर जिस पौराणिक धर्म की सृष्टि की है, वही हिन्दू धर्म है। जैसे जैन और बौद्ध इसके अंग हैं, वैसे ही सिख भी। सच तो यह है कि धर्म के आधार पर हिन्दू शब्द की समाधानपरक व्याख्या अभी तक नहीं हो पाई। हाँ एक व्याख्या हो सकती है, और वह यह कि 'हिन्दू' ऐसे सम्प्रदायों, वर्गों, जातियों का सम्बद्ध रूप है जिनकी निष्ठा इस देश के साथ जुड़ी है। इसी भूखण्ड से जुड़कर 'हिन्दू' ने एक सामूहिक चेतना का विकास किया। इसलिए 'हिन्दू' एक धार्मिक नहीं, भोगोलिक परिभाषा है।

इस मान्यता की पुष्टि भारत के बाहर के देशों में प्रचलित धारणाओं से होती है। अरब देशों में तो भारत से जाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भले ही वह मुसलमान हो, हिन्दी या हिन्दू कहते ही हैं। चीन में भी लोग हिन्दू को धर्म नहीं मानते, देश ही मानते हैं। भारतीय मुसलमानों को अरब देशों में अपने-आपको हिन्दी या हिन्दू कहे जाने पर आपत्ति नहीं होती, किन्तु भारत में हिन्दू कहे जाने पर वे आपत्ति करते हैं। अब वैसी ही आपत्ति सिख भी करने लगे हैं। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि डॉ० एनी बीसेण्ट के कथनानुसार भारत और हिन्दू पर्याय-वाची क्यों हैं और जो सिख अपने-आपको हिन्दू कहने को तैयार नहीं वे किस तरह और क्यों हिन्दू का विरोध करते-करते भारत का विरोध करने लग गए।

प्रारम्भ में पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों ने 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग भौगोलिक दृष्टि से ही किया था। जब वे इस भौगोलिक खण्ड में प्रविष्ट हुए, तो क्योंकि उनका अपना राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आचार-व्यवहार-परक सारा जीवन इस्लाम से ही संचालित होता था और उनके लिए इस्लाम किसी भौगोलिक परिभाषा का द्योतक नहीं था, तो बाद में उन्होंने 'हिन्दू' शब्द को धर्म के साथ भी जोड़ दिया। धर्म की कट्टरता से नियन्त्रित उनकी चेतना और

मनोवृत्ति इस रूप में प्रतिक्षिप्त हुई और 'हिन्दू' पर धर्म आरोपित हो गया। तब इस देश के लोग आक्रमणकारियों के लिए केवल राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं रहे, धार्मिक प्रतिद्वन्द्वी भी हो गए। विरोध की इस समग्रता के कारण उन्होंने शुरू से ही पृथक्ता पर पूरा बल दिया। तब से अब तक यह पृथक्ता बढ़ती ही चली गई। विदेशियों द्वारा इस भूखण्ड के निवासियों को 'हिन्दू' कहने के तथ्य को भी भुला दिया गया।

हिन्दू को धर्म माने जाने पर जब उसका भौगोलिक रूप धुँधला पड़ गया, तो आक्रमणकारियों से निरन्तर पराजय का अभिशाप झेलते-झेलते अनेक हिन्दू-सम्प्रदाय अपने-आपको इस शब्द से असम्बद्ध घोषित करने लगे। तभी साधु-सन्तों ने तात्कालिक लाभ की दृष्टि से और पराजय की पीड़ा से बचने के लिए 'न मैं मुस्लिम, न मैं हिन्दू' कहना शुरू कर दिया—अर्थात् न मैं आक्रमणकारियों में शामिल हूँ और न ही आक्रान्त और पीड़ित-वर्ग में; मैं दोनों से अलग हूँ। सूफियों और भक्त कवियों के मन में मानव-मात्र की समानता का जो उच्च आदर्श था, उसके साथ इस तात्कालिक लाभ ने मिलकर 'न हिन्दू, न मुसलमान की' मानसिकता को जन्म दिया। पराजय ने हिन्दू समाज में हीन-भावना पैदा की थी। इस हीन-भावना से बचने के लिए, जिनका सम्पूर्ण अतीत हिन्दुओं से जुड़ा था और जिनके सुख-दुःख समान थे, वे एकाएक अपनी पृथक् सत्ता मानने लगे और उनके पूर्वजों ने जिन आक्रमणकारियों से संघर्ष किया था उन्हीं के साथ वे अपने-आपको जोड़ने लगे।

ब्रिटिशकाल में मानसिक दीनता और हीनता के अलावा दैहिक और रूपरंग की हीनता के बोध से ग्रस्त, पाश्चात्य सभ्यता को प्रगति की निशानी समझने वाले लोग भी हिन्दुत्व के अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए भारतीय सभ्यता, आचार-विचार और हिन्दुत्व को कोसने में शान समझने लगे।

हिन्दू की आन्तरिक स्थिति यह थी कि कोई भी व्यक्ति शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि धर्म-परिवर्तन करके भी हिन्दू ही रहता था, क्योंकि इस धर्म-परिवर्तन से उसका देश नहीं बदलता था। धर्म-परिवर्तन उसकी भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन नहीं करता था; वह इस देश से जुड़ा रहता था। मुस्लिम उन्माद ने इस स्थिति को बदल दिया। धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन जाने पर वह 'हिन्दू' नहीं रहा, अर्थात् वह भारतीय नहीं रहा। इसीलिए मुसलमानों की देश-निष्ठा का प्रश्न बारम्बार उठाया जाता है। अब अकाली-आन्दोलन ने भी वही स्थिति उत्पन्न कर दी है। हिन्दुत्व को नकारते-नकारते वे भारतीयता को और राष्ट्रीयता को ही नकारने लगे हैं।

यदि हम इस सम्पूर्ण भूखण्ड के निवासियों को 'हिन्दू' शब्द से सम्बोधित करते हैं, तो उनके पारस्परिक व्यवहार की भाषा, सम्पर्क-भाषा के रूप में 'हिन्दी' को स्वीकार करने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं है। इसलिए यह आपत्ति भी

निरर्थक है कि 'हिन्दू' के साथ 'हिन्दी' को बाँध रखना धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीयता के विरुद्ध है, या सिख, मुसलमान या ईसाई हिन्दी-भाषी नहीं हो सकता। हिन्दी से द्वेष भी वही करेगा जो अपनी पराजय की पीड़ा में हीनता-बोध से अपने-आपको हिन्दू या भारतीय कहने से कतराता है।

जब विघटनवादी तत्त्व हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान नारे को साम्प्रदायिक बताकर यह कहते हैं कि मराठीभाषी, पंजाबीभाषी, बंगलाभाषी या मलयालमभाषी हिन्दू होते हुए भी हिन्दीभाषी नहीं हैं, तो वे यह भूल जाते हैं कि हिन्दी के साथ इन सब भाषाओं की मूलभूत एकता है। अपनी भाषायी और धार्मिक संकीर्णता के कारण वे सम्पूर्ण देश की उस भाषायी एकता को चुनौती देते हैं जिसे स्थापित करने के लिए हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का नारा सार्थकता प्रदान करता है। इसलिए आवश्यकता राष्ट्रीयता की परिभाषा बदलने की नहीं है, बल्कि इतिहास के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान जैसे शब्दों के सही अर्थ को समझने की है।

महाराष्ट्र के मुख्य न्यायाधीश, भारत सरकार के पूर्व शिक्षामन्त्री, स्व० मुहम्मद करीम छागला के निम्न कथन को कौन राष्ट्रवादी अस्वीकार करेगा—

"एकमात्र हिन्दू धर्म ही ऐसा है जिसकी सबसे बड़ी विशेषता, जिसकी मैं सबसे अधिक प्रशंसा करता हूँ, सहिष्णुता है। इसमें कोई पोप नहीं है जो अपने अनुयायियों के लिए हुक्मनामे (Bulls) जारी करता हो। इसमें सभी प्रकार के वैचारिक सम्प्रदायों का समावेश है। तुम चाहे आस्तिक हो, चाहे नास्तिक हो, चाहे सन्देहवादी हो, फिर भी तुम हिन्दू हो। वास्तव में तो हिन्दू धर्म को धर्म या रिलीजन कहना ही गलत है। यह तो एक जीवन-विधि है, विचार-पद्धति है। फ्रांसीसी लोग अपनी तर्क-बुद्धि और सूक्ष्म विश्लेषण के अन्तर्गत समस्त भारतीयों को, फिर चाहे वे किसी भी जाति या सम्प्रदाय के क्यों न हों, हिन्दू (L' Hindus) ही कहते हैं। मैं समझता हूँ कि जो इस देश में रहते हैं, इसे अपना घर समझते हैं, उनके लिए यही सही सम्बोधन है।···

"सच बात यह है कि हम सब हिन्दू हैं, भले ही हम भिन्न-भिन्न धर्मों, मजहबों या सम्प्रदायों के मानने वाले हों। मैं हिन्दू हूँ, क्योंकि मैं अपने पूर्वजों को आर्यों की सन्तान मानता हूँ और मैं उस संस्कृति तथा विचारधारा का पोषक हूँ जिसे वे अपनी भावी पीढ़ियों के लिए विरासत के रूप में छोड़ गए हैं।"

['पंजाब तूफान के दौर से' (अक्तूबर १९८४) पुस्तक के १२वें अध्याय का एक अंश]

हिन्दू-विरोधी से राष्ट्र-विरोधी

आज के अलगाववादी सिख क्या इस बात पर विश्वास करेंगे कि महाराजा रणजीत सिंह के पौत्र जंगजोध सिंह ने आर्यसमाज स्यालकोट के लिए भूमि दान में दी थी? हम हिन्दू नहीं – यह कहते-कहते किस प्रकार सिख-बन्धु हिन्दुओं के बजाय मुसलमानों के साथ तालमेल बिठाने लगे और गुरु नानक तक को मुसलमान सिद्ध करने पर उनकी अन्तरात्मा को कोई ठेस नहीं लगी? सूफी फकीर मियाँ मीर को आदर-सहित लाहौर से पालकी में बिठाकर अमृतसर लाने और उनसे स्वर्ण मन्दिर की आधारशिला रखवाने को भी इसी मनोवृत्ति के समर्थन में पेश किया गया। पर सूफी सन्त साम्प्रदायिकता से सर्वथा दूर, अध्यात्म के स्तर पर मानव-मात्र की एकता के उपासक, समाज के वैसे ही उज्ज्वल नक्षत्र हैं जैसे भक्तिकाल के अन्य कवि। उनके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं – गुरु नानक। पर बाद के अलगाववादियों में आध्यात्मिकता के बजाय संकीर्ण स्वार्थमयी साम्प्रदायिकता प्रधान हो गई। इसी मनोवृत्ति ने जामा मस्जिद के इमाम शाह अब्दुल्ला बुखारी को आनन्दपुर बुलाकर उनकी उपस्थिति में पृथक् स्वायत्त राज्य का प्रस्ताव पास करवाया और मुसलमानों (तथा पाकिस्तान) के सहयोग से अपने इस मंसूबे को पूरा करने के लिए सम्मिलित मोर्चा बनाने को उकसाया। हिन्दू-विरोधी से बढ़ते-बढ़ते यह मनोवृत्ति कैसे राष्ट्र-विरोधी बनती गई, यह भी दर्शनीय है।

जालन्धर के लायलपुर खालसा कॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री प्रीतमसिंह गिल 'हेरिटेज ऑफ सिख कल्चर' में लिखते हैं—

"सिखों की अपनी अलग संस्कृति है, जो शेष भारत में रहने वाले अन्य सब लोगों से सर्वथा अलग है। उनके धार्मिक विश्वास भिन्न हैं, उनकी विरासत भिन्न है, उनकी संस्कृति भिन्न है।…

"भारत में, विभाजन के बाद नए भारत में, राष्ट्रीयता का विचार हिन्दुओं के मन में वही रहा है क्योंकि उन्होंने अब भी भाषा को धर्म के साथ जोड़ रखा है। हिन्दी सब हिन्दुओं की भाषा मानी जाती है चाहे वे किसी भी प्रदेश के निवासी क्यों न हों। उनके लिए हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपना धर्म, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति अल्पसंख्यकों पर थोपना चाहते हैं। वे उन सबकी संस्कृतियों को नष्ट कर भारत को केवल एक संस्कृति का राज्य बनाना चाहते हैं। भारत में कभी एक संस्कृति नहीं रही, किन्तु विभाजन के बाद यह प्रवृत्ति रही है।

राष्ट्रीयता को हिन्दी, हिन्दुत्व और हिन्दू संस्कृति के साथ नत्थी कर दिया गया है। निश्चय ही इससे विद्रोह की स्थिति पैदा होगी और देश का और विघटन होगा। भाषा, धर्म और संस्कृति की एकता की राष्ट्रीयता की पुरानी परिभाषा वर्तमान परिस्थितियों में नहीं चल सकती। भारत बहुभाषीय, बहुधर्मीय, बहुजातीय और बहु-संस्कृतियों वाला देश है, इसलिए राष्ट्रीयता की एक नई समन्वित परिभाषा तैयार करनी पड़ेगी। देश के सामने यही समस्या है।...

"सिखों का अपना इतिहास है, उनका अपना घर है, अपनी परम्पराएँ हैं, सुविकसित भाषा है, अपना धर्म है, उनका खास समाज है, नैतिकता है और सौन्दर्य-बोध है। इस प्रकार उनकी एक अलग संस्कृति है, जिसकी वे रक्षा करना चाहते हैं।...

"सिख हिन्दू राष्ट्रवाद के शिकार हुए हैं। भारत को बेशक स्वतन्त्रता मिली, सिखों को नहीं। हिन्दू एक शत्रु-देश को छोड़कर अपने भाई-बंदों के देश में आ गए। यही बात मुसलमानों के साथ हुई। परन्तु सिखों ने एक शत्रुदेश को छोड़कर दूसरे शत्रुदेश में प्रवेश किया। वे कड़ाही से भट्टी में गिर पड़े। उन्हें दो बुराइयों में से एक को चुनना था।...

"भाषा को मारो, संस्कृति को मारो, समुदाय को मारो—हिन्दुओं की यही तिहरी कूटनीति है। इससे भारत एक-भाषा, एक-धर्म और एक-संस्कृति वाला देश बन जाएगा—यही वे चाहते हैं। हिन्दू राष्ट्रवादियों का यही स्वप्न है।...कोई भी ऐसा अहिन्दी-भाषी व्यक्ति जो हिन्दी को अपनी मातृभाषा घोषित कर दे, 'हीरो' बन जाता है। यह बड़ा सीधा तरीका है, केवल थोड़ा-सा झूठ बोलने की जरूरत है। पंजाब के पंजाबी-भाषी क्षेत्र के हिन्दुओं ने सामूहिक रूप से झूठ बोला, जब १९५१ की जनगणना में उन सबने मिलकर घोषणा की कि उनकी मातृभाषा हिन्दी है, पंजाबी नहीं।...परिणामस्वरूप सन् १९६६ तक पंजाबी को पूर्णतया सरकारी और प्रशासनिक दर्जा नहीं मिल पाया और पंजाब के पुनर्गठन के बाद भी उसे केवल आधे दिल से स्वीकार किया जा रहा है ताकि अन्त में वह समाप्त हो जावे। हर कदम पर उसे पंजाबी के साथ खड़ा करने की कोशिश की जाती है। यह स्थिति उस प्रादेशिक भाषा के साथ है जिसे संविधान में मान्यता प्राप्त है। प्रशासन के माध्यम के रूप में पंजाबी के सम्बन्ध में यह बात है।...

"जहाँ तक शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है, उसे नष्ट करने का संगठित प्रयत्न किया जाता है। सब हिन्दू संस्थाएँ हिन्दी को माध्यम स्वीकार करती हैं, केवल सिख-संस्थाएँ ही पंजाबी को अपनाती हैं। सरकारी शिक्षा-संस्थाओं में छोटे पैमाने पर विभाजन हैं - हिन्दी-भाषी छात्रों के समुदाय और पंजाबी-भाषी छात्रों के समुदाय के रूप में। पहले में हिन्दू प्रमुख हैं, दूसरे में सिख। यह विभाजन हिन्दुओं ने किया है, सिखों ने नहीं।...

"समस्या का मूल यह है कि हिन्दू किसी भी प्रान्त में किसी अन्य समुदाय का प्रभुत्व नहीं चाहते, क्योंकि वे प्रशासक जाति के हैं।···वे पहले हिन्दू हैं, बाद में भारतीय। सांस्कृतिक इकाइयाँ उनकी 'वोटिंग पावर' की दया पर रहती हैं। इसी-लिए वे किसी ऐसे उपाय की खोज में हैं जिससे वे अपनी संस्कृति की रक्षा कर सकें; वे विलुप्त नहीं होना चाहतीं। अपनी संस्कृतियों की रक्षा के लिए उन्हें संरक्षण की आवश्यकता है। इस प्रकार दो स्पष्ट प्रवृत्तियाँ हैं—केन्द्रानुसारी और केन्द्रापसारी (सेण्ट्रीपीटल और सेण्ट्रीफ्यूगल)। यह संघर्ष तब तक रहेगा जब तक भारत अतीत में जीता रहेगा, खासतौर से बहुसंख्यक समाज। अब बहुसंख्यक समाज के अधिकारों को कोई खतरा नहीं है। इसलिए उनके रवैये के विरुद्ध अल्प-संख्यक समाज में प्रतिक्रिया होती है। यह जीवन-मरण का प्रश्न है। इसलिए अब यह बहुसंख्यक समाज का काम है कि वह अपनी राष्ट्रीयता की धारणा बदले, न कि अल्पसंख्यक समुदाय की।"

इसके बाद श्री गिल ने यह दिखाने के लिए कि सिखों को हिन्दू न समझा जाए, काफी लम्बी बहस की है। यद्यपि उन्होंने अलग राज्य की बात तो नहीं की, परन्तु उनका युक्ति-क्रम इस प्रकार है—

"यह कहना बेकार है कि भारत की एक संस्कृति है। विभिन्नता मौजूद है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। पर कुछ लोग कहते हैं कि इस विभिन्नता में भी एकता है। यह सिवाय आत्मप्रवंचना के कुछ नहीं है और कुछ लोगों का दूषित चिन्तन मात्र है।···

"हिन्दुओं, जैनियों, बौद्धों, मुसलमानों, सिख और पारसियों की धार्मिक शिक्षाओं में कोई समानता है? नहीं, उनकी मूल बातों में ही अन्तर है।···

"क्या भाषा, नस्ल और विरासत में कोई एकता है? नहीं।···

"अपने धर्म के बाहर कितने लोग विवाह करते हैं? वे उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।···

"अछूत समझे जाने वाले कितने लोग हैं? लाखों।···

"क्या भोजन और पोशाक के सम्बन्ध में उन्होंने पूर्वाग्रह छोड़ दिए हैं? नहीं।

"कितने लोग दूसरे दर्जे के नागरिक समझे जाते हैं? बहुसंख्यक समाज बता सकता है।···

"भारत न कभी एक था, न कभी एक हो सकता है और इसलिए न कभी एक होना चाहिए।"

भारत के राष्ट्रवाद पर, उसकी सांस्कृतिक एकता पर और हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान पर इससे कड़ा प्रहार शायद नहीं किया जा सकता। श्री गिल के एक-एक नुक्ते पर यहाँ बहस करना व्यर्थ है, परन्तु 'हम हिन्दू नहीं' कहते-कहते वे एक तरह से 'हम भारतीय नहीं' कहने पर आमादा हो गए हैं। यह जहाँ आजकल के

अलगाववादी सिखों की गलत मानसिकता का निदर्शन है, वहाँ इतिहास के गलत अध्ययन के साथ उसे गलत रूप से पेश करना भी है।

नया इतिहास

गिल की तरह कुछ अन्य सिख बुद्धिजीवी भी हैं जो इसी प्रकार की मानसिकता को इतिहास-सम्मत सिद्ध करने के लिए नए सिरे से इतिहास लिख रहे हैं। 'इण्डियन एक्सप्रेस' में छपे श्री दुग्गल के एक लेख के अनुसार जो नया इतिहास तैयार किया जा रहा है उसके अनुसार गांधी और नेहरू राष्ट्रीय नेता नहीं, हिन्दू नेता हैं जो धोखाधड़ी में पारंगत थे और जिन्होंने सिखों के साथ विश्वासघात किया था। इस नए इतिहास के अनुसार जिन्ना एक दूरदर्शी नेता थे और उनके शब्दों में भविष्यवाणी-जैसा ओज था। इस तथाकथित नए इतिहास में भाई मतिदास से लेकर वीर वैरागी और भगतसिंह जैसे व्यक्तियों को उनकी मृत्यु के पश्चात् ही शामिल किया गया है, जैसे उनके जीवन का राष्ट्रीय इतिहास में कोई स्थान न हो। इस इतिहास में कहा गया है कि १९४६ में सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न सिख राज्य प्राप्त न करने के कारण एक स्वर्णिम अवसर खो दिया क्योंकि जिन्ना के प्रलोभनों को बिना किसी वैध कारण के ठुकरा दिया गया था। ब्रिटेन के गुप्तचर-विभाग और कैबिनेट-मिशन की रिपोर्ट में सिखों को अलग राज्य देने की बात का उल्लेख है। (इन सिख इतिहासकारों के सिवाय किसी अन्य इतिहास-लेखक को यह बात मालूम नहीं है।) इस इतिहास के अनुसार १९४७ में आजादी नहीं मिली, बल्कि सिखों का एक कटु और दीर्घकालीन संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस इतिहास के अनुसार, भारतीय संविधान में स्वतन्त्रता, न्याय और सम्प्रदाय-निरपेक्षता के नाम पर सिखों के साथ विश्वासघात किया गया है। साझे आदर्शों, साझी विरासत और साझी संस्कृति का उल्लेख इस इतिहास के अनुसार, सिखों का राजनैतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त करने का कुटिल प्रयास है ताकि उन्हें हिन्दू धर्म में शामिल किया जा सके।

जहाँ तक राष्ट्रीयता का प्रश्न है, हमारा कहना यह है कि वहाँ हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई इत्यादि परिभाषाओं में सोचना ही गलत है। किसी भी राष्ट्र में केवल दो ही वर्ग हो सकते हैं—एक राष्ट्रभक्त और दूसरे अराष्ट्रभक्त। धर्मनिरपेक्ष देश में तो धर्म के आधार पर राजनीति चलाना और भी गलत है। आजादी से पहले अंग्रेजों ने धर्म को राजनीति के साथ जोड़ा कम्युनल एवार्ड के द्वारा, और कांग्रेस ने जोड़ा मुस्लिम तुष्टिकरण की खातिर खिलाफत-आन्दोलन चलाकर। तुर्की में खलीफा रहे या न रहे, इसके लिए भारत में आन्दोलन करना सरासर बेतुकी बात थी, परन्तु सिर्फ मुसलमानों को किसी-न-किसी बहाने राष्ट्रीय आन्दोलन में शामिल करने के लिए जब यह मुहिम चली, तब गांधीजी ने यह भी कहा कि आजादी के

लिए हिन्दू-मुस्लिम-एकता जरूरी है। इस 'जरूरी' के नारे से मुसलमानों को अपनी अहमियत पता लगी और उन्होंने इस एकता के लिए कीमत वसूलनी शुरू कर दी। कांग्रेस और अंग्रेज बोली बढ़ाते गए और अन्त में जहाँ बोली समाप्त हुई, वहाँ देश को विभाजन का दुर्भाग्य झेलना पड़ा। सिखों ने भी अंग्रेजों के समय से ही बोली पर चढ़ना शुरू कर दिया था। अंग्रेजों के समय वह बोली पूरी नहीं हुई। देश के साथ गद्दारी करके भी जिन अंग्रेजों की चाकरी बजाई, जब उन आकाओं ने ही घास नहीं डाली, तो अब स्वतन्त्र भारत में तो दूध के जले फूँक-फूँककर छाछ पीएँगे ही।

['तूफान के दौर से पंजाब' (अक्तूबर १९८४) नामक पुस्तक के १२वें अध्याय का एक अंश]

हिन्दू राज्य ही क्यों ?

"तुम्हारे जैसा सुशिक्षित, प्रखर राष्ट्रवादी और देशभक्त व्यक्ति भी हिन्दुत्व, हिन्दू राज्य और प्राचीन दकियानूसी परम्पराओं की बात करने लगे, तो देश का उद्धार हो चुका !"

जब एक अत्यन्त घनिष्ठ और सदाशयी मित्र ने इस प्रकार की बात कही, तब आश्चर्य उतना नहीं हुआ, जितना क्षोभ हुआ। हम जानते हैं कि राजनीति में किसी को सबसे बड़ी गाली देनी हो, तो उसके लिए केवल तीन शब्द काफी हैं—सम्प्रदायवादी, साम्राज्यवादी और प्रतिक्रियावादी। प्रायः राजनीतिज्ञ लोग अपने से इतर दलों से सम्बद्ध लोगों को उक्त तीन अपशब्दों से सम्बोधित करके ही समझते हैं कि उन्होंने मैदान मार लिया।

इन लोगों की दृष्टि में हिन्दू शब्द ही साम्प्रदायिकता का वाचक है, हिन्दू-राज्य शब्द का प्रयोग विशुद्ध साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिणाम है और औद्योगिक क्रान्ति तथा विज्ञान-प्रधान आधुनिक युग में जब कोई प्राचीन परम्पराओं की बात करता है, तो वह सिवाय प्रतिक्रियावादी के और कुछ नहीं हो सकता।

पर क्या वस्तुस्थिति यही है ?

हम जोर देकर कहेंगे—नहीं, हरगिज नहीं। न तो हिन्दू शब्द साम्प्रदायिक है, न ही 'हिन्दू राज्य' शब्द साम्राज्यवाद या विस्तारवाद का परिचायक है, और न प्राचीन परम्पराओं की बात करना प्रतिक्रियावाद है।

संक्षेप से एक-एक बात को लें। सबसे पहले हमारा निवेदन यह है कि हिन्दू शब्द किसी सम्प्रदाय, पंथ या मजहब का द्योतक नहीं। सच तो यह है कि आजकल जिसे मजहब या Religion कहा जाता है, उस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग ही गलत है। 'धर्म' शब्द का शास्त्रीय अर्थ है—धारण करने वाला(**'धारणाद् धर्म इत्याहुः'**); जिसने मानवता को धारण किया हुआ है, जिसके कारण मानवता टिकी हुई है, उसका नाम धर्म है। इसका सम्बन्ध न किसी व्यक्ति-विशेष के साथ है, न किसी सम्प्रदाय-विशेष के साथ। संसार के सभी मानव परस्पर भ्रातृत्व और मानवता के बन्धन से बँधे हैं। मानवता एक है, तो उसका धर्म भी एक ही है। उस धर्म का का नाम भी है मानव-धर्म अर्थात् मनु-प्रतिपादित धर्म। क्या गाय का धर्म गोत्व के सिवाय कुछ और हो सकता है ? या वृक्ष का धर्म वृक्षत्व के सिवाय कुछ और ? वह मानव-धर्म सार्वत्रिक, सार्वभौमिक और सार्वकालिक होना चाहिए। स्वयं मनु ने

उस धर्म का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

श्लोक की शब्दावली इतनी सरल है कि अलग से इसका अर्थ करने की आवश्यकता नहीं। हम पूछते हैं कि बाइबल के 'सरमन ऑन द माउँट' में, या योग-दर्शन के यम और नियम में, या बौद्धों के पंचशील और 'चत्वारि आर्यसत्यानि' में, अथवा जैनियों के पाँचों अणुव्रतों में और इस्लाम के रोज़ा-ज़कात-नमाज़ आदि में क्या अन्तर है? निस्सन्देह, संसार के सब मतों की सब बातें आपस में नहीं मिलतीं, पर कुछ बातें अवश्य मिलती हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसलिए सार्वभौम मानव-धर्म का पता लगाने के लिए सबसे सरल उपाय यह है कि इन सब मतों में जितनी भी समान बातें हैं उन सबको एकत्र कर लें तो हम देखेंगे कि उन सबका समावेश मनु-प्रतिपादित दस लक्षणों में हो जाता है। इसलिए मानव-धर्म की कसौटी यह है कि सब मतों में जो महत्तम समापवर्त्तक है—Highest common factor है, वही मानव-धर्म है। हिन्दू भी यदि धर्म है, तो उससे भिन्न नहीं है। ऐसे धर्म में साम्प्रदायिकता की शंका करना स्वयं मानवता में और मानव-बुद्धि में शंका करना है।

पर हम तो यहाँ इससे भी आगे बढ़कर एक और स्थापना करना चाहते हैं और वह स्थापना यह है कि हिन्दू नाम का धर्म नहीं, देश है। धर्म के लिए 'हिन्दू' का प्रयोग गौण है, मुख्य रूप से उसका वाचक देश ही है। अगर यह स्थिति स्वीकार कर ली जाए, तो न केवल हिन्दू शब्द से साम्प्रदायिकता का आरोप स्वतः हट जाएगा, उसका स्वरूप भी व्यापक हो जाएगा, अनेक समस्याओं का अनायास समाधान हो जाएगा और यह शब्द भी एक नई आभा से मंडित हो उठेगा। हम जानते हैं कि आज तक हिन्दू शब्द की जितनी परिभाषाएँ की गई हैं उनमें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति का दोष रहा है और वे सर्वमान्य नहीं हो पाई हैं। पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण यही है कि जिस मान्यता से अधिकतम समस्याओं का अधिकतम समाधान हो सके, उसे मान लेना चाहिए।

सन् १९६५ की बात है। उस समय समस्त संसार में भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति के सबसे प्रबल प्रवक्ता डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन भारत के राष्ट्रपति थे। २६ जनवरी के गणराज्य-दिवस की पूर्व-संध्या को (२५ जनवरी की रात को) उन्होंने सारे राष्ट्र के नाम जो संदेश आकाशवाणी से प्रसारित किया था, उसमें उन्होंने संस्कृत के एक श्लोक का उच्चारण किया था, जिसे सुनकर हम तो हर्ष-विह्वल हो उछल पड़े थे। यदि सारा राष्ट्र अपने राष्ट्रपति की उस चिन्तन-शैली को स्वीकार कर ले, तो न जाने राह के कितने काँटे स्वयं साफ हो जाएँ। वह श्लोक इस प्रकार था—

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दु सरोवरम् ।
हिन्दुस्थानमिति ख्यातमाद्यन्ताक्षरयोगतः ॥

हिमालय से लेकर इन्दु सरोवर (कन्या कुमारी) पर्यन्त, हिमालय के आदि अक्षर (हि) और इन्दु के अन्तिम अक्षर (न्दु) को मिलाकर बना हिन्दु शब्द हिन्दुस्थान का वाचक है।

यह श्लोक 'कुलार्णव तन्त्र' का बताया जाता है। इसी प्रकार का एक अन्य श्लोक कुछ पाठ-भेद के साथ बार्हस्पत्य शास्त्र का भी दृष्टिगोचर होता है—

हिमालयं समारभ्य यावदिन्दु सरोवरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते ॥

—हिमालय से इन्दु सरोवर पर्यन्त इस देवनिर्मित देश को हिन्दुस्थान कहते हैं।

हिन्दुस्थान देवनिर्मित देश क्यों है ? इसलिए कि न तो हिमालय मनुष्य-निर्मित है और न ही हिन्द महासागर मनुष्य-निर्मित है। दोनों देव-निर्मित अर्थात् प्रकृति-प्रदत्त अथवा ईश्वर-निर्मित हैं। जिसकी सीमाएँ स्वयं देव-निर्मित हों, ऐसा सौभाग्य और कितने देशों को प्राप्त है ? विष्णु पुराण में तथा श्रीमद्भागवत पुराण में इस भारतभूमि की प्रशंसा में जो कुछ कहा गया है, उसके उद्धरण हम यहाँ जान-बूझकर नहीं दे रहे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू नाम का देश है, यह हमारी कोरी कल्पना नहीं बल्कि इसका शास्त्रीय आधार है।

अगली बात हम यह कहेंगे कि न केवल इस देश का नाम हिन्दू है, प्रत्युत इसके निवासियों का नाम भी हिन्दू है। यहाँ हम साहित्यशास्त्र की तात्स्थ्योपाधि का उल्लेख करेंगे। काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञों को समझाने की आवश्यकता नहीं कि जब वक्ता को यह कहना अभीष्ट होता है कि 'मंच पर बैठे लोग पुकार रहे हैं' (मंचस्थाः क्रोशन्ति), तब वह केवल इतना ही कहकर अपनी बात को भली-भाँति प्रकट कर देता है कि 'मंच पुकार रहे हैं' (मंचाः क्रोशन्ति)। जैसे 'मंच पर बैठे हुए लोगों' को केवल 'मंच' शब्द से अभिहित किया गया, वैसे ही हिन्दू देश में स्थित लोगों को भी केवल 'हिन्दू' शब्द से सम्बोधित किया गया। इसलिए हिन्दू शब्द का अभिप्राय हुआ—भारतीय।

सीधा प्रश्न होगा कि तो क्या भारत में रहने वाले किसी भी मतावलम्बी को 'हिन्दू' कहा जाएगा ? हमारा उत्तर है—"क्यों नहीं ?" प्रत्येक भारतवासी को, फिर चाहे वह इस्लाम, ईसाइयत या किसी भी मत का मानने वाला क्यों न हो, किसी भी जाति, कुल, वंश, वर्ण, रंग और प्रदेश का हो, उसे अपने-आपको स्वाभाविक रूप से, जन्मना, भारतीय अर्थात् हिन्दू कहने का अधिकार ही नहीं, विशेषाधिकार है, हिन्दू अर्थात् भारतीय। पर हाँ, भारत का प्रत्येक निवासी हिन्दू तो है, पर भारत का निवासी होने मात्र से उसे इस देश की नागरिकता का या वोट का

अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। नागरिकता की पहली शर्त है—जिस देश के आप नागरिक हैं उसके प्रति पूर्ण वफादारी। यदि भारत के प्रति आपकी वफादारी दूसरे दर्जे पर है, पहले दर्जे पर वफादारी मक्का-मदीना, बैतुलहम या जेरुसलम के प्रति है तो यह नागरिकता की शर्त का उल्लंघन है। और जब नागरिकता नहीं, तो वोट का अधिकार कैसा ?

आज तक स्वतन्त्र भारत के जितने प्रधानमन्त्री हुए हैं, वे सब १५ अगस्त के स्वाधीनता-दिवस पर लाल किले की प्राचीर से सदा विशाल जन-समुदाय से 'जय हिन्द' का नारा लगवाते रहे हैं। जब 'जय हिन्द' हमारा राष्ट्रीय नारा है, तब 'जय हिन्दू' में अराष्ट्रीयता कैसे हो सकती है ? गुलगुले खाएँ और गुड़ से परहेज ? यह सरासर आत्मवंचना है। भाषाशास्त्र, साहित्यशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, भूगोल और परम्परा—इन सभी दृष्टियों से हिन्द, हिन्दू, हिन्दी—ये तीनों परस्पर अविनाभाव रूप से जुड़े हैं; इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। वीर सावरकर ने यदि हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का नारा लगाया था, या महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्यावर्त, आर्य-भाषा और आर्य शब्द के गौरव को जगाया था, या आधुनिक राजनीतिशास्त्र-विचक्षण जिसे भारत, भारती और भारतीय कहना पसन्द करेंगे —उन सबका एक ही अर्थ है, उनमें कहीं कोई अन्तर नहीं है। तो यह समीकरण यों बनेगा—

आर्यभाषा, आर्य, आर्यावर्त
भारत, भारतीय, भारत
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्थान (हिन्द)

यदि आर्य भाषा और भारती के स्थान पर हिन्दी शब्द अपने लोकानुसारी प्रयोग के बल से सर्वस्वीकृत हो गया और उसे राष्ट्रभाषा और राजभाषा का पद प्राप्त हो गया, और हिन्द शब्द 'जयहिन्द' में प्रतिष्ठित होकर राष्ट्रीय जयघोष बन गया, तब फिर हिन्दू शब्द को अराष्ट्रीय और साम्प्रदायिक कहने वाले व्यक्ति की बुद्धि के लिए क्या कहा जाए ?

रही बात हिन्दू राज्य की। जब हिन्दू शब्द भारतीय का वाचक हो गया, तब इस बात में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है कि भारत में भारतीयों का राज्य हो ? शर्त यही है कि भारत देश, भारतीय धर्म, भारतीय संस्कृति और भारतीय पूर्वजों की उदात्त परम्परा से अपने-आपको जोड़ना होगा। हिन्दुत्व में सदियों के ऐतिहासिक काल-प्रवाह में जो कूड़ा-कर्कट जमा हो गया है, उसे निकाल फेंको ! तुम्हारी वैज्ञानिक बुद्धि, राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत अन्तःकरण और राजनैतिक अभिनिवेश से परे लोक-कल्याणकारी दृष्टि जिसे सही समझती है, वही हिन्दुत्व है, वही आधुनिक धर्म है और उसी की स्थापना के लिए हिन्दू राज्य का औचित्य है।

अब प्रश्न यह है कि हम जिस हिन्दू राज्य की वकालत कर रहे हैं, वह कोई

धार्मिक राज्य (Theocratic State) होगा या धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State)? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि केवल हिन्दू राज्य ही सही अर्थों में सम्प्रदाय-निरपेक्ष राज्य ('धर्मनिरपेक्ष' शब्द का प्रचलन गलती से हो गया है, इसके स्थान पर 'सम्प्रदाय-निरपेक्ष' या पन्थनिरपेक्ष शब्द चलना चाहिए) हो सकता है। क्योंकि **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** और **'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः'** जैसी सार्वभौम और असाम्प्रदायिक भावना सिवाय हिन्दुत्व के और कहाँ है ? और जिस प्रकार हिन्दुओं ने अपने देश में पारसियों, यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों को ससम्मान स्थान दिया है, वैसा आज तक संसार के और किस देश ने किया है ?

हिन्दुओं को छोड़कर अन्य सब मत-मतान्तर अपने धर्म में अक्ल के दखल को स्वीकार नहीं करते। केवलमात्र हिन्दू ही हैं जिनका धर्म डिण्डिम-घोष के साथ कहता है—**'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः**— तर्क से अनुसन्धान करने वाला ही धर्म को जानता है। एक तरफ ऐसे धर्म हैं जो ज्ञान-वृक्ष के फल के आस्वादन को पाप मानते हैं, दूसरी तरफ हिन्दू हैं जो कहते हैं कि वेद का अर्थ ही ज्ञान है। 'धीः' तथा 'विद्या' अर्थात् बुद्धि और उसके विकास द्वारा प्राप्त ज्ञान-विज्ञान को धर्म के दस मौलिक लक्षणों में गिनने वाले हिन्दुओं के सिवाय और कौन हैं ?

इसलिए हमारा कहना यह है—धर्मनिरपेक्षता का विचार संसार को हिन्दुओं की ही देन है। हिन्दू राज्य धर्म-विहीन नहीं, किन्तु सम्प्रदाय-निरपेक्ष अवश्य होगा। इसका सबसे बड़ा प्रमाण स्वयं भारतवर्ष है। यह देश तभी तक धर्मनिरपेक्ष है, जब तक यह हिन्दू-बहुल है। जिस दिन इस देश में अपने-आपको हिन्दू कहने वाले अल्पसंख्यक हो जाएँगे, उस दिन यह देश धर्मनिरपेक्ष भी नहीं रहेगा। हम पूछते हैं कि मलयेशिया में केवल ५१ फीसदी मुसलमान हैं, फिर भी उसे मुस्लिम देश घोषित कर दिया गया है, जबकि भारत में ८५ फीसदी हिन्दुओं का निवास है (हिन्दू का अर्थ देश मान लेने पर तो यहाँ १०० फीसदी हिन्दू ही रहते हैं), फिर भी इसे हिन्दू राज्य घोषित नहीं किया जाता। अपने-आपको धर्म-सापेक्ष और साम्प्रदायिक कहलाने का यह भय धर्मनिरपेक्षता की अनुचित पराकाष्ठा है।

संक्षेप में हम कहना चाहें, तो यह कह सकते हैं कि महात्मा गांधी जिसे राम-राज्य कहते थे, उसे ही हम हिन्दू राज्य कहते हैं—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज काहू नहिं व्यापा॥

यह राम-राज्य का आदर्श था, तो हिन्दू-राज्य का भी आदर्श यही है। पर रामराज्य को यदि कोई 'यूटोपिया' ही कहने पर ही आमादा हो, तो हम कहेंगे कि गांधी ने जिस नए भारत के निर्माण के संकल्प की बात कही है, हमारे हिन्दू राज्य का आदर्श भी वही है।

और भी आधुनिक मानस वालों के लिए कहेंगे कि हम जिसे हिन्दू राज्य कह रहे हैं उसका आदर्श विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'चित्त जेथा भयशून्य' शीर्षक गीत में उभरकर सामने आया है। उस गीत का अनुवाद (श्री सुधीन्द्र द्वारा बंगला से अनूदित) इस प्रकार है—

स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा !
अशंक मन हो, उठा हुआ शिर,
स्वतन्त्र हो पूर्ण ज्ञान जिसमें
जहाँ घरों की न भित्तियाँ ये करें जगत् खण्ड खण्ड न्यारा !
सदैव ही सत्य के तले से
जहाँ पिता, शब्द-शब्द निकले
छुए बढ़ा हाथ पूर्णता को जहाँ परिश्रम अथक हमारा !
छिपे भटक कर सुबुद्धि-धारा
न रूढ़ियों के दुरन्त मरु में
विशाल विस्तृत विचार-कृति में लगे जहाँ चित्त, पा सहारा।
स्वतन्त्रता-स्वर्ग में पिता हे, जगे जगे देश यह हमारा॥

हमें हिन्दू शब्द को साम्प्रदायिकता, संकीर्णता तथा दकियानूसीपन की लांछना से निकालकर गौरव के उच्च सिंहासन पर बिठाना होगा। जब सुदूरस्थ कोनों में भी वस्तुस्थिति की परिचायक यह हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान के त्रित की ध्वनि हमें कहीं सुनाई नहीं दी, तो हमने जनता के सामने इस विचारधारा को नारेबाजी के स्तर से निकालकर बौद्धिक स्तर पर रखने का विनम्र प्रयास किया है। जिनके हाथ में शासन की बागडोर है और जिनके मन में देश के कोटि-कोटि जन-समुदाय के कल्याण की कामना है, वे यदि हिन्दू राज्य की स्थापना की दिशा में रंचमात्र भी सक्रिय हो सकें, तो इस लघु प्रयास की सार्थकता है।

('आर्यजगत्' का हिन्दू रक्षा विशेषांक, १८ अक्तूबर १९८१ का सम्पादकीय)

कुरीतियाँ कैसे पनपती हैं ?

महाभारत के पश्चात्, विशेष रूप से महात्मा बुद्ध के पश्चात् भारतवर्ष का इतिहास बड़ा विचित्र रहा है। जब महात्मा बुद्ध ने अहिंसा पर अत्यधिक बल देकर देश-विदेश में एक नया धार्मिक उत्साहपूर्ण आन्दोलन चलाया तो उसका प्रभाव हिमालय और समुद्र के पार भी पहुँचा। बौद्ध धर्म के जिन प्रचारक भिक्षुओं ने महात्मा बुद्ध का अहिंसात्मक उद्देश्य लेकर एशिया और यूरोप के अनेक देशों में अपने मत की दुन्दुभि बजाई, उसका एक अवश्यम्भावी एक परिणाम यह भी हुआ कि भारत में क्षात्रधर्म की अवहेलना हुई। अहिंसा के प्रचार के कारण जब कभी विदेशी आक्रमणकारियों के सामने देश की रक्षा का प्रश्न आया, तब बौद्ध मतानुयायी जनता ने हथियार उठाने के बजाय कायरों की तरह आत्मसमर्पण कर दिया। इस स्थिति को देखकर विदेशी आक्रमणकारियों के हौसले बढ़ गए और एक के बाद एक उनके हमलों की अक्षुण्ण परम्परा चलती रही।

महात्मा बुद्ध के आविर्भाव के लगभग ३०० साल बाद ही सिकन्दर ने विश्व-विजय का स्वप्न लेकर भारत पर आक्रमण किया था। यह ठीक है कि उस समय पंचनद की भूमि के वीरों ने जिस तरह उसका डटकर मुकाबला किया, उससे सिकन्दर को अपना विश्वविजय का स्वप्न अधूरा छोड़कर भारत से वापस लौटने को मजबूर होना पड़ा। परन्तु इन यवनों (यूनानियों) के एक बार आक्रमण का मार्ग खोल देने पर फिर तो टिड्डी-दल की तरह विदेशी 'सोने की चिड़िया' की समृद्धि का अपहरण करने के लिए आक्रमणों पर आक्रमण करते ही चले गए। यवनों के बाद शक आए, शकों के बाद हूण आए, फिर यूची आए, उसके बाद मंगोल आए, फिर मुगल आए और अन्त में अंग्रेज तथा अन्य यूरोपीय शक्तियाँ आईं।

मध्य काल के नाम से इतिहासकार गत एक हजार वर्ष का तो चित्रण करके नहीं अघाते, परन्तु उससे पहले के एक हजार वर्षों के इतिहास के सम्बन्ध में वे प्रायः मौन रहते हैं, या थोड़ी-बहुत चर्चा करके एकदम आगे बढ़ जाते हैं। मुगलों और मंगोलों के आक्रमण की चर्चा तो निरन्तर होती रहती है परन्तु यवनों, शकों, और हूणों ने किसी समय भारत-भूमि को जिस तरह रौंदते हुए यहाँ अपने साम्राज्य स्थापित किए थे, उसकी चर्चा नगण्य रही। शकों और हूणों की आँधी मंगोलों और मुगलों की आँधी से कम प्रबल नहीं थी। परन्तु तब महात्मा बुद्ध की अहिंसा की प्रतिक्रियास्वरूप भारत का वैदिक कालीन पौरुष पुनः उभरा। चन्द्रगुप्त मौर्य ने

यवनों को पराजित किया, विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया और स्कन्दगुप्त ने हूणों को धूल चटाई। यह भारत की जिजीविषा का ही परिणाम था कि वे यवन, शक और हूण अधिकांश यहाँ से लौटकर नहीं जा सके और यहाँ के भारतीय समाज में ऐसे विलीन हो गए कि आज उनको अलग से पहचानना भी कठिन है।

जब किन्हीं भिन्न संस्कृति के मानने वालों का परस्पर विलय होता है तो एक-दूसरे के विचारों और रीति-रिवाजों का आदान-प्रदान भी अवश्य होता है। परस्पर विवाह-सम्बन्ध हो जाने के पश्चात् वे मिश्रित विचार आगे आने वाली संतति में संक्रमित होते हैं और वे धीरे-धीरे सामाजिक आचार का अंग बन जाते हैं। उन्हीं नवनिर्मित सामाजिक आचारों में कई ऐसी कुरीतियाँ भी प्रविष्ट हो जाती हैं जिनका वेद आदि शस्त्रों से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता।

तथागत बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् बौद्ध धर्म की जिस शाखा का सबसे अधिक प्रचार हुआ, वह हीनयान कहलाती है। हीनयान के समय तक बुद्ध की प्रतिमा नहीं बनी थी। केवल बुद्ध के धर्मचक्रप्रवर्तन का चिह्न या भिक्षापात्र या बोधि-वृक्ष और चैत्य आदि चिह्न ही उत्कीर्ण होते थे। परन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी में जब महायान का जन्म हुआ तब बुद्ध की मानव-आकृति की प्रतिमाएँ भी पूजित होने लगीं। तभी यक्ष, किन्नर और गन्धर्व आदि अर्धदेवों की संख्या बढ़ी और विपुल मात्रा में धार्मिक विधिविधानों का भी श्रीगणेश हुआ। उसके बाद धर्म-सम्बन्धी उलझी क्रियाओं को लेकर तरह-तरह के प्रयोग करने की प्रतिक्रिया चली और तब रहस्यमय मन्त्रयान आया। इस मन्त्रयान में हठयोग, गुरुमन्त्र और मैथुन का प्रचलन बढ़ा।

मन्त्रयान के पश्चात् ईसा की सातवीं शताब्दी में उड़ीसा का श्रीपर्वत, वज्रयानियों का केन्द्र बना। वज्रयान के सिद्धों ने खुले आम स्त्रीप्रसंग को धर्म का अंग बनाया। उसके बाद तन्त्रयान, चौरासी सिद्ध, सहजयान और उसके बाद नाथ-सम्प्रदाय के कनफाड़े साधुओं का प्राबल्य हो चला। उसी युग में जगन्नाथपुरी और खजुराहो आदि के मन्दिरों में कामुकता-पूर्ण यौन चित्रण हुआ। इन मन्दिरों पर स्पष्ट रूप से वज्रयानियों की छाप है। शाक्तमत भी वज्रयान का ही समकालीन है। यौन चित्रण के जितने भी पौराणिक मन्दिर हैं, उनमें से कोई भी छठी शताब्दी के पूर्व का नहीं है। आज का हिन्दू समाज महात्मा बुद्ध के पश्चात् संघर्षमय राजनैतिक परिस्थिति के कारण कश्यप की तरह सिकुड़ जाने वाली व्यापक प्रवृत्ति का प्रतीक बना। उसी युग में शाक्त, शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने जन्म लिया, लोगों ने अपने अलग इष्टदेव बनाए, अपने-अपने इष्टदेव को देवताओं से बड़ा बताया और अन्यों के इष्टदेवों को अपने इष्टदेव का अनुचर और किंकर बताया। समस्त पुराण इन्हीं विविध सम्प्रदायों को वैचारिक पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। तभी मूर्ति-पूजा का अमित विस्तार हुआ। अन्धविश्वासों और पाषाणप्रतिमा को ईश्वर मान-

कर अपना भाग्य और भविष्य देवता के हाथ समर्पित कर देने की परम्परा चली। एक तरह से इन मत-मतान्तरों ने हिन्दू समाज को इतना बिखेर दिया कि इकबाल का यह पद पूरा चरितार्थ होने लगा—

सच कह दूँ ए बिरहमन, गर तू बुरा न माने
अपनों से बैर रखना, तूने बुतों से सीखा।

उसके बाद, अब से लगभग पाँच सौ वर्ष पहले, सारे देश में इन मत-मतान्तारों की प्रतिक्रिया-स्वरूप भक्ति-काल के सन्त आए। यह भक्ति-काल देश में उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक फैल गया। हरेक प्रान्त में ऐसे-ऐसे सन्त भक्त हुए जो मानवमात्र की समता के समर्थक थे; शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान को अनावश्यक समझते थे और केवल भक्ति से ही मोक्ष मानते थे। ये सन्त प्रायः कवि भी थे और हरेक ने अपने-अपने प्रदेश की भाषा में, लोकभाषा में कविता के माध्यम से भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति की लहर दक्षिण भारत से चली और महाराष्ट्र तथा गुजरात होती हुई उत्तर भारत तक पहुँच गई। इस भक्ति-काल में सबसे बड़े देवता केवल दो ही रह गए —एक श्रीराम और एक श्रीकृष्ण। भक्ति-काल की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ सम्प्रदायों के आचार्य दक्षिण भारत के सन्त रहे वहाँ अवतार का स्थान राम और कृष्ण जैसे उत्तर भारत में जन्म लेने वाले महापुरुषों ने ग्रहण किया।

इसी धार्मिक और राजनैतिक उथल-पुथल में हिन्दू समाज में नई-नई स्मृतियाँ और नये ग्रन्थ बने और विदेशियों तथा विधर्मियों के सम्पर्क से हिन्दू समाज ने कई कुरीतियाँ पाल लीं। इस युग में बनने वाले शास्त्रों ने इन कुरीतियों का समर्थन प्रारम्भ कर दिया। सती-प्रथा हमने शकों से सीखी, कन्याओं का वध अरबों से सीखा, कला में अश्लीलता यूनानियों से सीखी; बाल-विवाह मुगल-काल की देन है और छुआछात तथा समुद्र-यात्रा को पाप बताना हिन्दू समाज द्वारा अपने अस्तित्व की और पवित्रता की रक्षा के लिए, विदेशियों और विधर्मियों के सम्पर्क से अपने बचाव के लिए समाज के चारों ओर खींची गई एक रक्षा-प्राचीर बनी। विभिन्न समयों में उपजी ये कुरीतियाँ आधुनिक हिन्दू समाज का अंग बन गईं। जिस सती-प्रथा के सम्बन्ध में इस समय देश में आक्रोश फैला हुआ है, उस प्रथा का समर्थन वेद या मनु-स्मृति में तो कहीं है नहीं। परन्तु जिन तथाकथित धार्मिक ग्रन्थों में सती-दाह का समर्थन किया गया है, वे इस प्रकार गिनाए जा सकते हैं—व्यासस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति और उसकी मिताक्षरा टीका, अपरार्क, मदन पारिजात, बृहत् संहिता, शुद्धि तत्त्व, पराशर, ब्रह्म पुराण, गौतमी महात्मीय, स्मृति मुक्ताफल, पराशर-माधवी, विष्णु धर्म सूत्र, आपस्तम्भ, धर्म-सिन्धु, निर्णय-सिन्धु, शंख लिखित स्मृति, अंगिरा, बृहस्पति स्मृति और बृहन्नारदीय पुराण। इनमें से कोई भी ग्रन्थ प्राचीन नहीं है। ये सब ग्रन्थ प्रायः मुगल-काल की रचनाएँ हैं।

ऋषि दयानन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने धार्मिक आचार-विचार के सम्बन्ध में केवल वेद को ही स्वतःप्रमाण माना, और अन्य सब ग्रन्थों को परतःप्रमाण, अर्थात् वेद से भिन्न जितने भी ग्रन्थ हैं उनकी वही बात मान्य हो सकती है जो वेद के प्रतिकूल न हो। जितने वेदविरुद्ध ग्रन्थ हैं वे सब अप्रामाणिक हैं। ऋषि दयानन्द की विशेषता यह भी है कि हिन्दू समाज के धर्माचार्य वेदों को बिना पढ़े वेद के नाम से इन कुरीतियों का समर्थन करते थे जो कुरीतियाँ केवल हमारे इतिहास के काल-विशेष की देन हैं, जबकि ऋषि दयानन्द ने स्वयं वेदों को पढ़कर, वेदों के प्रमाणों के आधार पर, इन सब कुरीतियों का खण्डन किया। अन्य समाजसुधारक शायद पाश्चात्य विचारों मे प्रभावित होकर हिन्दू समाज में फैली इन कुरीतियों का खण्डन करते होंगे, परन्तु ऋषि दयानन्द पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने केवल वेदों से ही इन समस्त कुरीतियों के जबरदस्त खण्डन का आधार वेद को ही बनाया है।

ऋषि दयानन्द की यह विशेषता जहाँ उनको समाज-सुधारकों में अग्रगण्य सिद्ध करती है, वहाँ भारतीय समाज को एक ऐसी दृढ़ चट्टान का आधार प्रदान करती है, जिस पर स्वस्थ समाज का और कुरीति-मुक्त राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। अब यह समस्त देशवासियों को सोचना है कि वे समाज में विकृतियाँ पैदा करने वाली कुरीतियों के समर्थक पुरी के शंकराचार्य की बात सुनें या ऋषि दयानन्द और उनके अनुयायियों की बात सुनें।

('आर्यजगत्' का २९ नवम्बर १९८७ का सम्पादकीय)

इतिहास की गंगा का प्रदूषण

इस भूमण्डल के निवासियों की अपने पर्यावरण के प्रति जो जागरूकता इन पिछले दिनों में उत्पन्न हुई है उसी का परिणाम है कि २२ अप्रैल १९९० का दिन सारे संसार में 'पृथिवी पर्यावरण दिवस' के रूप में मनाया गया। पर्यावरण के प्रति यह चिन्ता स्वयं मनुष्य-जाति के वर्तमान और भावी जीवन की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वनों, ग्रामों और उन्मुक्त प्राकृतिक वातावरण में बसी छोटी बस्तियों के उजड़ने और महानगरीय औद्योगिक संस्कृति के पनपने का यह परिणाम अवश्यम्भावी था। अभी कुछ वर्ष पहले तक भारत के कलकत्ता और बम्बई नगरी जैसे महानगरों की अपेक्षा राजधानी दिल्ली का पर्यावरण काफी ठीक था। परन्तु जब से यहाँ आबादी की संख्या और पैट्रोल-चालित वाहनों की संख्या बेतहाशा बढ़ने लगी है, तब से यहाँ का वातावरण भी लगातार प्रदूषित होता जा रहा है— इस हद तक कि अब दिल्ली के हरेक निवासी को न चाहते हुए भी कम-से-कम तीन सिगरेटों जितना प्रदूषित धुआँ साँस के द्वारा प्रतिदिन अपने अन्दर ग्रहण करना पड़ता है।

औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ बड़े-बड़े कारखानों से निकलने वाले विषाक्त उच्छेष ज्यों-ज्यों नदियों में गिरते हैं त्यों-त्यों उनका पानी भी विषैला होता जाता है। पिछले दिनों गंगा को प्रदूषण-मुक्त करने के लिए काफी बड़ी राशि खर्च करके जो आन्दोलन चलाया गया, उसका यह परिणाम अवश्य हुआ कि वाराणसी, कानपुर, हरिद्वार और ऋषिकेश में गंगा का पानी अब उतना प्रदूषित नहीं रहा। परन्तु यमुना के प्रदूषण की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इस बात को दिल्लीवासी बखूबी जानते हैं। कुछ धर्मध्वजियों ने पिछले दिनों यमुना को प्रदूषण-मुक्त करने के लिए कई मन दूध यमुना मैया की धारा में बहाया था। परन्तु मैया के आँचल को प्रदूषण-मुक्त करने का यह कोई तरीका नहीं है। असली तरीका केवल एक है और वह यह है कि जितने गन्दे नाले यमुना में गिरते हैं उनका वहाँ गिरना रोका जाए। बिना उसको रोके दूध बहाने से कुछ होने वाला नहीं।

परन्तु आज हम इस प्रदूषण के बजाय इतिहास की गंगा के प्रदूषण की चर्चा करना चाहते हैं। निहितस्वार्थ लोगों में इस इतिहास की गंगा को जिस सीमा तक प्रदूषित कर दिया है, उसका परिणाम यह है कि सारी वर्तमान पीढ़ी मानसिक

प्रदूषण से परेशान है। यह प्रवृत्ति विदेशी शासकों से प्रारम्भ हुई और अंग्रेजों ने जान-बूझकर भारतवासियों को दिमागी गुलाम बनाने के लिए इतिहास में कुछ ऐसी भ्रान्त धारणाएँ प्रस्तुत कर दीं जिनका कोई प्रामाणिक आधार नहीं था और जो केवल कपोलकल्पित थीं। आज देशभर के सब स्कूलों में (आर्यसमाजी स्कूलों में भी) इसी प्रदूषित इतिहास की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। एक ही गलत बात को जब बार-बार दोहराया जाता है तो उसको सही समझने की धारणा तो पैदा होगी ही। उदाहरण के लिए हमारे अंग्रेज आकाओं ने हमको यह पढ़ाया कि आर्य लोग इस देश में बाहर से आए और उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को हराकर जंगलों में खदेड़ दिया। इसीलिए भारत के उन जंगली लोगों के लिए 'आदिवासी' शब्द घड़ा गया और आज सारे भारत में वही शब्द प्रचलित है। ईरान के लोग तो अपने स्कूलों में पढ़ाते हैं कि आर्य लोग भारत से हमारे देश में आए, और हमारे स्कूलों में पढ़ाया जाता है कि ईरान और मध्य एशिया से आर्य भारत में आए। कोई उनसे पूछे कि ईरान और मध्य एशिया में आर्य कहाँ से आए तो उसका किसी के पास कोई उत्तर नहीं है।

इसी तरह मोएन-जो-दड़ो की संस्कृति को अनार्य संस्कृति कहा गया और आर्यों द्वारा उसको नष्ट किये जाने की बात कही गई। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में उस समय के भारतीयों को जंगली और असभ्य सिद्ध करने के लिए न जाने क्या-क्या ऊटपटाँग बातें कही गईं। आश्चर्य की बात यही है कि भारतवर्ष के इस इतिहास के सम्बन्ध में फैसला वे लोग करते हैं जो गैर-भारतीय हैं और स्वयं भारतवर्ष के प्राचीन वाङ्मय से, अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों से, पुरातत्त्व की खोजों से और भारतीयों द्वारा लिखे गए इतिहास से उसके बारे में कुछ नहीं पूछा जाता। इसी शिक्षा से दीक्षित अब इतिहासकारों की एक ऐसी पीढ़ी पैदा हो गई है जो स्वयं भारतीय इतिहास की गंगा को पूरी तरह प्रदूषित करने में लगी हुई है। सबसे अधिक दुःख की बात यह है कि इस समय भारत के भाग्य का निर्णय करने वाले उच्च पदों पर ऐसे ही प्रदूषण फैलाने वाले, और गलत को सही सिद्ध करने में अपने दिमाग की चर्बी खपा देने वाले महापुरुष आसीन हैं। वे ही प्रामाणिक माने जाते हैं और आम जनता से मनवाये जाते हैं।

एक उदाहरण लीजिए—इसी ५ अप्रैल को 'ऐतिहासिक अनुसंधान भारतीय परिषद्' के अध्यक्ष प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता माने जाने वाले प्रो० इरफान हबीब ने 'भारत में तकनीकी का इतिहास' विषय पर बोलते हुए कहा कि भारत ने जो उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं की थीं, उनको भी प्राप्त करने की प्रवृत्ति बहुत गलत है। भारत में इस वृत्ति को भी छोड़ा जाना चाहिए कि जो यहाँ आदिम युग की बातें प्रचलित हैं, उनको स्मरणातीत काल से चली आती परम्पराओं का अंग मान लिया जाता है। उन्होंने उदाहरण देते हुए कहा कि भारत में चर्खा भले ही स्वदेशी-

आन्दोलन का प्रतीक रहा हो, परन्तु वह विदेशों का आविष्कार है और भारत में बाहर से आया है। हम अपने अतीत काल को जो स्वर्ण-युग कहकर सम्बोधित करते हैं वह भी इतिहास के सर्वथा विरुद्ध है। चीनी, यूनानी और रोमन नागरिकों की अपेक्षा हमारे देश में ज्ञान की प्यास नगण्य थी। इसीलिए यहाँ तकनीक का विकास नहीं हुआ। और तो और, पहिया, हल और बैलगाड़ी भी इस देश में बाहर से आए हैं। उन्होंने यह भी कहा कि विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत में विजय प्राप्त करके यहाँ तकनीकी के विकास में अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया। उदाहरण के लिए सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो भूमध्य-सागरीय देशों की तकनीक भारत में आई और जब मुहम्मद गौरी ने भारत को पराजित किया तो यहाँ रहट (परशियन व्हील) और सूत कातने वाला चर्खा भी यहाँ आया। इसके साथ ही कागज बनाने और गुम्बद तथा मेहराब बनाने और रेशम के कीड़े पालने की विधा यहाँ आई।

इतिहास के विद्वान् माने जाने वाले इन प्रोफेसर साहब को यह बताने की आवश्यकता नहीं थी कि भारत में सिकन्दर का आक्रमण ईसा से लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पहले हुआ था और मुहम्मद गौरी का आक्रमण १२०० ईसवी के आस-पास हुआ था। उससे पहले भारत का जितना प्राचीन साहित्य है उसमें पहिए का वर्णन भी है, हल का वर्णन भी है, बैलगाड़ी का वर्णन भी है और कपास का वर्णन भी है। विदेशी लोग तो इस बात पर चकित होते थे कि भारत में एक ऐसा पौधा होता है जिस पर कपास होती है। बिना देखे उनको विश्वास नहीं होता था। यदि प्रोफेसर साहब ने भारत के प्राचीन ग्रन्थों का कुछ भी अध्ययन किया होता तो उनको यह कहने की हिम्मत नहीं होती कि भारत में पहिया विदेश से आया है। क्या वेद में रथ का वर्णन नहीं आता ? क्या रथ बिना पहिए के बनता है ? क्या वेद सिकन्दर से पहले विद्यमान नहीं थे ? इतना ही क्यों, वेद में तो जलपोत और विमान का तथा अन्य अनेक ऐसे आविष्कारों का वर्णन भी है, जो अभी तक संसार में विद्यमान नहीं हैं। क्या श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम को हलधर नहीं कहा जाता ? क्या वे सिकन्दर के बाद पैदा हुए हैं ? और जिस रहट (परशियन व्हील) की बात वे करते हैं कि वह मुहम्मद गौरी के साथ इस देश में आया, तो हम पूछना चाहते हैं कि क्या हितोपदेश और पंचतन्त्र में अरघट्ट का वर्णन नहीं आता ? अरघट्ट यह रहट नहीं तो और क्या है ? क्या हितोपदेश और पंचतन्त्र मुहम्मद-गौरी के बाद लिखे गए हैं ? आज तक किसी इतिहासकार ने न तो वेदों को सिकन्दर के बाद निर्मित माना है और न ही हितोपदेश तथा पंचतन्त्र जैसे बहुत बाद के ग्रन्थों को भी मुहम्मद गौरी के बाद रचित माना है। जब इस देश में कपास भी थी और चक्र भी था तो चर्खा विदेश से आने की तुक समझ में नहीं आती। विदेश के लोग तो कपास से परिचित तक नहीं थे।

यह ठीक है कि जब विदेशों से सम्पर्क होता है तो आपस में विचारों और तकनीक का लेन-देन भी होता है। कुछ विदेशी हमसे सीखते हैं, कुछ हम विदेशियों से सीखते हैं। हम मिथ्या अहं की बातों से भारतीय गौरव की कहानियाँ घड़ने के पक्षधर नहीं हैं, परन्तु इस प्रकार की इतिहास की अनर्गल बातों से भारत की अस्मिता पर होने वाले प्रहार को सहने के पक्षधर भी नहीं हैं। भौतिक गंगा का प्रदूषण शायद करोड़ों रुपए खर्च करके कुछ दूर हो भी जाए, परन्तु इतिहास की गंगा के प्रदूषण को दूर करने के लिए हमें ऐसे प्रदूषित दिमागों को साफ करना होगा जो मिथ्या धारणाओं के बल पर इतिहास की इस गंगा को निरन्तर प्रदूषित करते चले आ रहे हैं।

('आर्यजगत्' २९ अप्रैल १९९० का सम्पादकीय)

इस्लाम अपने ही आईने में

अभी 'सेटेनिक वर्सिज' नामक पुस्तक लिखने के लिए सलमान रशदी की हत्या के फरमान की चर्चा ठण्डी भी नहीं पड़ी थी कि हत्या का एक और फरमान सामने आ गया है। मिस्र में ही नहीं, समस्त अरब देशों में आज तक जिस प्रथम व्यक्ति को विश्वविख्यात नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ है उस नगीब महफूब की भी हत्या का फरमान जारी हो गया है। नगीब ने अब से ३० साल पहले जो लेखमाला लिखी थी और जो मिस्र के सबसे लोकप्रिय पत्र 'अलअहराम' में छपी थी, उसको इस्लाम के विरुद्ध माना गया है और इस्लामी अध्ययन-केन्द्र के प्रमुख ने उस लेखमाला के कारण नगीब की हत्या का फरमान जारी कर दिया है। यह भी याद रखने की बात है कि इस्लामी अध्ययन-केन्द्र के जिस कठमुल्ला अधिकारी ने अब यह फरमान जारी किया है उस व्यक्ति ने मिस्र के पूर्व-राष्ट्रपति अनवर सादात की हत्या का भी ऐलान किया था। सादात की हत्या के पश्चात् उस प्रमुख व्यक्ति पर अदालत में दो बार हत्या के लिए भड़काने का केस चला, परन्तु अदालत ने दोनों बार उसे बरी कर दिया।

अब ताजा समाचार यह है कि चीन में 'सैक्सुअल कस्टम्स' नामक एक पुस्तक पर पाबन्दी लगाई गई है। सरकार ने इस पुस्तक को इस्लाम की बदनामी करने वाली करार दिया है और पुस्तक के लेखक व प्रकाशक से सार्वजनिक रूप से माफी माँगने के लिए कहा गया है। चीन की राजधानी पेइचिंग की सड़कों पर तीन हजार मुस्लिम छात्रों ने जुलूस निकालकर इस किताब पर पाबन्दी लगाने की माँग की थी और ये नारे लगाए थे—"चीन के सलमान रशदी को कड़ी सज़ा दो!" इस पुस्तक में संसार-भर के लोगों की काम-प्रवृत्तियों का संग्रह किया गया है और इसी सिलसिले में इस्लामिक वास्तुकला की भी चर्चा है। सरकार ने आदेश दिया है कि किताब की सभी प्रतियाँ जब्त करके नष्ट कर दी जाएँ और लेखक को दण्डित किया जाए। चीन की संवाद-समिति के अनुसार गत सप्ताह इस पुस्तक की लगभग ९५,००० पुस्तकें नष्ट कर दी गईं। एक हजार लोगों का एक विशेष कार्यकारी दल तैयार किया गया जो सब स्थानों पर इस पुस्तक की छपाई गई प्रतियों की तलाशी लेगा ताकि उनको जब्त करके नष्ट किया जा सके। इस प्रदर्शन के पश्चात्, खबर यह भी है, कि ईरान के राष्ट्रपति सैयद अली खुमैनी ने चीन का दौरा किया और चीन के मुस्लिम छात्रों को अपना आशीर्वाद दिया।

सभी सामी मजहब धार्मिक असहिष्णुता की दृष्टि से एक-से-एक बढ़कर हैं। परन्तु इस्लाम उनमें सबसे अग्रणी है। इस्लाम की इस असहिष्णुता का जितना प्रत्यक्ष परिचय आधुनिक इतिहास में आर्यसमाज को है, उतना सम्भवतया अन्य किसी समुदाय को नहीं होगा। तर्क और बुद्धि के विरुद्ध मान्यताओं तथा अन्ध-विश्वासों का खण्डन करने के लिए आर्यसमाज आरम्भ से ही शास्त्रार्थ का रास्ता अपनाता रहा है। परन्तु जो शास्त्रार्थों में विजय नहीं पा सकते वे शास्त्रार्थ को छोड़कर शस्त्रार्थ पर उतर आते हैं। एक जमाना था जब आर्यसमाज के शास्त्रार्थों की धूम थी और आर्यसमाज के छोटे-छोटे बच्चे भी विधर्मियों को शास्त्रार्थ की चुनौती देने में नहीं हिचकते थे और विधर्मी उस चुनौती के सामने दुम दबाकर भागने में ही अपना कल्याण समझते थे। उसके बाद से ही मुसलमानों ने इस बात पर जोर देना आरम्भ कर दिया कि मजहब के मामले में हमको अक्ल का दखल स्वीकार नहीं। सम्भवतया इस्लाम के अनुयायी अपनी इस प्रवृत्ति पर मन-ही-मन गर्व अनुभव करते हों, परन्तु यह उनके मजहब की सबसे बड़ी कमजोर कड़ी है। इसीलिए इस्लाम बुद्धिजीवी मात्र से घबराता है। ऊपर जिन पुस्तकों का जिक्र हमने किया है उन सबके लेखक स्वयं इस्लाम के अनुयायी हैं। परन्तु इस्लाम का कठमुल्लापन अपने हम-मजहब बुद्धिजीवियों की विचार-स्वतन्त्रता को सहने को तैयार नहीं। हम नहीं जानते कि इस्लाम के लिए यह गर्व की बात है या शर्म से डूब मरने की बात है।

बुद्धिजीवियों की दृष्टि में इस्लाम का रूप कितना कुरूप है या कितना सुरूप है, इसके लिए जब वे अपने हम-मजहब लोगों के सामने एक आईना पेश करते हैं तब उस आईने में अपनी शक्ल देखकर बदनुमा दागों को साफ करने के बजाय वे उस आईने को ही तोड़ डालना चाहते हैं। बेचारे आईने का क्या कुसूर है? वह तो जिसकी शक्ल जैसी है वैसी-की-वैसी ही सही रूप में पेश कर देता है। इस्लाम की यह शक्ल कितनी 'सुन्दर' है, इसके लिए आबू धाबी के 'खलीज टाइम्स' ने खबर दी है कि एक १५-वर्षीय भारतीय किशोरी ने अपने ७०-वर्षीय तेल-पति पति शेख के अत्याचारों से तंग आकर आत्महत्या कर ली है। पति-पत्नी की उम्र में जितना अन्तर है उससे यह तो साफ ही है कि इस तथाकथित विवाह के पीछे इस किशोरी की रजामन्दी नहीं रही होगी। परन्तु उस शेख को अपने से पाँच गुनी कम उम्र वाली लड़की से और उसके माँ-बाप की तंगदस्ती और गरीबी से नाजायज फायदा उठाने में कोई बुराई प्रतीत नहीं हुई, क्योंकि इस्लाम में इससे पूर्व ऐसे उदाहरण मौजूद हैं। अरब देशों के शेख अपने पैसे के बल पर भारत के गरीब मुसलमानों की कन्याओं को अपनी हविस का शिकार बनाते हैं और उन लड़कियों का यौवन जब उतर जाता है तब उनके स्थान पर किसी और नई किशोरी को लाकर उनको गुलाम बनाकर रखा जाता है। भारत से इस प्रकार कितनी लड़कियों का आयात

किया जाता है, इसकी कोई गिनती नहीं है। परन्तु उन शेखों के दलाल आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु के मुस्लिम-बहुल इलाकों में गरीब लड़कियों के माँ-बाप को चन्द टकों का प्रलोभन देकर, और उनकी बेटियों को इन अमीरों के घरों के ऐश के स्वप्न दिखाकर, स्वर्ग के बहाने से फुसलाकर नरककुण्ड में झोंक देने में कोई परेशानी नहीं होती।

औरतों की यह दुर्गति केवल अरब देशों में ही नहीं, अपितु पश्चिमी एशियाई देशों में भी है। अपवाद-स्वरूप इराक और मिस्र को छोड़कर किसी भी मुस्लिम देश में महिलाओं को पुरुषों के साथ समानता का दर्जा नहीं दिया जाता। इन मुस्लिम देशों में सभी जगह पुरुषों को बहुविवाह की छूट है और ज़बान से तीन बार तलाक शब्द का उच्चारण करके तलाक देने की भी पूरी छूट है। इन अरब देशों में इस्लाम ने महिलाओं को कितनी स्वतन्त्रता दी है उसका अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि पाकिस्तान की प्रधानमन्त्री श्रीमती बेनजीर भुट्टो जब सऊदी अरब की यात्रा पर गईं तो उन्हें भी इस्लामी ढंग से चादर ओढ़नी पड़ी। इस मामले में ईरान के खुमैनी तो इतने तेज हैं कि उन्होंने अपनी बदगुमानी में तुर्की को यह धमकी तक दे रखी है कि यदि वह विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाली अपने यहाँ की छात्राओं को इस्लामी ढंग से कपड़े पहनने को बाध्य नहीं करेगा तो ईरान तुर्की में बगावत करवा देगा। बम्बई के कितने तस्कर और कितनी सिने-तारिकाएँ न जाने किस-किस रूप में इन खाड़ी देशों के शेखों के साथ जुड़ी हुई हैं, वह सब तो एक जासूसी उपन्यास का विषय है।

हाल में ही अरब के इन शेखों का एक और बदनुमा कारनामा सामने आया है। अपने पैसे के बल पर ये शेख राजस्थान के बाड़मेर और जैसलमेर जैसे भयंकर रेगिस्तानी और सूखाग्रस्त इलाकों से किशोरावस्था के सुन्दर लड़कों को मुहमाँगी कीमत देकर खरीद लेते हैं। अपने यहाँ जाकर उनका अप्राकृतिक उपयोग करते हैं और जब उनकी किशोरावस्था का आकर्षण समाप्त हो जाता है तो उनको ऊँटों के पीछे रस्सी से बाँधकर ऊँटों की दौड़ करवाई जाती है जिनसे अन्त में वे भारतीय बच्चे घिसटते-घिसटते अपने प्राण दे देते हैं। इस बीभत्स काण्ड में प्रसन्नता और आनन्द अनुभव करने वाले ये शेख कौन-से इस्लाम की तस्वीर संसार के सामने पेश करना चाहते हैं? इस्लाम की बात छोड़ो, इसे इन्सानियत भी कौन कहेगा? यह सीधी हैवानियत है। बल्कि हम तो यहाँ तक कहेंगे कि ऐसी हरकतों को देखकर हैवान भी ऐसी इन्सानियत पर थूकेंगे।

अरब और खाड़ी देशों में केवल भारतीय लड़कियों की ही नहीं, बल्कि भारतीय मजदूरों की भी जैसी दुर्दशा होती है, उसकी कथा प्रायः अखबारों के माध्यम से सामने आती रहती है। स्वयं इस प्रश्न पर कई बार भारत सरकार का ध्यान भी खींचा गया है। परन्तु हमारी सरकार ऐसी अन्धी अरबपरस्ती की नीति

की शिकार है कि वह किसी भी कीमत पर इस डर से कोई कार्यवाही नहीं करना चाहती कि कहीं ये अरब देश हमसे नाराज न हो जाएँ। हमारी विदेश नीति भी जिस प्रकार मुस्लिम कठमुल्लाओं के घरेलू दबावों की शिकार है, उसको समस्त देशवासी बखूबी पहचानते हैं।

हत्याओं के फरमान जारी करने के बजाय इस्लाम के अनुयायी स्वयं अपने ही आईने में अपनी शक्ल देखें और उसके यथार्थ को स्वीकार करें तो उनका भी कल्याण हो और मानव-जाति का भी कल्याण हो। गुस्से में आकर आईने को तोड़ने की हरकत को कौन समझदारी कहेगा !

('आर्य जगत्' में २१ मई १९८९ का सम्पादकीय)

अल्पसंख्यकों की समस्या

अल्पसंख्यकों की समस्या की ओर सबसे पहले संसार का ध्यान तब गया जब यूरोप में राष्ट्रराज्यों का निर्माण हो चुका था। ऐसे राष्ट्रराज्यों में कई ऐसे नस्ली, भाषायी और मजहबी समुदाय रह गए जिनकी नस्ल, मजहब और भाषा उन राज्यों के राष्ट्रीय समाज से भिन्न थी। जब वे अपने प्रति भेदभाव की शिकायत करने लगे और कहीं-कहीं हिंसात्मक विद्रोह भी हुए, तब पहले राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) को, उसके बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ (यू० एन० ओ०) को भी इस समस्या की ओर ध्यान देना पड़ा। मानवाधिकार के लिए बनी एक उपसमिति ने १९६० में अल्पसंख्यकों की परिभाषा करते हुए यह भी कहा कि किसी भी समुदाय को अल्पसंख्यक मानने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी संख्या पर्याप्त हो और उनके सदस्य उस राष्ट्रराज्य के प्रति, जिसमें वे रहते हैं, वफादार हों। संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसे वफादार अल्पसंख्यकों को बिना भेदभाव किये समान कानूनी और मानवीय अधिकार देने के पक्ष में है।

अल्पसंख्यकों की पर्याप्त संख्या से क्या अभिप्राय लिया जाए, इसका भी फैसला अल्पसंख्यक आयोग ने ही कर दिया। आयोग का कहना था कि यह संख्या ३० प्रतिशत होनी चाहिए। अखण्ड भारत में लगभग २० प्रतिशत मुसलमान और ·५ प्रतिशत ईसाई अल्पसंख्यक थे। अधिकांश मुसलमानों और ईसाइयों के पूर्वज हिन्दू ही थे, इसलिए उनकी भाषा और नस्ल भी वही थी जो इस देश के राष्ट्रीय समाज की थी। परन्तु केवल मजहब अलग होने के कारण उन्होंने अलग देश की माँग की और १९४७ में इसी आधार पर देश का विभाजन हो गया। खण्डित भारत में जितने मुसलमान रह गए थे लगभग उतने ही हिन्दू तब पाकिस्तान में रह गए थे। पश्चिमी पाकिस्तान की जनसंख्या में उनका अनुपात तब २३ प्रतिशत था और पूर्वी पाकिस्तान में ३० प्रतिशत, परन्तु गत ४० वर्षों में स्थिति में बहुत परिवर्तन आ गया है।

पश्चिमी पाकिस्तान से अधिकांश हिन्दुओं को निकाल दिया गया है या बलात् मुसलमान बना लिया गया है। अब पाकिस्तान की कुल जनसंख्या में हिन्दू मुश्किल से १ प्रतिशत होंगे। ईसाई अल्पसंख्यकों की संख्या उनसे कहीं अधिक है। पाकिस्तान में सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय यदि कोई है तो वह अहमदिया है। सभी अहमदी अपने-आपको कट्टर मुसलमान ही मानते हैं, परन्तु पाकिस्तान की

सरकार उनको मुसलमान मानने को तैयार नहीं; क्योंकि वे हजरत मुहम्मद साहब को आखरी पैगम्बर नहीं मानते, इसलिए उन्हें गैर-मुस्लिम घोषित कर दिया गया है। पाकिस्तान में उनकी संख्या ५ प्रतिशत से अधिक है।

पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों को दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाता है। उन्हें न नए पूजा-स्थल बनाने का अधिकार है और न ही पुराने पूजास्थलों की मरम्मत का। पाकिस्तान में हजारों मन्दिर और गुरुद्वारे अपवित्र कर दिये गए हैं। वहाँ अल्पसंख्यकों को शरीयत के अनुसार मुसलमानों के साथ बराबरी के आधार पर रहने का अधिकार नहीं है। दासों से भी गई-गुजरी स्थिति से बचने के लिए बहुत-से अल्पसंख्यक धीरे-धीरे मुसलमान बनते जा रहे हैं।

अन्य इस्लामी देशों में हालत इससे भी बुरी है। वहाँ हिन्दू न तो अपना मन्दिर बना सकते हैं, न अपने घर और दुकान में किसी देवता की तस्वीर रख सकते हैं; न किसी मृतक का दाह-संस्कार कर सकते हैं और न कोई अपनी धार्मिक पुस्तक पढ़ सकते हैं। इन इस्लामी देशों में किसी मुसलमान को ईसाई, बौद्ध या हिन्दू बनने की अनुमति नहीं है। ऐसा करना दण्डनीय अपराध है। परन्तु वहाँ रहने वाले गैर-मुसलमानों को मुसलमान बनाने का पूरा प्रयत्न किया जाता है। एक बार मुसलमान बन जाने के पश्चात् यदि वह वापस अपने पुराने धर्म में जाना चाहे तो उसे मृत्युदण्ड का विधान है।

ईसाई और कम्यूनिस्ट देशों में अल्पसंख्यकों की स्थिति इससे बेहतर है। वहाँ उनके साथ किसी प्रकार का कोई कानूनी भेदभाव नहीं बरता जाता। उन्हें अपने ढंग से जीने और अपने ढंग से उपासना करने का अधिकार है। परन्तु वे उन देशों में रहते हुए अपनी शरीयत के मुताबिक न चार पत्नियाँ रख सकते हैं और न ही तीन बार तलाक कहकर अपनी पत्नी को घर से निकाल सकते हैं। उनको स्थानीय कानूनों का पूरी तरह पालन करना पड़ता है। इन देशों में इन अल्पसंख्यकों को राष्ट्रीय धारा में लाने का विशेष प्रयत्न किया जाता है। इन देशों के मुसलमान उन्हीं देशों की भाषा, नाम और संस्कृति अपनाते हैं। कम्युनिस्ट देशों ने अपने ऐसे सीमावर्ती देशों में, जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक थी, बड़ी संख्या में अपने राष्ट्रीय समाज के लोगों को बसा दिया है, जिससे वहाँ मुसलमानों का बहुमत समाप्त हो जाए। वे लगातार इस बात का ध्यान रखते हैं कि अल्पसंख्यकों की समस्या किसी भी तरह से बढ़ने न पाए। कुछ देशों के उदाहरण देखिए—

७११ ई० में मुसलमानों का शासन स्पेन और पुर्तगाल पर हो गया। परन्तु ४९२ ई० में मुसलमानों की आपसी लड़ाई का लाभ उठाकर ईसाइयों ने उनके हाथों से अपना देश छीन लिया और तब उन्होंने मुसलमानों के अत्याचारों का बदला लेने में कसर नहीं छोड़ी। आदेश दिया गया कि सब मुसलमानों को स्पेनिश भाषा, स्पेनिश पोशाक और स्पेनिश नाम अपनाना होगा। जिन्होंने इस आदेश का

पालन नहीं किया उनको मार दिया गया। कई लाख मुसलमान वहाँ से भाग गए, बाकी ईसाई बन गए। मुस्लिम-बहुल इलाकों को ईसाइयों ने अग्नि के भेंट कर दिया और इस प्रकार वहाँ अल्पसंख्यकों की संख्या का स्थायी समाधान हुआ।

बुल्गारिया की साम्यवादी सरकार ने अपने यहाँ तुर्की और अरबी भाषा पढ़ने पर पाबन्दी लगा दी, कब्रों और मस्जिदों को धराशायी कर दिया, या गोदाम बना दिया। जिन लोगों ने भय या प्रलोभन से इस्लाम ग्रहण कर लिया था वे पुनः पूर्वजों के धर्म में प्रविष्ट हो गए। शेष पड़ोसी देशों में भाग गए या मारे गए।

कम्पूचिया में साम्यवादी सरकार ने कुरान पर पाबन्दी लगा दी। ११४ मस्जिदें गिरा दी गईं। शेष मस्जिदें सूअरों के बाड़ों या खाद के गोदामों में बदल दी गईं। ३००० मुसलमान थाईलैंड होकर मलयेशिया भाग गए। वहाँ केवल ८ प्रतिशत मुसलमान थे, परन्तु वे कम्पूचियाई संस्कृति को न अपनाकर कुरान और अरबी के प्रति आग्रही थे। इसलिए उनको समाप्त कर दिया गया।

चीन में कम्युनिस्ट क्रांति के बाद माओ के आदेश से मुस्लिम-बहुल प्रदेश सिक्यांग की ९ हजार मस्जिदें भूमिसात् कर दी गईं। एक से अधिक विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। सामूहिक हज-यात्रा रोक दी गई और विदेशों से पैसा लाने पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अनेक कब्रिस्तानों को हल चलाकर कृषि-योग्य भूमि में बदल दिया गया। वहाँ स्पष्ट कर दिया गया कि मजहब केवल व्यक्तिगत आचरण का विषय है, इसलिए अपने घर में बैठकर उस पर आचरण करें, परन्तु अपने धर्मवालों का कोई संगठन नहीं बना सकते।

रूस में सन् १९०७ में मस्जिदों की कुल संख्या ७००० थी, परन्तु ४२ में वह संख्या घटकर केवल १३१२ रह गई और अब वहाँ सिर्फ २३ मस्जिदें बची हैं। वहाँ भी एक से अधिक विवाह निषिद्ध है और सारे रूस में केवल एक ही मुस्लिम मदरसा है।

अपने पड़ोसी देश बर्मा का ही उदाहरण लीजिए। वहाँ की राजधानी रंगून में डलहौजी स्ट्रीट पर एक विख्यात पगोडा और एक बड़ी मस्जिद आमने-सामने स्थित थे। जुलाई १९३७ में बौद्धों की शोभायात्रा निकलने वाली थी जिसमें नृत्य-गीत और बैंड की भी व्यवस्था थी। शोभायात्रा से एक दिन पूर्व मुसलमानों ने आपत्ति की कि मस्जिद के सामने से बाजा बजाकर जुलूस नहीं जा सकता। इस-पर बौद्धों ने उनको जवाब दिया—तुम लोग इस देश में अतिथि हो, यदि अपना आचरण ठीक नहीं रखोगे और उपद्रव करोगे तो तुम लोगों को इस देश से बाहर कर दिया जाएगा। इसलिए भविष्य में ऐसी बात अपनी जुबान पर कभी मत लाना! अगले दिन जब मस्जिद के सामने से जुलूस निकला तो अन्दर से ईंट-पत्थर और सोडावाटर की बोतलें फेंकी जाने लगीं और तीन बौद्धों को छुरों से ढेर कर दिया गया। शांतिप्रिय बर्मियों के लिए यह सर्वथा नया अनुभव था। वे भी

हथियार लेकर सड़कों पर निकल आए और ३ घण्टे में ही लगभग ५,००० मुसलमानों को कत्ल कर दिया। उसके बाद प्रधान भिक्षु के आदेश से ९० प्रतिशत मुसलमान ६ महीने के अन्दर-अन्दर बर्मा छोड़कर भारत आ गए। जो १० प्रतिशत मुसलमान बर्मा में बचे, वे मुस्लिम पिता और बर्मी माता की सन्तान थे। परिणामस्वरूप बर्मा के स्वाधीन होते ही सरकारी आदेश के अन्तर्गत वे १० प्रतिशत मुसलमान बौद्ध बन गए।

विभाजन के पश्चात् अब भारत में मुस्लिम अल्पसंख्यकों की संख्या जिस प्रकार भयंकर रूप ग्रहण करती चली जा रही है, उसको देखते हुए देश की एकता के लिए सरकार को अल्पसंख्यकों की समस्या पर फिर से विचार करना चाहिए और उसके लिए यथार्थ और राष्ट्रवादी नीति अपनानी चाहिए।

('आर्य जगत्' ८ अक्तूबर १९८९ का सम्पादकीय)

आरक्षण या जाति-युद्ध

पिछले दिनों हैदराबाद जाने का अवसर मिला। जहाँ ठहरे थे उसके निकट ही हनुमान जी के विशाल मन्दिर को भी देखने का अवसर मिला। प्रातःकाल भ्रमण करते हुए उधर निकल गए तो देखा कि भक्तों की भीड़ नंगे पाँव अपने हाथों में कुछ फूल या फूलमालाएँ लिये विभिन्न दिशाओं से मन्दिर की ओर आ रही है। उत्सुकतावश हम भी देखने चले गए। देखा कि केवल हनुमान जी की ही नहीं, बल्कि अन्य देवी-देवताओं की भी मूर्तियों के छोटे-छोटे मन्दिर भक्तजनों ने शिला-पट्ट पर अपने नाम लिखवाकर बनवा रखे हैं। एक तरफ एक कमरा सन्त कबीर के नाम से भी बना हुआ था जिसमें कोई मूर्ति तो नहीं थी परन्तु कबीर का चित्र रखा हुआ था। हमें आश्चर्य हुआ कि राम और रहीम को एक मानने वाले और मूर्तिपूजा का उद्धार करने वाले रहस्यवादी सन्त कबीर को इस मन्दिर में स्थान क्यों दिया गया ? सम्भवतया किसी कबीरपंथी भक्त का उत्साह रंग लाया हो। परन्तु उससे भी अधिक आश्चर्य हमें सन्तोषी माता का मन्दिर देखकर हुआ। वहाँ जो युवक तिलक लगाए पुजारी के रूप में उपस्थित था और लोगों को चरणामृत तथा देवी का प्रसाद वितरित करता था, उससे यों ही हमने पूछ लिया कि सन्तोषी माता का उल्लेख कौन-से वेद में या किस पुराण में विद्यमान है ?

युवक ने कहा कि सन्तोषी माता का उल्लेख तो किसी भी शास्त्र में नहीं है। हमने कहा कि फिर तो यह कलयुगी देवी है न ? साथ ही यह भी कहा कि ऐसे तो रोज नए देवी-देवता पैदा होते जाएँगे, जैसे कि आजकल नित्य नए भगवान् पैदा होते जा रहे हैं, तो क्या तुम उन सबको भी देवी-देवता के रूप में मन्दिर में प्रतिष्ठित करके पूजा करना प्रारम्भ कर दोगे ? युवक के पास कोई उत्तर नहीं था। वह हमारी ओर देखने लगा। हमने पूछा 'कुछ पढ़े-लिखे हो ?' उसने उत्तर दिया कि 'हाँ, बी० एस-सी० पास हूँ।' फिर हमने पूछा कि 'यहाँ हैदराबाद के रहने वाले हो या कहीं और के ?' उसने कहा 'मैं तमिलनाडु का रहने वाला हूँ।' तब हमने कहा कि 'तुम पढ़े-लिखे हो, फिर भी तुमको तमिलनाडु से यहाँ आना पड़ा, ऐसी तुम्हारे लिए क्या लाचारी थी ?' तब उसने उत्तर दिया—'मैंने ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया, यही मेरा अपराध था। इसलिए अपने प्रदेश में आज मेरे लिए कहीं रोजगार नहीं है। पिता मेरे हैं नहीं। माता बूढ़ी है। उसके पालन-पोषण का उत्तर-दायित्व मेरे ऊपर है। यहाँ आने पर मुझे यह काम मिल गया तो इससे थोड़ा-बहुत

गुजारा चल जाता है।'

हमने पूछा—'क्या तुम्हारे जैसे पढ़े-लिखे और विज्ञान की शिक्षा प्राप्त युवक को इस पाषाण-प्रतिमा के पूजन में कुछ आत्मसन्तोष मिलता है?' उसने निर्भयता-पूर्वक कहा—'कुछ भी कह लीजिए, मन से एक बार जिसको भगवान् मान लिया सो मान लिया, और पेट का भी तो सवाल है। जब और कहीं कोई धन्धा नहीं तो यही सही।'

तब हमने कहा—'मगर सन्तोषी माता तो मुसलमान थी। तुम उसको देवी बनाकर उसकी पूजा कर रहे हो और अन्य लोगों से पूजा करवाते हो, क्या तुम्हें इसका पाप नहीं लगेगा?' वह हतप्रभ होकर मेरे मुँह की ओर देखने लगा और कहने लगा कि आप कहते तो ठीक ही हैं। मैंने भी अपने कुछ आर्यसमाजी मित्रों से यही बात सुनी है। पर मैं और क्या करूँ। मेरी विवशता तो देखिए। मेरे जितने और साथी थे और जो ब्राह्मण-कुल के थे उनकी दुर्दशा मैंने आँखों से देखी है। मेरे तीन इंजीनियर साथी जो बड़े प्रतिभाशाली और होनहार थे, जीविका का कोई भी साधन न मिलने के कारण पागल हो गए। हम ब्राह्मणों को तमिलनाडु के मन्दिरों में भी स्थान नहीं है। किसी और सरकारी सर्विस में भी कोई स्थान नहीं है। आखिर हम कहाँ जाएँ?'

तब मैंने उससे पूछा—'संस्कृत पढ़े हो?' वह बोला—'ब्राह्मण होकर संस्कृत नहीं पढ़ूँगा तो मेरे कुल को कलंक न लग जाएगा?' तब हमने कहा—'महाभारत में कर्ण नाम का एक पात्र है। तुमने अवश्य उसका नाम सुना होगा। जिस तरह का अपमान उसे सहन करना पड़ा था और उसकी जो भीषण प्रतिक्रिया उसके मन में हुई थी, वह भी तुम्हें विदित होगी। परन्तु उसने भरी सभा में एक बात कही थी, वही तुम्हें सुनाता हूँ—उसने कहा था—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तम् कुले जन्म मदायत्तम् तु पौरुषम्॥

—मैं चाहे सूत होऊँ, चाहे सूतपुत्र होऊँ, कोई भी क्यों न होऊँ, मेरा जन्म मेरे हाथ में नहीं था, वह तो दैव के आधीन था, मेरे हाथ में तो मेरा पौरुष है और मैं उसी के भरोसे जीना चाहता हूँ।'

युवक ने जब यह श्लोक सुना तो संस्कृत जानने के कारण वह इसका भाव भी समझ गया और उसकी आँखों में एक नई चमक आ गई। वह कहने लगा कि आपने तो मेरे मन की बात कह दी है। हम भी दया की भीख नहीं माँगते, अपने पौरुष के बल पर जीना चाहते हैं। परन्तु आज ब्राह्मण-कुल में जन्म लेना मेरा सबसे बड़ा अपराध बन गया है। यदि मैंने किसी अवर (छोटे) कुल में जन्म लिया होता तो बी० एस-सी० तक कठिन परिश्रम करके प्रथम श्रेणी प्राप्त करने की योग्यता न होने पर भी मेरे लिए रोजगार सुरक्षित था और मुझे यों दर-दर भटकना न पड़ता।

अपने तीन इंजीनियर साथियों को जब मैंने अपनी आँखों के सामने पागल होते देखा तो मुझे डर लगा कि कहीं मैं भी पागल न हो जाऊँ, और इसीलिए मुझे अपना घर छोड़कर इस प्रदेश में आना पड़ा। मैं नहीं जानता कि भविष्य में मेरे जीवन का और मेरी पढ़ाई-लिखाई का क्या परिणाम होगा। क्या मैं भी कभी किसी तरह देश और जाति के लिए कुछ उपयोगी कार्य कर सकूँगा ?'

यह कहते हुए उसकी आँखें गीली हो गईं, हमारा भी जी भर आया और हम वहाँ से वापस लौट पड़े।

जिस आरक्षण के पक्ष में नई भारत सरकार ने दस वर्ष की अवधि और बढ़ा दी है—और पिछले ४० वर्षों से वह अवधि लगातार बढ़ती ही जा रही है—पर अब तो यह भी कहा जा रहा है कि संविधान में उसकी अवधि की कोई सीमा निर्धारित नहीं की गई है—इसका अर्थ यह हुआ कि वह अवधि अनन्त काल तक के लिए भी बढ़ाई जा सकती है। यह राजनैतिक कलाबाजी ठीक वैसे ही भयंकर गलती है जैसे कि नेहरूजी द्वारा की गई यह घोषणा कि संविधान के द्वारा बेशक हिन्दी को राजभाषा घोषित किया गया है, परन्तु वह तब तक लागू नहीं होगी जब तक कि देश में कोई भी राज्य उसका विरोध करने की स्थिति में होगा। इसका अर्थ यही है न, कि सारा देश एक तरफ और नागालैण्ड-जैसा छोटा-सा राज्य एक तरफ। एक छोटा-सा राज्य भी सारे देश के सम्मिलित निर्णय के विरुद्ध 'वीटो' (निषेधाधिकार) का प्रयोग कर सकता है, अर्थात् न नौ मन तेल होगा और न राधिका नाचेगी। शुरू-शुरू में आरक्षण को आपने एक आवश्यक बुराई समझकर स्वीकार किया था और इसलिए डरते-डरते केवल दस वर्ष के लिए उसकी सीमा निर्धारित की थी। पर अब वही बुराई सुरसा के बदन की तरह लगातार बढ़ती जा रही है और कभी समाप्त होने के लक्षण नहीं हैं। एक बुराई को शुरू में थोड़ा-सा प्रश्रय देने पर किस तरह वह हनुमान जी की पूँछ बनती चली जा रही है, उसका स्पष्ट उदारण है।

हमें आरक्षण से विरोध नहीं है। जो समाज का दुर्बल वर्ग है, उपेक्षित और दलित हैं, सदियों से लांछित होता आया है, उसे आरक्षण का अधिकार है। उसमें कुछ अनुचित नहीं है। सारा अनौचित्य केवल इस बात में है कि उस आरक्षण को जन्म-जाति से जोड़ दिया गया है। आरक्षण के सम्बन्ध में जितने तर्क दिये जाते हैं, उनकी सारी पोल केवल इसी एक बात से खुल जाती है कि एक ओर जन्म की जाति के आधार पर वर्ग-भेद को मिटाकर सामाजिक समता की स्थापना की बात की जाती है और दूसरी ओर उसी जन्म-जाति के अभिशाप को वज्रलेपायित किया जाता है। यह अभिशाप कितनी अधिक आत्महीनता की बात पैदा करता है यह कभी सोचा है ? यह आरक्षण अनुसूचित जन-जातियों को और परिगणित जातियों को मानसिक दृष्टि से पंगु बनाता है। बिना बैसाखी के ये कभी चल नहीं सकेंगे।

हाल में ही उड़ीसा के कैवर्तो ने यह आन्दोलन किया था कि हमको अनुसूचित जाति में न रखा जाए क्योंकि हम चन्द सरकारी नौकरियों के लिए जाति-हीनता की स्थिति को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

हमें लगता है कि हाजी मस्तान ने 'हरिजन मुस्लिम भाई-भाई, हिन्दू कौम कहाँ से आई' का जो नारा लगाया है और कांशीराम ने हाजी मस्तान के प्रच्छन्न सहयोग से तथा चन्द ईसाई पादरियों के सहयोग से जो बहुजन समाज पार्टी बनाई हैं, एवं स्वयंभू नेता शहाबुद्दीन ने इन्साफ पार्टी के नाम से जो यह राजनैतिक खेल खेलना शुरू किया है, शायद उसका मुकाबला करने के लिए भारत सरकार ने आरक्षण को ब्रह्मास्त्र समझा हो। परन्तु यह नीति सारे देश को एक नये जातियुद्ध में झोंक देगी जिसके दुष्परिणाम को हमारे अदूरदर्शी राजनैतिक नेता अभी तक समझ नहीं पा रहे हैं।

('आर्यजगत्' २१ जनवरी १९९० का सम्पादकीय)

आर्य-संस्कृति के प्रतीक श्रीराम

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम से बढ़कर आर्य संस्कृति का प्रतीक दुर्लभ है। राम आर्यावर्त और भारतीय इतिहास के प्रतिनिधि के रूप में अजस्र प्रेरणा-स्रोत हैं। मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं के जो आदर्श हो सकते हैं, वे भी सर्वोत्तम रूप से मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम में ही घटित होते हैं। राम आदर्श राजा हैं, राम आदर्श पुत्र हैं, राम आदर्श पति हैं, राम आदर्श भाई हैं और राम आदर्श स्वामी हैं। वैदिक धर्म और ऋषियों द्वारा निर्धारित मर्यादाओं का जितने सुन्दर रूप से राम ने पालन किया, उतने सुन्दर रूप से अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं किया। इसीलिए राम को **'रामो विग्र हवान् धर्मः'** कहकर सम्बोधित किया गया है। वेद का आदेश है कि **'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः'** पुत्र पिता के व्रत का पालन करने वाला हो और माता के मन की इच्छाएँ पूरी करने वाला हो। अथवा **'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा'**—'भाई से भाई द्वेष न करे और बहिन से बहिन द्वेष न करे।' इस प्रकार परिवार में सुख और शान्ति के लिए नैतिक आदर्शों की स्थापना करने वाले जितने भी आदेश वेद में हैं, उन सबका सर्वोत्तम ढंग से पालन करने वाले महापुरुष भी कोई हैं तो श्रीराम ही हैं।

इसीलिए तो हिमालय की कन्दराओं से लेकर विन्ध्य और सह्याद्रि की अधित्यकाओं तक और जह्नुतनया भागीरथी गंगा से लेकर दक्षिण की कावेरी तक सर्वत्र राम-नाम की गूँज है। पंजाब, सिन्धु, कन्याकुमारी और रामेश्वरम् तक पूर्व-पश्चिम उत्तर-दक्षिण के किसी भी प्रदेश में चले जाओ, सर्वत्र राम की स्मृतियाँ बिखरी पड़ी हैं। भले ही तक्षशिला, लवपुर (लाहौर) और कुशपुर (कसूर) पाकिस्तान में चले गए हों, लेकिन वे स्मारक तो मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम के और उनके वंशजों के ही हैं।

कवियों और सन्तों ने रामकथा को सम्प्रदायातीत बना दिया है। इसीलिए बौद्धों और जैनों के ग्रन्थों में भी राम-कथा का समावेश है। गोंड-भील आदि शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्गों में राम-कथा की धूम है। स्याम, अनाम, जावा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया और मलयेशिया में भी राम की कथा पहुँची हुई है। मैक्सिको में राम-सीता के नाम से उत्सव मनाया जाता है और राम के ही नाम से मिस्र के राजाओं के नाम रखे जाते हैं। बैंकाक में रामायण-सम्मेलन होता है और मौरिशस में 'गुटका तुलसी रामायण' की एक लाख प्रतियाँ मँगाकर घर-घर पहुँचाई जाती हैं। इस

प्रकार इतिहास में अन्य शायद ही कोई ऐसा महापुरुष हो जो इतने व्यापक रूप से चर्चित हो।

राम का कुल 'रघुकुल' कहलाता है। आदिकालीन मनु के सात पुत्र थे, जिसकी एक शाखा में भगीरथ, अंशुमान्, दिलीप, रघु आदि हुए और दूसरी शाखा में सत्यवादी हरिश्चन्द्र आदि। वैवस्वत मनु के पश्चात् इस सूर्यवंश की ३९ पीढ़ियाँ बीत जाने पर राम अयोध्या में जन्म लेते हैं। राम के विषय में उनके गुणों का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने लिखा—

रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता।
वेदवेदांगतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः॥
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥

(वा० रा० बाल०)

अर्थात् वे जीवलोक के रक्षक हैं, धर्म का पालन करने वाले हैं, वेद-वेदांग के तत्त्व को जानने वाले हैं, धनुर्वेद में पारंगत हैं, सब शास्त्रों के अर्थों के मर्मज्ञ हैं, स्मृतिशाली और प्रतिभाशाली हैं, सब लोगों में प्रिय हैं, साधु-स्वभाव हैं, अपनी आत्मा में कभी दीनता का समावेश नहीं होने देते, कार्यकुशल हैं, जिस तरह नदियाँ समुद्र के पास जाती हैं, उसी तरह वे सज्जनों के लिए सदा सुलभ हैं, वे आर्य हैं, सब पर समदृष्टि रखते हैं, हमेशा प्रसन्नचित्त रहते हैं, गम्भीरता में समुद्र के समान और धैर्य में हिमालय के समान कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीराम सभी प्रकार के गुणों से समन्वित हैं।

वाल्मीकि रामायण में काफी विस्तार से राम के गुणों का वर्णन है, हमने संक्षिप्त दिग्दर्शनमात्र कराया है।

आर्य संस्कृति के प्रतीक

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम के युग में तीन संस्कृतियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं—एक आर्य-संस्कृति, दूसरी वानर-संस्कृति और तीसरी राक्षस-संस्कृति। सम्भवतः आदिकाल में एक ही मानव-वंश रहा होगा, परन्तु उसके बाद कालक्रम से उनके आचार-विचार और रहन-सहन में परिवर्तन आता गया और वे विभिन्न संस्कृतियों के पोषक बन गए। खास बात यह है कि ये तीनों संस्कृतियाँ वैदिक धर्मावलम्बी हैं। तीनों में वेदों के अध्ययन की परम्परा है। इन तीनों संस्कृतियों के तीन प्रमुख केन्द्र

हैं—आर्य-संस्कृति का केन्द्र अयोध्या, वानर-संस्कृति का केन्द्र किष्किन्धा और राक्षस-संस्कृति का केन्द्र लंका। वानरों की पूँछ आदि की कल्पना करके पौराणिक जगत् ने अपने कल्पना-विलास का ही परिचय दिया है, जबकि वानर भी अयोध्या के निवासियों की तरह वैसे ही मनुष्य थे जैसे आर्य लोग थे। वानर का अर्थ बन्दर नहीं, बल्कि वन में रहने वाला है। ये वन्य जातियाँ थीं, जो वनों और पहाड़ों में रहती थीं। आज भी देश की काफी बड़ी संख्या जंगलों और पहाड़ों में रहती है। भ्रम से हम उन्हें पाश्चात्य लेखकों के अनुकरण पर आदिवासी कहने लगे हैं, जबकि सही अर्थ में उन्हें 'वनवासी' या 'गिरिजन' कहा जाना चाहिए। वनवासी और वानर का एक ही अर्थ है। जिस प्रकार वानर बन्दर नहीं थे, उसी प्रकार राक्षस भी अमनुष्य नहीं थे। वे भी अयोध्या-निवासी आर्य जनों के समान ही सामान्य मनुष्य-मात्र थे। हाँ, इन तीनों की संस्कृतियों में अन्तर था।

जहाँ तक भौतिक समृद्धि का प्रश्न है, वाल्मीकि रामायण के कथनानुसार न किष्किन्धा अयोध्या से कम थी और न ही लंका। बल्कि लंका का तो भौतिक समृद्धि के कारण नाम ही 'सोने की लंका' पड़ गया। अन्तर भौतिक समृद्धि में नहीं, अपितु आचार-विचार और संस्कारों में स्पष्ट अन्तर है। वानर और राक्षस दोनों मदिरापायी हैं, जबकि अयोध्या में मदिरापान का वर्णन नहीं मिलता। बाली और सुग्रीव का आपसी भ्रातृ-कलह 'वानर'-संस्कृति का ही प्रतीक हो सकता है। अयोध्या में इस प्रकार के भ्रातृ-कलह की कल्पना हम नहीं कर सकते। बाली द्वारा सुग्रीव की पत्नी का अपहरण और बाली की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी तारा का सुग्रीव द्वारा वरण वानर-संस्कृति की ही विशेषता है, आर्य-संस्कृति की नहीं। जहाँ तक राक्षसों का प्रश्न है, वे तो निरे विषयलम्पट थे ही। विभीषण और रावण के कलह के रूप में भ्रातृ-कलह भी वहाँ विद्यमान है और रावण द्वारा पराई स्त्रियों के अपहरण की तो अनेक घटनाएँ हैं।

इन तीनों राज्यों में राजतन्त्र की प्रथा है। तीनों जगह मन्त्रिपरिषद् है, परन्तु रावण अपनी मन्त्रिपरिषद् की सलाह मानने की बजाय स्वेच्छाचारिता की ओर अग्रसर है। इसी स्वेच्छाचारिता ने विभीषण को अलग कर दिया। किष्किन्धा और लंका में वेदाध्ययन के साथ ब्राह्मणों का भी अस्तित्व है। किन्तु आर्य, वानर और राक्षस-संस्कृति में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि आर्येतर संस्कृतियों में आश्रमों की परम्परा नहीं। आर्य राज्य में सर्वत्र ऋषियों के आश्रम हैं; उनमें वेदाध्ययन के साथ-साथ आर्य-संस्कृति के प्रसार की चिन्ता है; ऋषि लोग तप और स्वाध्याय में निरत रहकर यज्ञ-याग में लगे रहते हैं, जबकि राक्षस उनके यज्ञों में विघ्न डालने को ही अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण समझते हैं। आर्य लोग स्वभाव से अहिंसा-प्रिय हैं परन्तु राक्षसों की ज्यादती के कारण अन्त में स्वयं ऋषि लोग ही अयोध्या के आर्य राज्य के राजकुमार को शस्त्र-ग्रहण के लिए प्रेरित करते हैं और लंका-विजय की

योजना बनाते हैं।

इस प्रकार वानर और राक्षस-संस्कृति के मुकाबले में आर्य-संस्कृति की विशेषता को देखें तो उसका सार यह निकलता है कि आर्य लोग तप, त्याग और वैदिक विधान के अनुसार वर्णों और आश्रमों की मर्यादा का पालन करते हुए जीवन को निरन्तर उन्नत, उन्नततर बनाते हुए आदर्श बनने का प्रयत्न करते हैं, जबकि वानरों और राक्षसों में जीवन के नैतिक आदर्शों का वैसा प्रसार नहीं। राक्षस लोग तो निश्चित रूप से 'खाओ-पियो-मौज उड़ाओ' की भोगवादी संस्कृति के प्रतीक हैं और आर्य लोग त्यागवाद की संस्कृति के, जबकि वानर-संस्कृति इन दोनों के बीच में विद्यमान है। आर्यों के त्यागवाद में मर्यादित भोगवाद है और जीवन में धर्म-पूर्वक अर्थ और काम का सेवन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है, जबकि राक्षसों का भोगवाद निर्मर्याद है, उसमें त्यागवाद का कहीं लेश नहीं। वे हिंसा के माध्यम से अपने राज्य का विस्तार करना चाहते हैं। आर्य-संस्कृति के अनुयायी अहिंसा का हथियार विफल हो जाने पर ही हिंसा का आश्रय लेते हैं और तब दुष्ट को दण्ड देकर ही छोड़ते हैं। राक्षस-संस्कृति हिंसा-परायण है, आर्य-संस्कृति यज्ञ-परायण। वानर-संस्कृति का रुझान आर्य-संस्कृति की ओर है पर आर्य-जनों की उपेक्षा के कारण वे नैतिकता के उच्च आदर्शों तक नहीं पहुँच सके। राम ने पहली बार उनकी ओर हाथ बढ़ाया तो वे सहर्ष राक्षसों से लड़ने के लिए आर्यों के साथ हो गए थे। आज भी तो वन्य जातियाँ आर्यों की उपेक्षा की शिकार हैं। वे आर्यजनों के स्नेह की आकांक्षी हैं, पर आर्यजन उधर ध्यान न देकर राक्षसों की ओर अग्रसर हैं। राक्षस-संस्कृति पर विजय पाने के लिए आर्यों और वन्य जातियों का संगम आवश्यक है। पहल आर्यों को ही करनी होगी। श्रीराम ने मार्ग दिखाया है। उसी पर चलकर आर्य-संस्कृति की विजय होगी। उसी विजयोन्मुख आर्य-संस्कृति के प्रतीक हैं श्रीराम।

('दयानन्द सन्देश', अप्रैल १९९०)

राष्ट्रधर्म के पुरस्कर्ता श्रीकृष्ण

आर्यावर्त में राम और कृष्ण दो ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्हें राष्ट्रपुरुष और इतिहासपुरुष की दृष्टि से अद्वितीय कहा जा सकता है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं और श्रीकृष्ण लीला-पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम दोनों हैं। पुरुषोत्तम अर्थात् उत्तम पुरुष, अर्थात् आर्य। आर्यत्व की दृष्टि से जीवन को उत्तमता की पराकाष्ठा तक ले जाने वाले ये दोनों ऐसे अनुकरणीय महापुरुष हैं जिनसे युग-युगान्तर तक मानव-जाति प्रेरणा ग्रहण करती रहेगी। परन्तु इनकी स्तुति और भक्ति से ओत-प्रोत मानव-हृदय ने अपनी कल्पनाशील बुद्धि के चमत्कार द्वारा इन दोनों ही महापुरुषों को मानवोत्तर से इस प्रकार मानवेतर बना दिया है कि तथाकथित आधुनिक बुद्धिवादी लोग इन दोनों ही इतिहास-पुरुषों को अनैतिहासिक कहने में अपनी आधुनिकता मानने लगे हैं। परन्तु भारतीय जनमानस ने अपने हृदय के सिंहासन पर इन दोनों को इतने दृढ़ भाव से विराजमान किया है कि उसे अपने परिवार या स्वयं अपने निज के अस्तित्व से भी अधिक इन इतिहास-पुरुषों की ऐतिहासिक सत्यता पर आस्था है।

ये दोनों इतिहास-पुरुष महान् स्वप्नद्रष्टा भी थे। दोनों ने ही अपने स्वप्नों को अपने जीवनकाल में चरितार्थ करके दिखा दिया। सामान्य व्यक्ति महान् स्वप्न नहीं देखा करते। कभी उत्साह में आकर वैसा कर भी बैठें तो उनके स्वप्न उनकी अपनी सीमाओं के कारण और संसार की विपरीत परिस्थितियों के कारण केवल शेखचिल्ली के स्वप्न बनकर रह जाते हैं। पर इन दोनों महापुरुषों के जहाँ स्वप्न विराट् थे, वहाँ इनके कर्तृत्व भी विराट् थे और उन स्वप्नों की पूर्ति भी उतनी ही विराट् थी। संसार का इतिहास असफल स्वप्नद्रष्टाओं के स्वप्नभंगों की कहानियों से भरा पड़ा है। उन असफलताओं के महासागर में इन दोनों महनीय महापुरुषों का स्वप्न-साफल्य अद्भुत ज्योतिस्तम्भ बनकर खड़ा है। संक्षेप में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि श्रीराम ने नेपाल के सीमावर्ती प्रदेश मिथिला से लेकर राक्षसाधिपति रावण की लंका तक—ठेठ उत्तर से लेकर ठेठ दक्षिण तक—सारे भारत को एक सूत्र में आबद्ध किया था, तो श्रीकृष्ण ने द्वारिका से लेकर मणिपुर तक—ठेठ पश्चिम से ठेठ पूर्व तक—सारे भारत को एक सूत्र में आबद्ध और एक दृढ़ केन्द्र के आधीन करके समस्त राष्ट्र को इतना बलवान् और इतना अपराजेय बना दिया था कि महाभारत के पश्चात् लगभग ४ हजार वर्ष तक अनेक विदेशी

शक्तियाँ बार-बार प्रयत्न करने पर भी आर्यावर्त को खण्डित नहीं कर सकीं। आश्चर्य की बात यही है कि इन दोनों राष्ट्रपुरुषों के अन्य अवान्तर रूपों की चर्चा से जहाँ ग्रन्थ के ग्रन्थ भरे पड़े हैं, वहाँ इस राष्ट्रनिर्माता-रूप की चर्चा प्रायः नगण्य ही रह गई है। यह हमारी कूप-मण्डूकता और मानसिक दृष्टि से बौनेपन की निशानी नहीं तो और क्या है? ये महापुरुष जितने विराट् थे, स्वप्न की दृष्टि से भी और उसकी पूर्ति की दृष्टि से भी, हमारे लेखक और कवि उसकी तुलना में उतने ही वामन रह गए।

जिस स्वप्न की हम चर्चा कर रहे हैं, उसका बीज मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम के मन में ऋषियों द्वारा बोया गया था, जबकि योगेश्वर श्रीकृष्ण का यह स्वप्न स्वोपज्ञ था। राम का जीवन आदि से अन्त तक ऋषियों की योजना, उनके मार्ग-दर्शन और उनके अनुशासन से संचालित था और इसलिए वे ऐसे सरोवर की तरह मर्यादित थे, जिसमें कभी ज्वार नहीं आ सकता। होश सँभालने के बाद, श्रीकृष्ण जीवन के प्रत्येक क्षण में, अन्तरात्मा से प्रेरित थे, इसलिए उनका जीवन एक ऐसी पहाड़ी नदी के समान है जो उछलती-कूदती, चट्टानों को तोड़ती, दुर्गम उपत्य-काओं में अपना मार्ग बनाती और बरसात में अपने कूल-किनारों की मर्यादाओं को भंग करती लगातार आगे बढ़ती चली जाती है। विचारकों ने मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम को द्वादश कलावतार और श्रीकृष्ण को षोडश कलावतार कहा है। इसका अभिप्राय एक को दूसरे से बड़ा या छोटा कहने से नहीं, प्रत्युत राम क्योंकि सूर्य-वंशी थे और सूर्य की ज्योतिष के हिसाब से गति बारह राशियों के अन्दर होती है, इसलिए राम को भी उन्होंने द्वादश कलाओं के अवतार के रूप में सम्बोधित कर दिया, और श्रीकृष्ण क्योंकि चन्द्रवंशी थे और चन्द्रमा की कृष्णपक्ष से शुक्लपक्ष तक सोलह कलाएँ मानी जाती हैं, इसलिए श्रीकृष्ण को षोडश कलावतार कह दिया। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि श्रीराम को जिन परिस्थितियों में अपने विराट् स्वप्न को पूर्ण करने का सौभाग्य मिला, कदाचित् वे परिस्थितियाँ उतनी जटिल नहीं थीं, जितनी श्रीकृष्ण के समय थीं। रामायणकालीन समाज भी काफी-कुछ मर्यादा में बँधा हुआ था और कृष्णकालीन समाज मर्यादाओं के होते हुए भी उनको तोड़ने में ही अपनी शान समझता था। जिस काल में और जिन परि-स्थितियों में श्रीकृष्ण ने सफलता प्राप्त की, उस युग में और उन परिस्थितियों में मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम होते तो क्या करते, या रामायणकालीन परिस्थितियों में योगेश्वर श्रीकृष्ण होते तो क्या करते, यह केवल कल्पना का ही विषय बन सकता है।

हममें से अधिकांश लोग इतना तो जानते हैं कि हमारा एक राष्ट्र है और अतीत काल में उसके जीवन का आधार धर्म रहा है, किन्तु मानव-जीवन को सब पुरुषार्थों की प्राप्ति का साधन मानकर तदनुसार समाज-व्यवस्था का निर्माण

करके जो राष्ट्रधर्म तैयार होना चाहिए, उसकी रूपरेखा क्या हो, उसके बारे में दिग्भ्रम ही अधिक दिखाई देता है। राष्ट्र जब जीवित रहते हैं, तो उसका आधार उनकी निश्चित प्रणाली और उनके जीवन के उद्देश्य के रूप में उनका तत्त्वज्ञान रहता है। राष्ट्र के महापुरुष इसी तत्त्वज्ञान के आधार पर समय-समय पर इस लोक और परलोक की नीति, शत्रु-मित्र-व्यवहार, और आदर्श और क्रियात्मकता की आचरणीय सीमा और व्यक्ति तथा समाज के आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करते हैं। सर्वसाधारण उन महापुरुषों के आचरण और उनके द्वारा निर्धारित नीति का ही अनुगामी होता है। अमुक सिद्धान्त क्यों ग्रहण करने योग्य है, अथवा निश्चित सिद्धान्तों को त्याग देने से समाज का कौन-सा अहित होगा—आदि प्रश्नों की मीमांसा विचारवान् लोग निरन्तर करते रहते हैं। वे बताते हैं कि राष्ट्र और समाज का हित इन सिद्धान्तों का पालन करने से किस प्रकार प्राप्त होगा। इस प्रकार विचारवान् पुरुषों द्वारा निर्धारित सिद्धान्त ही उस राष्ट्र का तत्त्वज्ञान बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, हिटलरकालीन जर्मनी का राष्ट्रीय तत्त्वज्ञान एक भिन्न प्रकार का था, जो आर्यन रक्त की श्रेष्ठता पर आधारित था, तो स्टालिन-कालीन रूस का तत्त्वज्ञान रक्त पर अवलम्बित न होकर समाज की संस्कृति को आर्थिक आधार पर नियमित करना चाहता था। इस दृष्टि से भारत के राष्ट्रीय तत्त्वज्ञान का निर्धारण करने वाला महाभारत-जैसा और कोई ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। यह अद्वितीय राष्ट्रग्रन्थ है। वेद महान् ग्रन्थ हैं। वे तो सृष्टि के आदि के होने के कारण ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत हैं ही, किन्तु भारतीय समाज के सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आबाल वृद्ध नर-नारियों का जैसा समावेश महा-भारत में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। आचार-विचार, गृह-व्यवस्था, नीति, कल्पना, व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार, यहाँ तक कि हमारे रक्त के प्रत्येक कण-कण में महाभारत के संस्कारों की छाया परिलक्षित होती है। इसलिए महाभारत को भारत के राष्ट्रधर्म का प्रतिपादक ग्रन्थ कहते हैं। यह ग्रन्थ किन्हीं काल्पनिक कथाओं का पिटारा न होकर—जैसे कि पुराण हैं, उनसे भिन्न एक जीवित इतिहास-ग्रन्थ है--अतीत की सत्यगाथा, भविष्य का साथी और वर्तमान का आधार। सम्पूर्ण इतिहास के साथ-साथ वह काव्य भी है और काव्य में हीनोक्ति, वक्रोक्ति, अन्योक्ति या अत्युक्ति अलंकार का रूप ग्रहण करती है। इसलिए इस महान् ग्रन्थ में कुछ अद्भुत, अमानवीय और अलौकिकता के चक्कर में हमारी कितनी ही ऐतिहासिक कथाएँ दूषित भी हुई हैं। सूक्ष्म निरीक्षण कर यत्न किया जाए और काव्य के अलंकारों को छोड़कर खरे इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया जाय तो कठोर दृष्टि से जाँचने पर हमारा सप्रमाण सिद्ध होने वाला गौरवशाली इतिहास भी महाभारत में विद्यमान है।

सबसे पहले यह कहना आवश्यक है कि महर्षि व्यास ने जो ग्रन्थ सुगुम्फित

किया था, उसका नाम 'जय' था और उसमें केवल आठ हजार श्लोक थे। उसके बाद उनकी शिष्य-परम्परा में महर्षि वैशम्पायन ने इस ग्रन्थ का विस्तार करके इसके श्लोकों की संख्या तीन गुनी अर्थात् चौबीस हजार तक पहुँचा दी। 'जय' नामक ग्रन्थ में यदि केवल एक ही कुल की जय और पराजय पर ध्यान केन्द्रित किया गया था तो वैशम्पायन के समय 'भारत' नाम से जो ग्रन्थ तैयार हुआ, उसमें समूचे भारतवर्ष का इतिहास समाविष्ट हो गया। परन्तु भारतीय मनीषा यहीं नहीं रुकी, वह लगातार राष्ट्र को आवश्यकता के अनुरूप अपने विचारों के पंख फैलाती रही। वैशम्पायन के पश्चात् उनकी शिष्य-परम्परा के सौति और लोमहर्षण ने इस ग्रन्थ का विस्तार करके इसकी संख्या एक लाख श्लोकों तक पहुँचा दी। तब इसका नाम 'महाभारत' पड़ा। 'महाभारत' शब्द में ही हमें एक व्यंजना दिखाई देती है। इसमें बृहत्तर भारत की ध्वनि है। ऐसा लगता है कि 'जय' में जहाँ एक कुल की संघर्षमय कथा थी, और 'भारत' के राजवंशों और भरतवंशियों के इतिहास का समावेश था, वहाँ महाभारत में भारत की भौगोलिक सीमाओं के बाहर जहाँ-जहाँ भारतवंशीय लोग गए, उन सब देशों के भी लोक-जीवन की छाया विद्यमान है। सुदूर पूर्व के जिन प्रदेशों में जाकर भारतीयों ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया, उन प्रदेशों की परिस्थितियों के अनुरूप अपनी आर्य विचारधारा को ढाला। उन प्रदेशों के जीवन्त इतिहास की छाया भी इस ग्रन्थ में होनी चाहिए। शायद यही कारण है कि इण्डोनेशिया, मलयेशिया, थाइलैण्ड और इण्डोचीन आदि देशों में महाभारत की कथा उतनी ही लोकप्रिय है जितनी भारत में है। आश्चर्य होता है कि इण्डोनेशिया और मलयेशिया के निवासी अब अधिकतर इस्लाम को अंगीकार कर चुके हैं, किन्तु उनके मनों से आज तक महाभारत की कथा का जादू नहीं उतर पाया।

धर्म को केवल मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानकर उसको आध्यात्मिकता में आबद्ध करने से वेद-प्रतिपादित धर्म का सही रूप दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। आचार-व्यवहार के जिन नियमों से केवल व्यक्ति नहीं, साधना-पथ पर चलने वाला मोक्षाभिलाषी साधक ही नहीं, बल्कि पूरा समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र टिका रहता है, वह भी तो धर्म है। उसी को हम राष्ट्रधर्म कहते हैं। तभी **"धारणाद् धर्म-इत्याहुः"** की परिभाषा सार्थक होती है। इसलिए महर्षि जैमिनि ने धर्म की परिभाषा करते हुए निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष के साथ-साथ, बल्कि उससे पहले 'अभ्युदय' को रखा है। **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**; केवल अभ्युदय या केवल निःश्रेयस की बात करने से भी धर्म पंगु बन जाता है। ऐसा एकांगी धर्म बहु-आयामी मानव-जीवन के साथ कैसे सुसंगत होगा ? हमारा कहना यह है कि महाभारत केवल हमारी राष्ट्रीय अस्मिता, या राष्ट्रीय जिजीविषा का ही प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत वह भारत राष्ट्र का विस्तार करके किस प्रकार उसे बृहत्तर

महान् भारत बनाया जा सकता है, ऐसे राष्ट्रीय अभ्युदय की नीति सुझाने वाला ग्रन्थ भी है। इस नाते से महाभारत को राष्ट्रीय तत्त्वज्ञान का विश्वकोश कहा जा सकता है। महाभारत के सम्बन्ध में यह उक्ति सर्वथा सही है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

—जो कुछ महाभारत में है, वही अन्य ग्रन्थों में है और जो इसमें नहीं है तो वह फिर कहीं भी नहीं है। लोक में तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी ऐसी कोई सामग्री नहीं है, जो इस महाभारत में विद्यमान न हो।

महाभारत के रचनाकार भले ही कृष्ण द्वैपायन व्यास या उनकी उत्तरवर्ती उनकी शिष्य-परम्परा रही हो, परन्तु उसके सूत्रधार केवल श्रीकृष्ण हैं। इसीलिए महाभारत को 'कार्ष्ण वेद' (अर्थात् श्रीकृष्ण का वेद) भी कहा जाता है, जो सर्वथा यथार्थ है। श्रीकृष्ण के समान प्रगल्भ बुद्धिशाली, कर्तृत्ववान्, प्रज्ञावान्, व्यवहार-कुशल, ज्ञानी एवं पराक्रमी पुरुष आज तक संसार में नहीं हुआ। यह कथन अतिशयोक्ति नहीं माना जाना चाहिए। वे ध्येयवादी के साथ व्यवहारवादी भी थे और इन दोनों की सीमाओं के निपुण ज्ञाता थे। सत्यनिष्ठा के समान ही वे कुटिल राजनीति अर्थात् राजधर्म के भी उपदेष्टा थे। वे गृहस्थ जीवन के प्रेमी होने के साथ-साथ अत्यन्त संयमी और योगविद्या-पारंगत योगेश्वर भी थे। संक्षेप में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण भारत की संस्कृति के और राष्ट्रीय अस्मिता के तथा राष्ट्रधर्म के मूर्तिमन्त प्रतीक हैं।

जिस राष्ट्रधर्म की ओर हम संकेत करना चाहते हैं, उसका मूल आधार महाभारत और उसके द्वारा प्रतिपादित श्रीकृष्ण का चरित्र ही है। पुराणों ने "**चोर-जार-शिखामणि**" के रूप में जिस कृष्ण का चित्रण किया है, उसका अनुमोदन महाभारत में कहीं नहीं है। वह केवल पुराणों की लीला है और उसके पीछे व्यक्तिगत वासनाओं की पूर्ति के लिए अवचेतन मन में छिपी मनोग्रन्थियों का काव्यात्मक चोले में विकृत चित्रण मात्र है। यह देश का कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि कृष्ण का वह विकृत रूप तो घर-घर में प्रचलित है, और जो महाभारत-वर्णित सही रूप है, जो राष्ट्र के लिए अक्षय प्रेरणा का स्रोत बन सकता है, उसकी चर्चा दुर्लभ है। महाभारत का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि ऐहिक वैभव का चरमोत्कर्ष होने पर ही निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रमुख सिद्धान्त के होते हुए भी धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, व्यवहार-नीति और प्रवृत्ति, धर्म-विषयक जो विचार महाभारत में अंकित हैं, वे कहीं-कहीं इस प्रमुख सिद्धान्त के विरोधी भी दिखाई दे सकते हैं, परन्तु उनको भारतीय तत्त्वज्ञान या राष्ट्रधर्म की कोटि में नहीं गिना जा सकता। विभिन्न मतों का प्रतिपादन होते हुए भी महाभारत के वे ही विचार राष्ट्रधर्म की कोटि में आ सकते हैं, जिन पर श्रीकृष्ण की राजमुद्रा अंकित हो। महर्षि व्यास सारे

महाभारत में एकमात्र श्रीकृष्ण को ही ऐसे व्यक्तित्व के रूप में चित्रित करते हैं, जो न कभी टूटता है, न झुकता है। श्रीकृष्ण न पछताते हैं, न रोते हैं और न कभी जय-पराजय की चिन्ता करते हैं। परन्तु अपने पुरुषार्थ, कर्तृत्व और नीतिमत्ता में उन्हें इतना अधिक विश्वास है कि वे अर्जुन को गीता में यहाँ तक आश्वासन देते हैं कि मेरी योजना में और विश्व-रूप की व्यापकता में भीष्म, द्रोण, दुर्योधन, कर्ण और दुःशासन आदि सब पहले से ही मरे पड़े हैं, हे अर्जुन ! तुझे तो केवल निमित्त-मात्र बनना है।

महाभारतकार व्यास केवल किसी तात्कालिक कथा की रचना करना नहीं चाहते, वे तो हर युग में रहने वाले मानव में विद्यमान सत्य की, और अधर्म पर धर्म की विजय का चित्रण करना चाहते हैं। उनके अधिकांश पात्र मोह और आसक्ति से भरे हुए हैं और इसीलिए उनकी पीड़ा का अन्त नहीं है। एक तरह से सारा महाभारतकालीन समाज सामूहिक भय और सामाजिक त्रास से ग्रस्त है। परन्तु श्रीकृष्ण इन सबसे ऊपर हैं। वे कमल की तरह पानी में रहकर भी सर्वथा निर्लिप्त हैं। युधिष्ठिर से लेकर धृतराष्ट्र और भीष्म पितामह तक सभी लोग टूटते हैं, परन्तु कृष्ण कभी नहीं टूटते। वे अनासक्त-भाव से घटनाओं का संचालन करते हैं। पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य में जिस नरत्व की आवश्यकता है, वही श्रीकृष्ण में साक्षात् अवतरित हुआ है। इसीलिए वे नरोत्तम, पुरुषोत्तम और नर से नारायण बनने की क्षमता रखते हैं।

भीष्म पितामह ने शान्ति पर्व में राजधर्म को सबसे उत्तम विद्या, सबसे उत्तम योग, सबसे उत्तम कर्म और सबसे उत्तम धर्म माना है—"**सर्वे योगा राजधर्मेषु चोक्ताः**"। स्वयं कृष्ण ने भी गीता में "**योगः कर्मसु कौशलम्**" कहकर योग को रूढ़िजन्य अर्थों से निकालकर एक नया अर्थ प्रदान किया है। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि के अलावा राजधर्म की दृष्टि से भी 'योगेश्वर' के विशेषण को जितनी सार्थकता श्रीकृष्ण प्रदान करते हैं, उतना अन्य कोई नहीं करता। श्रीकृष्ण ने अपने समय में प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों को जिस प्रकार चुनौती देकर तोड़ा, वह उनके अद्भुत क्रान्तिकारी स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है। उस युग का अन्य कोई महापुरुष वैसी क्रान्ति करने में समर्थ नहीं था। जहाँ उन्होंने योग शब्द को नया अर्थ दिया, वहाँ वैदिक कर्मकाण्ड के सबसे अधिक प्रिय 'यज्ञ' शब्द को भी नया अर्थ दिया। श्रीकृष्ण से पूर्व स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से (**स्वर्गकामो यजेत**) यज्ञ करने की रूढ़ परम्परा थी जिसमें सकामता सर्वथा स्पष्ट थी। परन्तु श्रीकृष्ण ने यज्ञ को परमात्मा द्वारा रचे गए सृष्टि-यज्ञ के साथ जोड़कर उसके साथ ही निष्कामता इस प्रकार जोड़ दी कि आगे चलकर विद्वानों ने स्वार्थ-रहित समाज-सेवा के कर्म को ही यज्ञ मानना स्वीकार कर लिया।

महाभारत में जरासन्ध एकसत्तात्मक साम्राज्य का प्रतिनिधि है और

दुर्योधन **"राजा परं दैवतम्"** के अभिमान में मस्त होकर अपने-आपको सबसे बड़ा मानने पर कटिबद्ध है। भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य भी राजा को देवता मानने की उस समय की सामाजिक मान्यता के सिद्धान्त को छोड़ने को तैयार नहीं होते। परन्तु श्रीकृष्ण इस सिद्धान्त को चुनौती देते हैं और राजा को प्रजा का प्रतिनिधि मनवाते हैं। वे जरासन्ध द्वारा अन्य राजाओं को समाप्त कर अधिनायकवादी साम्राज्य स्थापित करने के विरोध में ऐसे आत्मनिर्णय-मूलक आर्य साम्राज्य (कॉमनवैल्थ) के प्रतिपादक हैं जो आगे चलकर समस्त राजनैतिक तत्त्ववेत्ताओं का आदर्श बनता है। वैदिक संस्कृति इसी प्रकार के साम्राज्य की पोषक है; औरों के अस्तित्व को समाप्त करने वाले अत्याचारी या आधुनिक पाश्चात्य ढंग के साम्राज्य (एम्पायर) की नहीं। उनके साम्राज्यवाद पर सुवृधः का अंकुश भी है।

जन्मपरक वर्णव्यवस्था के विरोध में भी जैसा संघर्ष श्रीकृष्ण ने किया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। हाँ, उसकी कुछ-कुछ पुष्टि कर्ण के शब्दों से होती है। कर्ण कहता है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥

"मैं चाहे सूत होऊँ, या सूतपुत्र होऊँ, चाहे कोई भी होऊँ, मेरा जन्म किस कुल में हुआ है, यह क्यों पूछते हो? क्योंकि मेरा जन्म दैव के आधीन था। मेरे अधीन तो केवल मेरा पौरुष है। इसलिए मुझसे तो पौरुष की बात करो।" कर्ण की यह उक्ति जन्मपरक जाति-व्यवस्था पर सबसे करारा चपत है। कर्ण जन्म-भर इस सामाजिक अभिशाप से पीड़ित होकर मानसिक यन्त्रणा भोगता रहा। श्रीकृष्ण ने कर्ण को इस अभिशाप से निकालने का अपनी ओर से पूरा प्रयत्न किया। परन्तु तब कर्ण अपनी निराशा में इतना गहरा धँस चुका था कि श्रीकृष्ण का कथन स्वीकार करके उसने युधिष्ठिर के बड़े भाई के रूप में साम्राज्य का अधिपति बनने की बात को भी लात मार दी। श्रीकृष्ण स्वयं दैव को स्वीकार करते हैं, परन्तु पौरुष को उससे अधिक महत्त्व देते हैं। यह सत्य उनके जीवन में पल-पल पर उद्घाटित होता है। वे कौरवों की सभा में धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—"इस समय भारत का भाग्य एक ओर आपके आधीन है, और दूसरी ओर मेरे। आप कौरवों को समझाइए, मैं पाँडवों को समझा दूँगा। यदि आप अपनी न्याय-परायणता से पाण्डवों को अपने पक्ष में कर लें तो संसार में कोई आपको जीतने वाला नहीं रहेगा।" श्रीकृष्ण का यह आत्मविश्वास दैव से अधिक पौरुष को ही प्राथमिकता देने पर निर्भर है।

इस ग्रन्थ के लेखक लेखनी और वाणी के समान रूप से धनी थे, किन्तु मूल रूप से वे कवि थे। इसीलिए महाभारत के काव्य-रूप में से और इसके महाकाव्य-कलेवर में से वे खरे इतिहास की खोज करने में समर्थ हुए, क्योंकि वे कवि होने के

नाते से काव्योचित वर्णनों की विविध भंगिमाओं को पहचानते थे। सम्भवतः महाकवि माघ के शिशुपाल-वध में वर्णित **"एतद्गूढ गुरुभार"** विशेषण से श्रीकृष्ण के इस राष्ट्रधर्म-पुरस्कर्ता रूप को खोजने की उन्हें प्रेरणा मिली हो। एक कवि ही दूसरे कवि को अच्छी तरह समझ सकता है।" इस दृष्टि से **"भारी भार सँभाले"** इस विश्लेषण में श्रीकृष्ण के कन्धों पर वह कौन-सा भार था, इसकी खोज वे सतर्कतापूर्वक कर सके। इस ग्रन्थ के कुछ अध्यायों में तो उनकी काव्य-चेतना ने सचमुच ही चमत्कार किया है। यों भी स्थान-स्थान पर उनके कवित्वपूर्ण संकेत सहृदय रसिकों को आप्लावित किये बिना नहीं रहेंगे। जहाँ तक लेखक की गवेषणात्मक बुद्धि का प्रश्न है, वह भी अद्भुत है।

इस प्रकार गवेषणा, कवि-सुलभ कल्पनाशक्ति और तर्क-बुद्धि के समन्वय का मूर्तिमान् प्रतीक लेखक की लेखनी का वह अद्भुत प्रसाद पाठकों तक पहुँच रहा है। लगभग ५४-५५ साल पहले लिखे गए इस ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने लिखा था—"पाठक ! परख ! निष्पक्ष होकर परख ! निर्दय होकर परख ! सोना तेरे सम्मुख है। इसे जाँच ! इसे आँक ! खरा हो तो ले जा, नहीं तो स्वर्णकार को लौटा दे।" लेखक के परिश्रम से यह ग्रन्थ केवल सोना नहीं, बल्कि कुन्दन बनकर पाठक के हाथ में उपस्थित है। समर्पण शोध-संस्थान को इस बात का श्रेय है कि जो ग्रन्थ पिछले लगभग ३६ साल से अप्राप्य हो गया था, उसका उसके द्वारा पुनरुद्धार हो रहा है। इसके लिए प्रत्येक पाठक शोध-संस्थान का कृतज्ञ होगा।

(श्री पं० चमूपति जी द्वारा लिखित 'योगेश्वर कृष्ण' नामक
ग्रन्थ की भूमिका, २३ अप्रैल १९८५)

प्राच्य और पाश्चात्य विज्ञान एवं दो गुरुदत्त

'दो गुरुदत्त' शीर्षक देखकर पाठक चौंकें नहीं। थोड़े धैर्य से काम लें। अन्त तक पहुँचते-पहुँचते बात स्पष्ट हो जाएगी।

वेद-विरोधी मतों को परास्त कर वैदिक धर्म की विजय-दुन्दुभि बजाने वाले प्रतिवादि-भयंकर आचार्य श्री शंकर जैसे महाविद्वान् ने भी अपने मत की पुष्टि में जहाँ-जहाँ 'इति श्रुतिः' करके कोई उद्धरण दिया, वहाँ-वहाँ वह वचन श्रुति का न होकर केवल उपनिषत् का है, यह देखकर महान् आश्चर्य होता है। शंकराचार्य जैसा ज्ञान-शिरोमणि व्यक्ति वेदों से अपरिचित हो, यह सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति भी मानने को तैयार नहीं होगा। तब यही माना जा सकता है कि उनकी दृष्टि में उपनिषद् और वेद दोनों ही 'श्रुति' शब्द से अभिप्रेत रहे होंगे।

यह भी सम्भव है कि जिस युग में आचार्य शंकर हुए उस युग में वेदों को कर्म-काण्ड-परक ग्रन्थ मानने की परम्परा थी। आचार्य शंकर क्योंकि कर्मकाण्ड के बजाय ज्ञानकाण्ड के उपासक थे, मण्डनमिश्र से (जो शंकराचार्य के शिष्य बनने के उपरान्त सुरेश्वराचार्य नाम से विख्यात हुए) इसी विषय पर शास्त्रार्थ करके विजयी हुए थे, इसलिए यह भी सम्भव है कि वे उपनिषदों को अपनी विचारधारा के अधिक अनुकूल पाते हों। पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर के बाद उसकी शिष्य-परम्परा ने, और उसी के अनुसार बाद के प्राच्य और पाश्चात्य पण्डितों ने इस विवाद को प्रसारित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी कि ज्ञान की जो पराकाष्ठा उपनिषदों में दिखाई देती है, वह वेदों में नहीं है। इस प्रवाद को प्रसारित करने में उन वेदाभिमानी पण्डितों का भी कम हाथ नहीं है जिन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों के माध्यम से विविध प्रकार के यज्ञों के विस्तृत कर्मकाण्ड और विधि-निषेधों का जगड्वाल खड़ा किया। वे वेदज्ञ पण्डित भी कम जिम्मेदार नहीं रहे जिन्होंने वेदमन्त्रों के याज्ञिक और आधिदैविक अर्थ करके प्रत्येक मन्त्र का अमुक-अमुक यज्ञ-क्रिया में विनियोग निर्धारित करने का प्रयत्न किया। स्वाभाविक था कि इससे अल्पज्ञ और बहुज्ञ दोनों को ही वेदों से विरक्ति हो गई।

एक पहलू और भी है। वेदों की भाषा उपनिषदों से भिन्न है। उपनिषदों की भाषा लौकिक संस्कृत के काफी निकट है और उसी लिहाज से सरल भी है। पर वेदों की भाषा आदिभाषा होने के कारण उसमें शब्द रूढ़िज नहीं, योगज हैं अर्थात् यौगिक हैं। शब्दों के रूढ़िगत अर्थ तो वेदों के बाद में बने। इसलिए रूढ़िगत शब्दों

के अनुसार वेदमन्त्रों का अर्थ करने वाले अनर्थ ही अधिक करेंगे। हरेक शास्त्र की अपनी अलग परिभाषाएँ होती हैं, इसलिए अमुक शास्त्र की परिभाषाओं की व्याख्या करने में उसी शास्त्र का आश्रय लेना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, पाणिनीय व्याकरण में कर्म, गुण और सम्प्रदान आदि शब्दों के जो अर्थ हैं, वे अन्य शास्त्रों में घटित नहीं होंगे।

वेदों का काव्यत्व

फिर वेद तो काव्यात्मक हैं—**'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**—यह तो देवाधिदेव का ऐसा काव्य है जो न कभी जीर्ण होता है, न नष्ट होता है—तभी तो सनातन है। इसीलिए परमात्मा को 'कवि' भी कहा गया है—**'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।'** वेद काव्य है तो उसमें काव्य के विविध अलंकारों का प्रयोग भी होगा ही। 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा माना गया है। ध्वनि का अर्थ शब्द नहीं, बल्कि यह भी काव्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। काव्य की तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। व्यंजना-वृत्ति अभिधा और लक्षणा-वृत्ति से श्रेष्ठ मानी जाती है। व्यंजना-प्रधान काव्य को ही ध्वनि-काव्य कहा जाता है और वही उत्तम काव्य माना जाता है। आश्चर्य है कि काव्यशास्त्र के पण्डित अपने क्षेत्र में तो व्यंजना के गुण गाते नहीं थकते, परन्तु वेद के प्रत्येक मन्त्र को अभिधा और लक्षणा-वृत्ति के साँचे में ही ढालकर देखना चाहते हैं। यदि वेद में व्यंजनावृत्ति का अभाव माना जाए, तो वह निकृष्ट कोटि का काव्य सिद्ध होगा। परमदेव का अजर और अमर काव्य और वह व्यंजना-विहीन होने के कारण निकृष्ट! कोई निकृष्ट-मति वाला व्यक्ति ही ऐसी बात कह सकता है।

वेद में काव्यत्व का और अलंकारों का उल्लेख करने का प्रसंग यहाँ यह है कि कभी-कभी वेद के कुछ मन्त्र अपनी शब्द-रचना से ऐसी विचित्र उलझन पैदा कर देते हैं कि सामान्य संस्कृतज्ञ व्यक्ति चक्कर खा जाता है। कुछ उदाहरण देने से बात स्पष्ट होगी। हम यहाँ यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के कुछ मन्त्र दे रहे हैं, जिससे हमारा आशय स्पष्ट हो सकेगा। इन मन्त्रों का वाक्य-विन्यास बहुत सरल है, पर अर्थ उतना सरल नहीं है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः॥९॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳ रताः ॥१२॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

ये छहों मन्त्र इस प्रकार के हैं कि सामान्य संस्कृतज्ञ भी इनका अर्थ आसानी से लगा लेगा। परन्तु वह अर्थ इतना बुद्धि-विरुद्ध लगेगा कि उसे यह किसी विक्षिप्त मस्तिष्क की रचना लगेगी। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को 'गडरियों के गीत' या 'उन्मत्त प्रलाप' की संज्ञा दी, शायद उसका कारण भी यही है। 'तदेजति तन्नैजति'—वह चलता है, वह नहीं चलता; 'तद् दूरे तदु अन्तिके'—वह दूर है, वह पास है; 'तदन्तरस्य०' वह सब के अन्दर है, वही सबके बाहर है। 'यस्तु सर्वाणि भूतानि०'—जो सब प्राणियों को अपने अन्दर देखता है, और सब प्राणियों के अन्दर अपने-आपको देखता है; अन्धन्तमः प्रविशन्ति०'—जो अविद्या की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं, और जो केवल विद्या में रत रहते हैं वे उससे भी घने अन्धकार को प्राप्त होते हैं; 'विद्यां चाविद्यां च०'—जो विद्या और अविद्या दोनों को एक-साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को तैरता है, और विद्या से अमृत का भोग करता है; 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिमुपासते०'—वे घनघोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं जो असम्भूति की उपासना करते हैं, और उससे भी अधिक दुर्गति उनकी होती है जो केवल सम्भूति में लीन रहते हैं।

वेदों की उलटबाँसियाँ

ये मन्त्र ऐसे हैं जिनमें पहले जो बात कही गई है, बाद में उससे उलटी बात कह दी गई है। जो गतिशील है, वह स्थिर कैसे हो सकता है? जो दूर है, वह पास कैसे हो सकता है? जो सब प्राणियों में अपने-आपको देखता है, वह अपने में सब प्राणियों को कैसे देख सकता है? यदि अविद्या की उपासना करने वाले अन्धकार को प्राप्त होते हैं तो विद्याव्यसनी उससे भी घने अन्धकार गर्त में क्यों गिरते हैं? यही बात सम्भूति और असम्भूति के बारे में भी दुहराई गई है। बुद्धि का एकच्छत्र दावा करने वाले पाश्चात्य लोग तभी तो कहते हैं कि ऐसी परस्पर-विरोधी बात एक ही साँस में कहने वाले ऋषि अवश्य पागल रहे होंगे, नहीं तो भला कोई 'कॉमनसेन्स' वाला व्यक्ति अपनी कही बात अपने-आप काटता है? हमारे काव्यशास्त्रमर्मज्ञ पण्डित लोग जब कबीर के काव्य में 'भीगे कम्बल बरसे पानी' जैसी उलटबाँसियाँ देखते हैं तो उनकी व्याख्या करने में अपनी बुद्धि का तेल निचोड़कर कबीर को रहस्यवाद का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने में आकाश-पाताल एक कर देते हैं। पर

यदि वेद में ऐसी उलटबाँसियाँ आ जाएँ, तो वह काव्य नहीं, उन्मत्त प्रलाप है ! इस बुद्धि की बलिहारी !

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती लिखते हैं—"जिस प्रकार रामायण और महाभारत की रचनाएँ वाल्मीकि और व्यास ने कीं, तथा रघुवंश आदि कालिदास की प्रतिभा की अभिव्यक्ति हैं, उसी प्रकार शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में वेद तथा दृश्य-रूप में सृष्टि उस प्रभु के काव्य को प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार मानव की रचना में छन्दों की पाद-व्यवस्था और अलंकार आदि का सौन्दर्य होता है, उसी प्रकार ईश्वरीय रचना में, चाहे वह शब्द-रूप हो अथवा सृष्टि-रूप, एक रहस्यमयी व्यवस्था है। काव्य को समझने और उससे ब्रह्मानन्द-सहोदर रस प्राप्त करने के लिए अपेक्षित बुद्धि हर किसी के पास नहीं होती। सृष्टि और वेद के रूप में उपलब्ध प्रभु के काव्य को परखना भी हर किसी के लिए सम्भव नहीं। परन्तु जिस प्रकार साहित्य के पारखी, कवि के एक-एक शब्द को सुनकर झूम उठते हैं, उसी प्रकार प्रभु के काव्य की गहराई में जाकर उसके गम्भीर एवं चमत्कारपूर्ण अर्थों को जानने वाला भी आनन्दविभोर होकर नाचने लगता है।" ('अध्यात्ममीमांसा'—पृष्ठ १८६)

अब 'तदेजति तन्नैजति' के सन्दर्भ में देखिए। जब इलैक्ट्रोन का आविष्कार हुआ तब वैज्ञानिक बड़ी कठिनाई में पड़ गए—उसे कण कहें या तरंग कहें ? कण स्थिर, तरंग चलायमान—गतिमान्। तरंग ठहर जाए तो तरंग नहीं। तरंग एक 'प्रोसेस' है, बही जा रही है, बनी जा रही है, मिटी जा रही है। कण 'प्रोसेस' नहीं, 'स्टेटस' (स्थिर) है। एक वैज्ञानिक कहता है, वह कण है। दूसरा वैज्ञानिक कहता है, वह तरंग है। क्षण-भर को कण, क्षण-भर को तरंग। ऐसा कोई शब्द नहीं मिला जिससे दोनों भाव एक-साथ व्यक्त किये जा सकें। नया शब्द बनाया गया—'क्वाण्टा', जिसका अर्थ है—दोनों। अब तथ्य तो तथ्य है ! आप तर्क करते रहो कि जो गतिमान् है वह स्थिर नहीं हो सकता, और जो स्थिर है वह गतिमान् नहीं हो सकता। जिन्दगी और मौत एक ही आदमी के दो पैर तो हैं। इसलिए जिन्दा आदमी हर क्षण मर भी रहा है। जिन्दगी और मौत साथ-साथ चल रही हैं। मरने के लिए जिन्दा होना अनिवार्य है तो जिन्दा होने के लिए मरना भी अनिवार्य है। जिन्दगी और मौत एक ही प्रक्रिया के दो नाम हैं, जैसे अँधेरा या प्रकाश, या सर्दी और गर्मी एक ही चीज का नाम है, सिर्फ डिग्री का फर्क है।

अब 'तद्दूरे तद्वन्तिके' की उलटबाँसी देखिए। पत्ते वृक्ष की जड़ से दूर हैं, पर सदा पास हैं; नहीं तो रस ही न मिले। पत्ता मानो जड़ का ही फैला हुआ हाथ है। पैर की अंगुलियाँ और सिर के बाल कितने दूर हैं, फिर भी परस्पर जुड़े हैं। पैर में चोट लगते ही सिर के बालों में झनझनाहट क्यों होती है ? पैर के तलवे में तेल की मालिश करने से आँखों की रोशनी क्यों बढ़ती है जैसा कि वैद्य लोग बताते हैं ?

फिर चमत्कार देखिए—पत्ता जड़ को नहीं जानता, जो उससे केवल कुछ फुट दूर है; पर सूरज को जानता है, जो उससे करोड़ों मील दूर है—पत्ता, जो रोज सूरज को अपने पास पाता है। धर्म-शास्त्र कहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावद् आदित्यमुपतिष्ठते।

अग्नि में डाली हुई आहुति सूरज तक पहुँचती है। नहीं बन्धु, सूरज तक नहीं, सूरज की किरणों तक। और सूरज की वे किरणें कितनी निकट हैं, जबकि सूरज कितना दूर है! अब अग्नि में डाली हुई आहुति सूरज की किरण तक पहुँची, और वही सूरज की किरण पेड़ के पत्ते तक पहुँची—ज़रा छाया में थोड़ा विश्राम कर लूँ—और पत्तों में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई—आहुति के कार्बन-डाईऑक्साइड को चूस-कर उसे ऑक्सीजन में बदलने की। हरेक पत्ता अपने-आप में एक छोटी-मोटी प्रयोग-शाला ही तो है! यह समझ जाने पर उस पत्ते को देखकर सहृदय व्यक्ति का मन आनन्दविभोर होकर नाच न उठे तो क्या करे!

विद्या और अविद्या

अब 'विद्यां च अविद्यां च' की बात लीजिए। असल में विद्या और अविद्या शब्द परस्पर-विरोधी नहीं हैं। 'अविद्या' का अर्थ विद्या का अभाव नहीं है। नञ् समास दो अर्थों में होता है—अभाव या नकारात्मक अर्थ में, और दूसरा—'तद्-भिन्न, तत्सदृश' अर्थ में। गलती यह होती है कि हम नञ् समास के नकारात्मक अर्थ को तुरन्त ले लेते हैं, पर 'उससे भिन्न, पर उसके सदृश' वाले अर्थ को लेने का प्रयत्न नहीं करते। इसीलिए बहुत बार शास्त्रीय शब्दों के तात्त्विक अर्थों को समझने में भ्रम हो जाता है। हम बोलचाल में जब कहते हैं—'अरे वह भी कोई आदमी है!' —तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह कोई चौपाया जानवर है। अभिप्राय केवल इतना ही है कि वह मनुष्यता के सामान्य स्तर से गिरा हुआ है। इसलिए अविद्या का अर्थ भी अज्ञान नहीं, बल्कि गम्भीर ज्ञान से भिन्न कुछ-कुछ अगम्भीर ज्ञान है।

मुण्डकोपनिषत् के प्रारम्भ में ही शौनक ऋषि आंगिरस ऋषि से पूछते हैं—"किस तत्त्व को जान लेने पर सारे विश्व को जाना जा सकता है?" आंगिरस ऋषि उत्तर देते हैं—"परा और अपरा विद्या नाम से दो विद्या प्रसिद्ध हैं, इन दोनों को प्राप्त करके ही मनुष्य सब-कुछ जान सकता है।" (**'यस्तद् वेदोभयं सह।**) आंगिरस ऋषि यह भी स्पष्ट करते हैं कि समस्त वेद-वेदांग और सृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान अपरा विद्या है, और अविनाशी परब्रह्म परमात्मा का (या आत्मतत्त्व का) ज्ञान जिससे होता है वह परा विद्या है। अन्य उपनिषदों में परा और अपरा को ही विद्या और अविद्या कहा है। एक सामान्य अर्थ यों समझना चाहिए कि नित्य पदार्थों का ज्ञान परा विद्या और अनित्य पदार्थों का ज्ञान अपरा विद्या है। विद्या और अविद्या इन दोनों शब्दों का यही अभिप्राय है। इसी को अध्यात्म-ज्ञान और भौतिक ज्ञान भी

कह सकते हैं। आज की परिभाषा में एक को फिलॉसफी (दर्शन) और दूसरी को साइंस (विज्ञान) कहेंगे। परा और अपरा दोनों मिलाकर ब्रह्मविद्या के अंग बनते हैं, जो सच्चा ज्ञान है—वैसा ज्ञान, जिसके बिना मुक्ति सम्भव नहीं—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' श्रीमद्भगवद्गीता ने इसी बात को अलग ढंग से विवेचित किया है :

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(भगवद् गीता ७।२, ४, ५, ६, ७)

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि 'मैं तुझे विज्ञान-सहित उस ज्ञान का बोध कराता हूँ जिसे जानने के बाद और कुछ जानने को शेष नहीं रहता। प्रकृति अष्टधा (आठ प्रकार की) है जिसमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पाँच महाभूत हैं और इनके साथ मन, अहंकार और बुद्धि शामिल हैं। (महाकवि कालिदास ने भी 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के मंगलाचरण में प्रकृति के अष्टधा रूप का उल्लेख किया है।) यह अपरा (जो परे नहीं, परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष है अर्थात् जड़ है) कहलाती है। इसके अतिरिक्त मेरी परा प्रकृति जीवात्मा के रूप में है। इन्हीं दोनों से सारा जगत् धारण किया जाता है, अर्थात् इन दोनों के संयोग से ही जगत् बना है। इन दोनों—जड़ प्रकृति और जीवात्मा—के संयोग से ही जगत् बन गया, यह समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त परमात्मा है—श्रीकृष्ण अपने-आपको परमात्मा का स्थानापन्न मानकर 'अहम्' शब्द से सम्बोधित कर रहे हैं—जो जगत् को उत्पन्न करता है और प्रलय करता है। यही सब-कुछ इस जगत् में है। इसकी सामान्य जानकारी को ज्ञान, और विशेष जानकारी को विज्ञान (वि + ज्ञान = विशेष ज्ञान) कहते हैं।'

विशेष ज्ञान से अभिप्राय है जगत् के मूल का ज्ञान—यह जगत् कहाँ से उत्पन्न हुआ, जिससे इसकी उत्पत्ति हुई उसका स्वरूप क्या है, उसके लक्षण और उसका स्वभाव क्या है? प्रकृति के आठ रूपों को अपरा कहा है, तो वह जगत् का मूल नहीं हो सकती। मूल तो वही होगा जो परे है, परोक्ष है और प्रकृति से सूक्ष्म है। परमात्मा दृश्य जगत् का निमित्त कारण है और जीवात्मा उसका भोक्ता है।

अष्टधा प्रकृति उसका उपापान कारण है। मूल प्रकृति भी परमात्मा और जीवात्मा की तरह अनादि है। फिर गीता देखिए।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। (गीता १३।१९)

'प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) इन दोनों को अनादि जानो।' अतः ज्ञान से अभिप्राय है दृश्य पदार्थों का ज्ञान और विज्ञान से अभिप्राय है—अदृश्य, अप्रत्यक्ष, अव्यक्त पदार्थों का ज्ञान। प्रकृति के आठ रूप ही अप्रत्यक्ष हैं। उनके गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन और परमात्मा द्वारा उनके निर्माण की प्रक्रिया को जानना ज्ञान है। जब तक जीवात्मा शरीर में रहता है तब तक उसका कार्य ज्ञान के अन्तर्गत आता है; शरीर से पृथक् होते ही वह विज्ञान का विषय बन जाता है। ऐसे ही परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का वर्णन भी विज्ञान के अन्तर्गत आता है।

प्राच्य और पाश्चात्य विज्ञान

अंग्रेजी का 'साइंस' शब्द मूल रूप से ज्ञान का ही वाचक है। लेटिन में 'साइंसिया' (Scientia) शब्द का अर्थ ज्ञान ही है। साइंस का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। एक शब्द में, कार्य-जगत् या दृश्यमान जगत् की व्याख्या ही साइंस है। यहीं से भारतीय विज्ञान और पाश्चात्य विज्ञान का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। पाश्चात्य विज्ञान अपने-आपको कार्य-जगत् की व्याख्या तक ही सीमित रखता है, जबकि भारतीय विज्ञान उस कार्य-जगत् के मूल रूप को जाने बिना उसे अधूरा मानता है। पाश्चात्य विज्ञान में मूल की खोज की भावना नहीं है, वह केवल पत्तों को ही सींचने तक सीमित रहना चाहता है। पाश्चात्य विज्ञान यह नहीं जानता कि **'छिन्ने मूले नैव फलं न पुष्पम्'**—मूल नहीं तो न फूल, न फल। पाश्चात्य वैज्ञानिक जगत् की तो व्याख्या करते हैं, पर जगत् क्यों बना, उसका मूल क्या है—इसका उत्तर उनके पास नहीं है।

ऋषि दयानन्द ऋग्वेद-भाष्य के आरम्भ में ऋक् शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावान्
अनया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चेति ऋग्वेदः।"

अर्थात् जिससे पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव का ज्ञान होता है, वही ऋग्वेद है। ऋचाएँ स्तुति के रूप में पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव का ही वर्णन करती हैं।

प्रकृति अपने रहस्यों को छिपाकर नहीं रखती। वे तो प्रकृति के मुख पर ही लिखे मिल जाते हैं। उनके लिए बड़े-बड़े यन्त्रों की भी आवश्यकता नहीं होती। अलबत्ता तह तक पहुँचने वाली आँख अवश्य चाहिए। उनको देख (Observe) कर बुद्धि का प्रयोग करना है। यह Observation साइंस है तो बुद्धि का प्रयोग

दर्शन है—Logic है। भाप से देगची का ढक्कन हिलता देखा तो भाप की शक्ति का भान हुआ, फिर बुद्धि के प्रयोग से भाप का इंजिन बना—लकड़ी और कोयले की शक्ति के प्रयोग का ढंग निकला और उससे रेलगाड़ियाँ तथा बड़े-बड़े कल-कारखाने चलने लगे।

विल ड्यूरेण्ट के 'दि स्टोरी ऑफ फिलॉसफी' में साइंस और फिलॉसफी के सम्बन्ध में दिये गए इन दो वाक्यों को देखिए—

Science gives us Knowledge but Philosophy gives us Wisdom.

Science is analytical description, philosophy is synthetic interpretation.

साइंस से हमें जानकारी (ज्ञान) प्राप्त होती है, और फिलॉसफी से सत्य को समझने की बुद्धि आती है···साइंस विश्लेषणात्मक विवेचन है, तो फिलॉसफी संश्लेषणात्मक व्याख्या है।

भारतीय शास्त्र वैज्ञानिक उसे कहते हैं जो तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान में आस्था रखता हो, स्वयं संयमी और योगी (यत-चित्त) हो, जिसकी बुद्धि निर्मल हो (इसी के लिए तो योगाभ्यास की आवश्यकता होती है)। तभी यह बात समझ में आती है कि पं० गुरुदत्त विद्यार्थी विज्ञान की उपासना करते-करते योगाभ्यास की ओर क्यों मुड़ गए। यों पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अपनी एकाग्रता और ध्यान-धारणा आदि के कारण योगी से कम नहीं होते, पर रूढ़ अर्थों में उन्हें योगाभ्यासी नहीं माना जा सकता। तभी तो वे मानव-जाति के विनाशकारी शस्त्रास्त्रों के निर्माण और आविष्कार में सहायक बनते हैं।

ऋषि दयानन्द पहले वेदभाष्यकर्ता हैं जिन्होंने वेदों को सब सत्यविद्याओं का स्रोत सिद्ध करते हुए आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों का भी वेदों में सूत्र-रूप में उल्लेख होने का सप्रमाण समर्थन किया। कांग्रेस-जैसी अ० भा० राष्ट्रीय संस्था के संस्थापक अंग्रेज सर ए० ओ० ह्यूम जैसे व्यक्ति ने भी, जो ऋषि के समकालीन थे, ऋषि का इस बात के लिए उपहास किया था कि वेदों में विमान-विद्या का वर्णन बताते थे। ह्यूम के सही शब्द तो उपस्थित नहीं है, पर भाव यही था—"ऋषि दयानन्द का दिमाग फिर गया है। भला कहीं इन्सान भी आकाश में उड़ सकता है?"

कारण यह है कि तब तक संसार में विमानों का आविष्कार नहीं हुआ था। आधुनिक युग में विमान का प्रथम आविष्कार राइट-बन्धुओं ने सन् १८९२ के आसपास किया था, इसलिए पाश्चात्य जगत् में उसकी कल्पना भी नहीं थी। भारतीय ग्रन्थों में उसका उल्लेख अवश्य था, पर उसे पश्चिम के लोग कपोल-कल्पना मानते थे।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

जिस तरह ऋषि वेदों में विज्ञान का स्पष्ट उल्लेख करने वाले प्रथम व्यक्ति थे, उसी तरह यह भी स्वीकार करना होगा कि आधुनिक वैज्ञानिक परिभाषाओं की शब्दावली में वेद-मन्त्रों का अर्थ करने वाले प्रथम व्यक्ति पं० गुरुदत्त विद्यार्थी थे। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी स्वयं पाश्चात्य विज्ञान के पण्डित थे, पंजाब के गवर्नमेण्ट कॉलिज में उसी विषय के प्रोफेसर रहे थे, स्वयं अत्यन्त प्रतिभाशाली और अद्भुत स्मरण-शक्ति के धनी थे, और जब आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के विचारों के सम्पर्क में आए तो वैदिक मन्तव्यों के प्रति उनकी आस्था इतनी दृढ़ हो गई कि उन मन्तव्यों के सामने उन्हें पाश्चात्य दर्शन और पाश्चात्य विज्ञान दोनों फीके लगने लगे। स्वल्प वय में ही उनकी विद्वत्ता की धाक ऐसी जम गई कि उस समय का समस्त बुद्धिजीवी-वर्ग उसके सामने नतमस्तक हो उठा। जब उन्होंने ऋग्वेद के मण्डल १ सूक्त २ में मन्त्र-संख्या ७ में वर्णित मित्र और वरुण शब्द का अर्थ हाइड्रोजन और ऑक्सीजन किया और उसकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए पूरी संगति लगाई तो पाश्चात्य वैज्ञानिक भी चकित रह गए। वह मन्त्र इस प्रकार है—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। (ऋक् १।२।७)
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ (ऋक् १।२।१)

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का वैदिक वाङ्मय का स्वाध्याय-योगाभ्यास जितना बढ़ता गया, उतना ही उनकी प्रतिभा का प्रकाश फैलता गया। ऋषि के प्रति, संस्कृत के प्रति और वेदों के प्रति उनकी आस्था बढ़ती गई। पर अघटित-घटना-पटीयसी, भगवती नियति को कदाचित् इतनी स्वल्प वय में इतनी सुगन्धि का प्रसार अखर गया और केवल २६ वर्ष की वय में उसको तोड़कर अपने काल-रूपी केश-पाश में उसने सजा लिया। कदाचित् ऋषि दयानन्द के अवसान के पश्चात् आर्य-जगत् के लिए यह दूसरा वज्रपात था जिससे सारी आर्य जनता श्री-हीनता अनुभव करने लगी। २६ अप्रैल, १८६४ को उनका जन्म हुआ और १६ मार्च, १८६० को वे कैवल्य के विशाल वदन में विला गए। हा हन्त!

दूसरा गुरुदत्त

अब 'दो गुरुदत्त' के शीर्षक के संगतीकरण का अवसर आ गया।

जिस प्रकार आर्यसमाज में आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली के सन्दर्भ में वेदमन्त्रों और वैदिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने की पौध पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने रोपी थी, उसी पौध को अपनी प्रतिभा और श्रम के जल से सींचा है वैद्य गुरुदत्त ने। वैद्य गुरुदत्त कितने महान् लेखक थे, यह तो सब जानते

और मानते है, पर वे कितने मौलिक चिन्तक थे और विज्ञान तथा वैदिक वाङ्मय का उनका कितना गम्भीर अध्ययन था, यह अभी पूरी तरह प्रकाश में नहीं आ पाया है। उसका मूल कारण यह है कि उन्होंने इतने अधिक उपन्यास लिखे हैं कि वे उपन्यासकार के रूप में तो विख्यात हो गए—स्वयं यूनेस्को की रिपोर्ट के अनुसार वे हिन्दी के सबसे अधिक पढ़े जाने वाले लोकप्रिय उपन्यासकार थे—इसीलिए उनका उपन्यासकार-रूप और सब रूपों पर हावी हो गया। उनके वैज्ञानिक वेद-व्याख्याता के रूप की कहीं चर्चा सुनाई नहीं देती।

हम नहीं जानते कि उनके माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम गुरुदत्त क्यों रखा था। पर कभी-कभी लगता है कि कहीं यह प्रच्छन्न रूप से पं० गुरुदत्त विद्यार्थी की दिवंगत आत्मा का आह्वान तो नहीं था? पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का देहावसान १९ मार्च १८९० को हुआ, और वैद्य गुरुदत्त का जन्म ८ दिसम्बर १८९४ को हुआ। क्या पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की आत्मा इतने समय तक अपने अनुकूल चोला पाने की प्रतीक्षा करती रही? और हाँ, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने जितनी कम उम्र पाई, वैद्य गुरुदत्त ने उतनी ही लम्बी उम्र पाई। पण्डित गुरुदत्त केवल २६ वर्ष इस लोक में रहे, और वैद्य गुरुदत्त ९५ वर्ष इस धरा को सुशोभित करते रहे। उनकी निधन-तिथि है ८ अक्टूबर, १९८९। तो क्या नियति को स्वयं अपने उस अन्याय पर पश्चात्ताप हुआ जो उसने पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी को केवल २६ वर्ष की आयु में अपने पास बुलाकर किया था और उसी गलती का प्रायश्चित्त करने के लिए वैद्य गुरुदत्त को इतनी लम्बी आयु दी? पाठक इसे मानसिक उड़ान कह सकते हैं, पर हमें यह उड़ान न्यायोचित प्रतीत होती है। यदि परमात्मा की सृष्टि में सर्वत्र एक सन्तुलन है, जिसे योगी या वैज्ञानिक ही अच्छी तरह हृदयंगम कर सकते हैं तो इस घटना-चक्र को भी उसी सन्तुलन का परिणाम क्यों न समझें!

वैद्य गुरुदत्त भी पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की तरह विज्ञान के पण्डित थे, विज्ञान के माध्यम से ही दोनों ने सरकारी सर्विस के रूप में अपनी आजीविका प्रारम्भ की थी। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने उत्तरकाल में आयुर्वेद का अध्ययन भी प्रारम्भ किया था, तो वैद्य गुरुदत्त ने सरकारी सर्विस छोड़ने के बाद, आयुर्वेद में पाण्डित्य प्राप्त करके वैद्यक के माध्यम से आजीविका चलाई, तभी वे 'वैद्य गुरुदत्त' के नाम से मशहूर हुए। बाद में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी की तरह वैद्य गुरुदत्त ने भी अपना सारा समय साहित्य-सेवा को अर्पित कर दिया। रंग दोनों गुरुदत्तों पर ही आर्य-समाज और ऋषि दयानन्द का था, और वह रंग इतना पक्का था कि अन्य रंग भले ही छूट जाएँ, पर यह रंग छूटने वाला नहीं था। शायद दयानन्दी रंग की यही विशेषता है—एक बार लगा तो छूटने का नाम ही नहीं! बल्कि दिन-प्रतिदिन गहरा और गहरा!

वैद्य गुरुदत्त ने किस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक खोजों के आधार पर

वैदिक मन्तव्यों को समझने और समझाने का प्रयत्न किया है, उसका एक उदाहरण, हाल में ही उनके कुछ गम्भीर ग्रन्थों को पढ़ने के पश्चात् जो हमारे सामने आया है, पाठकों के समक्ष उपस्थित करना चाहते है। (यह खेख लिखते समय पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी का कोई ग्रन्थ उपस्थित न रहने के कारण उसके विवेचन में असमर्थता के लिए पाठकों से क्षमा-प्रार्थी हैं।)

जगत्-रचना की प्रक्रिया

यह ब्रह्माण्ड किस मूल पदार्थ से बना है, अभी तक वर्तमान युग के वैज्ञानिकों को यह पता नहीं चला, न ही वे ऊर्जा (Energy) और जड़ पदार्थ (Matter) में अन्तर पता लगा सके। इसीलिए उनके विचार का आधार बदलता रहता है। कभी वे कणवाद की ओर झुकते हैं और कभी तरंगवाद की ओर, जिसकी चर्चा हम **'तदेजति तन्नैजति'** के सिलसिले में 'क्वाण्टम' के सम्बन्ध में कर चुके हैं।

प्रकृति की व्याख्या करते हुए सांख्यदर्शन ने कहा है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सांख्य १।६१)

सत्त्व, रज और उनकी साम्यावस्था प्रकृति है। उस प्रकृति के स्वभाव और रूप के सम्बन्ध में मनुस्मृति का कथन है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनु० १।५)

अर्थात् वह अन्धकारमय, इन्द्रियों से न जानी जा सकने वाली, लक्षणों से रहित, तर्कणा से परे और सर्वत्र सोई हुई-सी थी। एक असत् (Without form) 'प्रसुप्तमिव' अर्थात् सोई हुई-सी वस्तु को वैज्ञानिक परिभाषा में 'Inert matter' कहा जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक उस वस्तु को अपनी खोज का विषय नहीं मानते, क्योंकि यह प्रयोगशाला का विषय नहीं। अन्य भारतीय शास्त्रों ने और स्वयं ऋग्वेद ने 'नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्' मंत्र (ऋक् १०।१२९।१-२) में स्वयं इसी प्रकार का वर्णन किया है।

अब यह साम्यावस्था क्या है, यह देखिए। मूल प्रकृति (प्राइम ऑर्डियल मैटर) परमाणु-रूप है। इसके कण हैं और यह पूर्ण अम्बर में भर रहे हैं। प्रकृति का यह परमाणु वैज्ञानिकों का 'ऐटम' नहीं, क्योंकि ऐटम पदार्थों का सबसे छोटा टुकड़ा नहीं। इसके भी टुकड़े हो चुके हैं और उनके गुण-कर्म-स्वभाव का पता लग चुका है।

प्रत्येक परमाणु के तीन गुण होते हैं। इनके नाम हैं—सत्त्व, रज और तम। ये प्रकृति की मूल अवस्था में, साम्यावस्था में रहते हैं—, अर्थात् परमाणु के भीतर ही एक-दूसरे के प्रभाव को विलीन करते रहते हैं। साम्यावस्था को 'Balanced

State' कह सकते हैं। इन तीनों गुणों के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार है—

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्।

(सांख्य १।१२८)

छोटे होने में तीनों गुण समान हैं परन्तु उनके प्रभाव परस्पर-विरोधी हैं। वह भिन्नता किस प्रकार की है, इसका भी वर्णन वहीं है—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मैर्गुणानामन्योन्यं वैधर्म्यम्। (सांख्य १।१२७)

अर्थात् एक आकर्षण (Attraction) करता है तो दूसरा विकर्षण करता है और तीसरा विषाद गुण वाला (Neutral) है। गुणों का यह वैधर्म्य परमाणु के भीतर ही विलीन हो जाता है। यही है परमाणु की साम्यावस्था।

प्रत्येक परमाणु के तीन विभाग किये जाते हैं। ये आकार-विस्तार में समान हैं, उनमें आकर्षण-विकर्षण (प्रीति, अप्रीति और विषाद को आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में नैगेटिव, पॉजिटिव और न्यूट्रल कह सकते हैं।

जब यह आकर्षण-विकर्षण की स्थिति भंग होती है तभी सृष्टि-रचना आरम्भ होती है। इस साम्यावस्था को भंग करने की सामर्थ्य का नाम वेद में प्राण कहा गया है। गुण गुणी से पृथक् नहीं हो सकता। अतः परमाणुओं में गुणी का सन्तुलन टूटने का कारण किसी गुण का न्यूनाधिक होना नहीं, बल्कि यह है कि गुण पहले अन्तर्मुखी थे, वे बहिर्मुखी हो जाते हैं।

वह प्राण क्या है? इसके लिए अथर्ववेद का मन्त्र है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

(अथर्व० ११।४।१)

उस प्राण को नमस्कार है जिसके वश में समस्त संसार है। जो स्वयंभू है, सबका ईश्वर है और जिसमें सब-कुछ प्रतिष्ठित है, अर्थात् यहाँ प्राण परमेश्वर का वाचक है। मनुस्मृति में इस प्रकार कहा है—

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥

(मनु० १।७-८)

उस परमेश्वर ने सृष्टि-रचना का ध्यान किया और **आपः** की रचना करके उसमें शक्ति-रूप बीज डाला, अर्थात् सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था में परिवर्तन आते ही सबसे पहले **आपः** की रचना होती है। वह **आपः** क्या है? सांख्यकार कहते हैं—

प्रकृतेर्महान्। (सांख्य १।६१)

प्रकृति से महान् बनता है—अर्थात् आपः और महान् दोनों शब्द एक ही अर्थ

के द्योतक होने चाहिएँ। प्रकृति की साम्यावस्था के बाद बनने वाला यह आपः इतना विस्तृत था कि उसी से सारा जगत् बना। इसीलिए सांख्यकार ने उसे महान् शब्द से सम्बोधित किया। **आपः** क्यों कहा ?

आपः, महान् और अहंकार

प्रकृति का यह परिणाम तरलावस्था में था। तरल उसको कहते हैं जो अपना आयतन (Volume) तो स्थिर रखे, परन्तु अपना आकार स्थिर न रख सके, जैसे जल होता है। एक लोटे का जल गिलास या कटोरे में डालने पर उसका आकार लोटे से बदलकर गिलास या कटोरे का आकार ग्रहण कर लेता है, पर उसका आयतन नहीं बदलता। अतः जल भी तरल (Liquid) है।

वह महत्, आपः, वायवीय पदार्थ नहीं है, क्योंकि वायवीय पदार्थ अपना आयतन स्थिर नहीं रख सकते। यदि वह वायवीय होता तो समस्त अन्तरिक्ष में फैल जाता और तब जगत्-रचना न हो पाती। अतः महत् को आपः (जलीय अथवा तरल) माना है।

जब ये परमाणु अन्तर्मुखी से बहिर्मुखी होते हैं, तब ये आकर्षण-विकर्षण के कारण अन्य परमाणुओं को प्रभावित करने लगते हैं और परमाणुओं की लड़ियाँ बननी प्रारम्भ होती हैं, अर्थात् उनके परिमण्डल बनने लगते हैं। इन परमाणु-समूहों का नाम अहंकार है, क्योंकि कपिल मुनि के अनुसार प्रकृति से महान् बनने के बाद अहंकार की उत्पत्ति होती है। इस तरह से यह अहंकार द्रव्य बनने से पूर्व की स्थिति है, पर है यह अभी तक अतीन्द्रिय ही, क्योंकि इसमें रूप-रंग का समावेश अभी नहीं हुआ, क्योंकि वायु की रचना अभी नहीं हुई और द्रव्य में रूप-रंग वायु के बिना सम्भव नहीं। परमाणुओं की लड़ियाँ बन जाने पर भी वे रूप-रंग-विहीन ही रहते हैं, इसीलिए अतीन्द्रिय होते हैं। वैशेषिक दर्शन में रूप-रंग को रूप और संस्कार शब्द से अभिहित किया है। रूप का अर्थ है—लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई इत्यादि, अर्थात् आकार (Form), और संस्कार का अभिप्राय है उनका इन्द्रियों पर पड़ने वाला प्रभाव।

यहाँ जिस वायु का वर्णन है वह वायुमण्डल वाली हवा नहीं है, जिससे ऑक्सीजन और नाइट्रोजन मिली है। वायु का अर्थ है गति—वह भी एक शक्ति है। परमाणुओं की लड़ियों में अभी गति उत्पन्न नहीं हुई, इसलिए उनमें रूप और संस्कार भी नहीं। इसी का यह भी अर्थ है कि जब ये परमाणु-परिमण्डल गतिशील होते हैं तो रूप की उपलब्धि होती है। वैशेषिक दर्शन कहता है—

अनेकद्रव्यसमवायादिरूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः। (वैशे० ४।१।८)

अनेक द्रव्यों के समवाय से—मिलने से और उनकी विशेषता से रूप की उपलब्धि होती है।

प्रकृति से बनने वाले महान् अर्थात् आपः को ऋग्वेद में 'सलिल' भी कहा है। सलिल में तरल होने का ही भाव है। इसी सलिल को अन्यत्र उसके विस्तार के कारण समुद्र भी कहा है। इन्हीं शब्दों के कारण उनके वास्तविक अभिप्राय को न समझने से सृष्टि के आदि में पानी के समुद्रों की कल्पना चल पड़ी जिसको अन्य मत-मतान्तरों ने भी ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया।

महत् (आपः) से बनने वाले परमाणु-समूहों को अहंकार कहते हैं। मुख्य रूप से ये अहंकार भी तीन प्रकार के बनते हैं। जो सत्त्वगुण-प्रधान होते हैं वे वैकारी अहंकार कहाते हैं, जो रजोगुण-प्रधान होते हैं वे तैजस अहंकार कहाते हैं, और जो तमोगुण-प्रधान होते हैं वे भूतादि अहंकार कहाते हैं। अहंकारों (परिमण्डलों) के ये नाम उनके छोटे-बड़े होने के कारण नहीं, अपितु उनके गुणों के कारण दिये गए हैं। इन अहंकारों को वर्तमान वैज्ञानिक भी जानते हैं। वे इन्हें इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन कहते हैं। ये भी छोटे-बड़े होते हैं, पर इनमें भेद उनके छोटे-बड़े होने के कारण नहीं, प्रत्युत उनके गुणों के कारण होता है।

वर्तमान विज्ञान के साथ तुलना करें तो उक्त विवेचन का सार इस प्रकार होगा—

(१) मूल है प्रकृति जो गुणों की साम्यावस्था होती है। वहाँ तक अभी वैज्ञानिक नहीं पहुँचे।

(२) महत् प्रकृति की वह अवस्था है जिसमें गुण बहिर्मुखी होते हैं। वर्तमान विज्ञान यह भी नहीं जानता।

(३) परमाणु-समूह अर्थात् परिमण्डल जिन्हें अणु भी कहते हैं, ह्रस्व, दीर्घ कई परिमाणों के होते हैं। वैज्ञानिक इनका अनुमान ही करते हैं और वे इन्हें 'कॉस्मिक रे' (Cosmic Ray) अथवा 'कॉस्मिक डस्ट' (Cosmic dust) आदि नाम से पुकारते हैं।

(४) अहंकारों को वर्तमान वैज्ञानिक जानते हैं। वे इन्हें इलेक्ट्रोन, प्रोटोन और न्यूट्रोन कहते हैं।

(५) अहंकारों के विवर्त को परिमण्डल कहते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक इन परिमण्डलों को जानते हैं और उन्हें अणु या ऐटम कहते हैं। वैज्ञानिक यह भी मानते हैं कि ऐटम में न्यूट्रोन (भूतादि अहंकार) और प्रोटोन (वैकारी अहंकार) केन्द्र में होते हैं, और इलेक्ट्रोन (तैजस अहंकार) इनके चारों ओर घूम रहे हैं।

(६) इन अणुओं के संयोग-वियोग का वर्तमान वैज्ञानिकों ने गहन अध्ययन किया है और आधुनिक वैज्ञानिक टेक्नॉलोजी की उन्नति उसी अध्ययन का परिणाम है।

(७) परिमण्डलों के—ऐटमों के—संयोग-वियोग की विद्या ही रसायनशास्त्र (कैमिस्ट्री) है। आधुनिक वैज्ञानिकों को रासायनिक क्रियाओं के जितने नियमों का

ज्ञान है उनमें से मुख्य-मुख्य नियमों का ज्ञान प्राचीन भारतीय ऋषियों को भी था।

(८) पदार्थों की तीन अवस्थाओं (ठोस, तरल, वायवी) के विषय में भी भारतीयों को ज्ञान था।

भारतीय विज्ञान यह मानता है कि परिमण्डल और संयुक्त पदार्थों के अणु (Atoms and molecules) सूक्ष्म पंच महाभूत कहलाते हैं। इन पंच भूतों की स्थूल अवस्था में वे ठोस, तरल और वायवी अवस्था में दीखने लगते हैं, जो इन्द्रियगम्य हैं। स्थूलभूत भी पाँच हैं।

ठोस, तरल, वायवी

आधुनिक विज्ञान के अनुसार ठोस, तरल और वायवी में क्या अन्तर है, यह देखें—

यह माना जाता है कि प्रत्येक परिमण्डल अथवा संयुक्त पदार्थ (Molecule) का ठोस, तरल या वायवी प्रत्येक अवस्था में अपने एक केन्द्र पर स्पन्दन (Vibrate) करता रहता है। यहाँ परिमण्डल के भीतर वाली (Inter atomic, तैजस अहंकार) गति से अभिप्राय नहीं। यह स्पन्दन तापमान बढ़ जाने पर (Size of temperature) गति और परिधि में बढ़ जाता है। प्रत्येक परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूह का स्पन्दन एक ही तापमान पर भिन्न-भिन्न होता है। जब वे परिमण्डल (Molecule) वायवी अवस्था में होते हैं तो इतने वेग से स्पन्दन कर रहे होते हैं कि यदि उन्हें बाँधकर न रखा जाए तो वे अपना आयतन (Volume) स्थिर नहीं रख पाते—जितना स्थान हो उतने ही फैल जाते हैं।

इस वायवी पदार्थ को ठण्डा करने से इसके स्पन्दन को कम किया जा सकता है। इतना कम भी कर सकते हैं कि तब इसके परिमण्डलादि सहज ही किसी बर्तन में रखे जा सकते हैं। तब यह तरल अवस्था में हो जाता है। उसे और भी ठण्डा करने पर वह ठोस अवस्था में भी आ सकता है। ऐसी अवस्था में उस परिमण्डल का स्पन्दन उतना क्षीण और कम परिधि में हो जाता है कि वह अपने साथी परिमण्डलों को छोड़ भी नहीं सकता।

भारतीय विज्ञान में थोड़ा-सा अन्तर यह है कि वह केवल परिमण्डल नहीं, पदार्थों को बनाने वाले कणों को भी मानता है। ये कण अन्तरिक्ष में विद्यमान हैं। इनमें ह्रस्व और दीर्घ परमाणु-समूह जब ऐसे होते हैं जिनमें आकर्षण-विकर्षण नहीं होता और वे परिमण्डलों के निर्माण में भाग नहीं ले रहे होते, तो वे पूर्ण अन्तरिक्ष में फैल जाते हैं। ऐसे परमाणु-समूह भी ब्रह्माण्ड में हैं। इनको भारतीय वैज्ञानिक आकाश के नाम से स्मरण करते हैं। यह आकाश भी एक प्रकार का निर्मित पदार्थ ही माना जाता है और वह पंच महाभूतों में से एक है। अन्य महाभूतों से यह सूक्ष्म है। वह दृश्यमान जगत् में दिखाई नहीं देता, फिर भी जगत् में उसका एक कार्य

है। वह शब्द-वाहक (Transmitter of waves) माना जाता है। शब्द-वाहक का अर्थ है वह माध्यम जिसमें रश्मियाँ चल सकती हैं। तरंगों से ही ऊर्जा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है। आकाश इन तरंगों के चलने में सहायक होता है। यह तो सुविदित तथ्य है कि ऊर्जा के जितने रूप हैं—जैसे शब्द, ताप, प्रकाश, विद्युत् आदि—वे सब परस्पर परिवर्तनीय हैं—Inter convertible हैं, अर्थात् शब्द को ताप में, विद्युत् में या विद्युत् को ताप में, प्रकाश में और शब्द में बदला जा सकता है। तत्त्वतः ऊर्जा—Energy एक ही है, उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम अनेक हैं। अन्तरिक्ष आकाश से भरा हुआ है और वह ताप, प्रकाश, विद्युत् और शब्द की तरंगों की गति में माध्यम का काम करता है। आधुनिक वैज्ञानिक उसे मानने तो लगे हैं, पर उनकी मान्यता वैसी नहीं है जैसी भारतीय वैज्ञानिकों की है।

इन पंच महाभूतों में से तीन तो पदार्थों (Matter) के तीन रूप हैं जो परिमण्डलों और उनके समूहों (Atoms and Molecules) से बनते हैं। ये हैं वायवी, जलीय और ठोस। ये पदार्थों की तीन अवस्थाएँ हैं; कोई एक पदार्थ नहीं हैं। ये अवस्थाएँ परिमण्डल के स्पन्दनों पर निर्भर होती हैं। जब परिमण्डल परस्पर तो बँधे नहीं रहते, पर अपने केन्द्र से बँधे रहते हैं तब उनकी तरलावस्था होती है; जब परिमण्डल केन्द्र से बँधने के साथ परस्पर भी बँधे होते हैं तब उनकी ठोस अवस्था होती है। वायवी अवस्था तब होती है जब स्पन्दन की परिधि इतनी बढ़ जाए कि पड़ोसी परिमण्डल से सम्बन्ध छूटने के साथ केन्द्र से भी सम्बन्ध-विच्छेद हो जाए। इस अवस्था में यदि इन्हें बाँधकर न रखा जाए तो बे-लगाम होकर सर्वत्र बिखर जाते हैं।

तन्मात्राएँ

अहंकारों से तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं जो पाँच प्रकार की हैं और इन पाँचों के प्रभाव से सूक्ष्मभूत स्थूल भूत बन जाते हैं। मुख्य रूप से उनका कार्य सूक्ष्म भूतों को स्थूल रूप देना ही है। ये किसी प्रकार के पदार्थ नहीं हैं, क्योंकि अपना काम करके ये विनष्ट हो जाती हैं। ये एक तरह की शक्ति-तरंगें हैं। यह शक्ति कार्य-रूप में परिणत हो जाती है, जैसे कि विद्युत्-तरंग प्रकाश के लिए प्रयुक्त होती है और विद्युत् प्रकाश में समाप्त हो जाती है।

इन पंच तन्मात्राओं को स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि ये एक तरह की शक्ति-तरंगें हैं जिनके कारण परिमण्डल बनते हैं। (१) इन्हें इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन का आकर्षण-विकर्षण कहा जा सकता है। परिमण्डल बनते हैं, फिर वे टूट नहीं सकते; कोई शक्ति उन्हें बाँधे रखती है। (२) दूसरे प्रकार की तन्मात्रा वह है जिससे परिमण्डल केन्द्र में स्पन्दन करते हैं, जिससे उनकी ठोस, तरल या वायवी स्थिति बनती है। (३) तीसरी प्रकार की तन्मात्रा वह है जिसे रासायनिक आकर्षण

या अनुकूलता (Chemical affinity) कह सकते हैं।(४) चौथी प्रकार की तन्मात्रा को भू-आकर्षण (Gravity) कह सकते हैं। (५) पाँचवीं प्रकार की तन्मात्रा चुम्बकीय शक्ति को कह सकते हैं।

अब प्रश्न यह है कि स्थूल जगत् बनाने में ये किस प्रकार सहायक होती हैं। इसका उत्तर यह है—पंच महाभूतों में एक है अग्नि। जब कोई पदार्थ अपने में आग्नेय शक्ति (वह शक्ति जिसके विनिर्मुक्त होते ही ऊर्जा प्रकट हो) रखे, तब उस पदार्थ को आग्नेय भूत कहते हैं। इसमें वह पदार्थ आ जाएगा जो अति सुगमता से विघटित हो अथवा किसी अन्य पदार्थ से संयुक्त होकर ताप निर्माण करता हो। इसका एक उदाहरण सोडियम है। इस महाभूत में स्व-विघटित परिमण्डल भी आ जाते हैं, जैसे रेडियम आदि।

इस प्रकार प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकारों से सूक्ष्म पंच महाभूत और फिर तन्मात्राओं की सहायता से पंच स्थूल महाभूत बनते हैं। जब स्थूल महाभूत बन जाते हैं तब उनसे जगत् के नाना स्थूल पदार्थ बनते हैं।

पंच महाभूत और नौ द्रव्य

भारतीय विज्ञान ने वैशेषिक दर्शन के अनुसार नौ द्रव्य माने हैं जिनके जानने से जगत् का ज्ञान हो जाता है। वे नौ द्रव्य हैं—

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, मन और आत्मा। पंच महाभूत भी इन नौ द्रव्यों में शामिल हैं।

(१) पृथिवी—सामान्य भाषा में इसका अर्थ है वह गोलाकार ग्रह जिस पर हम सब बसे हुए हैं। परन्तु वैज्ञानिक भाषा में पृथिवी से अभिप्राय है सब प्रकार के ठोस पदार्थ। जिस भूखण्ड पर हम निवास करते हैं वह पृथिवी इसी कारण है कि वह देखने में ठोस है, जबकि वस्तुतः इसका बहुत-सा भाग ठोस नहीं है।

(२) पृथिवी की भाँति जल भी एक द्रव्य है जिसे अंग्रेजी में Liquid कह सकते हैं। ऐसे पदार्थ को जल या पानी (Water) से अलग करने के लिए हम जलीय पदार्थ कह सकते हैं। जल भी एक जलीय पदार्थ है।

(३) तेज उन पदार्थों को कहते हैं जिनमें स्वयमेव अथवा सुगमता से शक्ति का आविर्भाव होता रहता है। इन पदार्थों को आग्नेय पदार्थ कहेंगे। इसके अन्दर विघटनात्मक (Radio-active) पदार्थ भी आ जाते हैं।

(४) वायु—इससे अभिप्राय उन पदार्थों से है जो सामान्य तापक्रम (Temperature) पर वायवी (Gaseous) अवस्था में हों।

(५) आकाश—उन द्रव्यों को कहते हैं जो परिमण्डलीय स्वरूप (Atomic form) के नहीं हैं, फिर भी वे प्रकृति की ही उपज हैं।

पाश्चात्य ढंग से शिक्षित लोग भारतीय दार्शनिकों की हँसी उड़ाते हुए कहते

हैं कि वे इन पाँच द्रव्यों को तत्त्व मानते हैं। पर वैशेषिक दर्शन इनको तत्त्व नहीं, द्रव्य मानता है। नौ द्रव्यों में आत्मा का नाम भी है। आत्म-तत्त्व के दो रूप हैं—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। दोनों तत्त्व भी हैं, द्रव्य भी हैं। प्रकृति भी द्रव्यों के ही अन्तर्गत है। अन्तर केवल इतना है कि आत्मा और परमात्मा परिणामी नहीं, अर्थात् इनमें परिवर्तन होने से कोई दूसरा द्रव्य नहीं बनता, जबकि प्रकृति परिणामी है और उससे अन्य द्रव्य भी उत्पन्न होते हैं।

काल, दिक् और मन ये लाक्षणिक द्रव्य हैं। द्रव्य तत्त्व नहीं भी होते। तत्त्व वस्तुतः उन पदार्थों को कहना चाहिए जिनका कारण न हो, जो अनादि हों और जो खण्डित न हो सकें।

पाश्चात्य वैज्ञानिक प्राकृतिक पदार्थों को १०२ तत्त्वों में विभक्त करते हैं, जैसे हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन, लोहा, सोना, रेडियम आदि। पर वास्तव में ये तत्त्व नहीं हैं। उन्नीसवीं शताब्दी तक इनको तत्त्व माना जाता था, अब इनको तत्त्व नहीं माना जाता। वास्तव में ये भौतिक पदार्थों की श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक श्रेणी के अपने पृथक्-पृथक् रासायनिक गुण हैं। इस कारण अब इनको रासायनिक तत्त्व (Chemical elements) कहा जाने लगा है। आज के युग में पदार्थों का रासायनिक तत्त्वों की श्रेणियों में विभाजन बहुत उपयोगी सिद्ध हो रहा है। द्रव्यत्व के विचार से १०२ तत्त्व मानना ठीक नहीं, भले ही रासायनिक क्रियाओं के विचार से उसे ठीक मान लिया जाए।

इसी प्रकाश में अब सांख्यदर्शन के रचना-अधिकरण में वर्णित सृष्टि-उत्पत्ति के प्रकरण की वैज्ञानिकता भलीभाँति समझी जा सकती है। मूल प्रकरण इस प्रकार है:

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। (सांख्य० १।६१)

'पञ्चविंशतिर्गणः' में गिनाए २५ पदार्थ निम्न प्रकार हैं—महत् १, अहंकार ३, तन्मात्राएँ ५, इन्द्रियाँ १० (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ), पञ्च महाभूत ५, कुल २४ तथा पुरुष १ मिलाकर २५। पुरुष का अर्थ है चेतन।

इसके बाद सांख्यदर्शन का ६२, ६३, ६४, और ६५वाँ सूत्र भी इसी विषय से सम्बद्ध है।

वैद्य गुरुदत्त द्वारा की गई जगत्-रचना-प्रक्रिया की इस वैज्ञानिक व्याख्या से जहाँ हमारे मन की अनेक शंकाओं का निवारण हुआ है, वहाँ पूरा प्रकरण अधिक बुद्धिग्राह्य भी बना है। जिन पाठकों की इस विषय में और जिज्ञासा हो वे गुरुदत्त द्वारा किये गए सांख्यदर्शन, वैशेषिकदर्शन और ब्रह्मसूत्र का भाष्य देखें।

('आर्य सन्देश' गुरुदत्त स्मृति अंक, १८ मार्च १९९०)

अपने लहू से लेखराम तेरी कहानी लिख गया

"संसार की उन्नति का इतिहास सदा ही महापुरुषों के रक्त से तैयार होता रहा है। जिन शूरवीरों ने धर्म के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया, यहाँ तक कि अपने प्यारे सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपने प्रिय प्राणों को न्यौछावर करने में भी संकोच नहीं किया, उनकी धर्म-परायणता ने उनके विचारों के प्रसार के लिए विद्युत् से भी बढ़कर कार्य किया है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी भी समुदाय के जीवन का अनुमान उसके त्याग, तप और बलिदान के आधार पर ही किया जा सकता है। प्रत्येक जीवित समाज और समुदाय अपने जीवन का प्रमाण इस प्रकार के बलिदानों के रूप में ही प्रस्तुत किया करता है। किसी भी सत्य के प्रचार को अपने विरोधियों के हाथों जितनी अधिक विपत्तियाँ सहन करनी पड़ती हैं, दूसरे शब्दों में, किसी भी सत्य-प्रचारक ने अपने आत्मप्रेरित सत्य के पक्ष में जितनी भी प्रबल शहादत प्रस्तुत की है, उसके सत्य का उतना ही अधिक प्रसार संसार में हुआ है। अतः धन्य है वह समुदाय और वह समाज जिसके प्रवर्तकों और प्रचारकों ने अपने प्रिय प्राणों का बलिदान करके, और धर्म के मार्ग में अपना खून बहाकर, अपनी और अपने सिद्धान्तों की सत्यता को प्रकट किया है।"

अमर हुतात्मा पं० लेखराम की संक्षिप्त जीवनी लिखते हुए 'कुलियात आर्य मुसाफिर' में उसकी भूमिका के रूप में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जो कुछ लिखा है, वही हमने ऊपर लिखा है। उन्होंने यह सन् १९०३ में लिखा था। परन्तु यह कौन जानता था कि यही सन्दर्भ स्वामी श्रद्धानन्द जी के सम्बन्ध में भी सत्य सिद्ध होने वाला है! वास्तविकता तो यह है कि आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् ऋषि दयानन्द के सम्पर्क में जो प्रबुद्ध लोग आये, वे आर्यसमाज के मिशन के पीछे इतने दीवाने बने कि उन्होंने आर्यसमाज के प्रचार के लिए अपना तन-मन-धन अर्पित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। आर्यसमाज की वह पहली पीढ़ी ऋषि दयानन्द-रूपी सूर्य से सीधा प्रकाश ग्रहण करके जैसे स्वतः प्रकाशित हो उठी। उसी का यह परिणाम है कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ इस आलोक से निरन्तर प्रकाशमान होती रहीं और प्रेरणा ग्रहण करती रहीं।

आर्यसमाज की नींव में जिन बलिदानियों का रक्त पड़ा है उसी से आर्यसमाज का यह पौधा धीरे-धीरे विशाल बटवृक्ष के रूप में अपनी छाया से विश्व को आप्यायित करने में संलग्न है। अन्य संस्थाएँ आर्यसमाज के इस सौभाग्य पर ईर्ष्या

कर सकती हैं और स्वयं आर्यसमाज को तो अपनी इस महान् और गौरवपूर्ण विरासत पर गर्व करने का उचित अधिकार है। अमर शहीद पं० लेखराम आर्य-समाज की उसी विरासत के एक अन्यतम जनक हैं। सन् १८५८ में उनका जन्म हुआ और सन् १८९७ ई० में केवल ३९ वर्ष की आयु में उन्होंने शहादत का जाम पी लिया। उनके बलिदान को सही परिप्रेक्ष्य में समझे बिना उसका उचित मूल्यांकन नहीं हो पाएगा।

अपने पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप बचपन से ही लेखराम कुछ ऐसी निष्ठा के धनी सिद्ध हुए कि उनका जीवन लाखों लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। पहले वे वेदान्ती बने, फिर जपुजी का पाठ करते-करते सिखों की ओर आकर्षित हुए, फिर जब एक धर्मात्मा बुजुर्ग सिख को अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति से नित्य प्रातः गीता का पाठ करते देखा तो ये भी गीता का पाठ करने लगे। पर उनके मन की उथल-पुथल शान्त नहीं हुई और मन में लगातार उठ रहे कई प्रश्नों का समाधान नहीं हुआ, तो सीमाप्रान्त में, अपने चारों ओर मुस्लिम-बहुल वातावरण के कारण उनके मन में भी एकेश्वरवाद के कारण इस्लाम के प्रति रुझान बढ़ गया। उन्हीं दिनों मुंशी अलखधारी की, जिन्हें स्वयं ऋषि दयानन्द ने इस्लाम से परा-वर्तित करके वैदिक धर्म की दीक्षा दी थी, एक किताब उनके हाथ लगी जिसमें उन्होंने पढ़ा कि धार्मिक मामलों में यदि किसी को कोई शंका हो तो वह ऋषि दयानन्द के पास जाकर अपनी शंकाओं का समाधान कर सकता है। फिर क्या था! वे पुलिस की सर्विस से एक महीने का अवकाश लेकर ऋषि दयानन्द के दर्शन करने के लिए अजमेर पहुँच गए। ऋषि दयानन्द से वार्तालाप करने के पश्चात् उनके मन की न केवल शंकाओं का समाधान हो गया, बल्कि वैदिक धर्म के शुभ प्रकाश से वह ऐसा देदीप्यमान हो उठा कि अन्तःकरण के पटल पर छाया कोहरा न जाने कहाँ विलीन हो गया!

उसके बाद तो आर्यसमाज की मन में ऐसी धुन सवार हुई कि वहाँ से लौटकर पेशावर में आर्यसमाज की स्थापना की और आर्यसमाज के प्रचार में तत्परता से जुट गए। लेखराम के मन में जिस प्रकार परिवर्तन हुआ, कुछ-कुछ वैसी ही लहर अन्य शिक्षित मुस्लिम युवा-वर्ग में भी पैदा होने लगी। ज्यों-ज्यों आर्यसमाज के मन्तव्यों का परिचय होता गया, त्यों-त्यों उनकी बुद्धि-संगतता उनके दिलों में बैठती गई और उनका झुकाव भी आर्यसमाज की ओर होने लगा। अंग्रेज शासकों को यह प्रवृत्ति सहन नहीं हुई, क्योंकि वे शुरू से ही आर्यसमाज के स्वतन्त्रता-प्रेम को देखते हुए उसे राजद्रोही संस्था समझने लगे थे। इसलिए मुसलमानों को आर्यसमाज से दूर रखने के लिए उन्होंने दो उपाय किये।

उन दिनों पढ़े-लिखे मुस्लिम युवकों पर दो व्यक्तियों का खासा प्रभाव था; एक थे सर सैयद अहमद और दूसरे थे गुलाम अहमद कादियानी। अंग्रेजों ने सर सैयद

अहमद को अलीगढ़ यूनिवर्सिटी खोलने का प्रलोभन देकर फोड़ा और मिर्जा को धन का प्रलोभन देकर आर्यसमाज के मुकाबले के लिए तैयार किया, ताकि सुशिक्षित मुस्लिम युवक आर्यसमाज के प्रभाव में न आ सकें।

सर सैयद ऋषि के भक्त और प्रशंसक थे। परन्तु अंग्रेजों की इस योजना के बाद वे भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के—उस समय आर्यसमाज और कांग्रेस जिसके दो प्रतीक थे—विरोधी हो गए और कट्टर अंग्रेजपरस्त हो गए। मिर्जा गुलाम अहमद ने भी आर्यसमाज के विरोध में ट्रैक्ट और किताबें लिखकर प्रचार करना शुरू कर दिया और अपने मुरीदों पर अपनी धाक जमाने के लिए वे अपने-आपको मसीहा और चमत्कारी पुरुष घोषित करने लगे। अन्धविश्वासी मुस्लिम-वर्ग उससे प्रभावित हुआ। अंग्रेजों की कृपा से मिर्जा को धन की कमी तो रही ही नहीं।

शुरू-शुरू में जब सिख बन्धु आर्यसमाज में शामिल होने लगे, तब अंग्रेजों ने सिखों को अलग करने के लिए भी इसी प्रकार की चाल चली थी और खालसा कॉलेज खोलकर सिखों को हिन्दुओं से अलग करने का षड्यन्त्र रचा था जिसका दुष्परिणाम आज खालिस्तान के आतंकवादी आन्दोलन के रूप में देश को भुगतना पड़ रहा है। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी का अन्तिम परिणाम हम देश के विभाजन के रूप में भुगत ही चुके हैं।

जब मिर्जा गुलाम अहमद ने वैदिक धर्म के सम्बन्ध में सर्वथा मिथ्या और अनर्गल बातें लिखनी शुरू कीं तो वैदिक धर्म के दीवाने पं० लेखराम को यह सहन नहीं हुआ और उसका उन्होंने तर्क, युक्ति और प्रमाणों-सहित सटीक उत्तर देना शुरू किया। उससे मिर्जा के मिथ्या प्रलाप की पोल खुलने लगी और पं० लेखराम के तर्कों का उससे उत्तर देते नहीं बना, तो उसने अपने चमत्कारों का ढिंढोरा पीटते हुए आर्यसमाजियों को भी यह चुनौती दी कि वे स्वयं कादियाँ आकर मेरे चमत्कारों को देखें, तब उनको विश्वास हो जाएगा कि खुदा के द्वारा मुझे सीधा इलहाम आता है या नहीं। पं० लेखराम ने इस चुनौती को भी स्वीकार कर लिया और स्वयं कादियाँ पहुँच गए। वे दो महीने तक कादियाँ में रहकर मिर्जा के चमत्कारों की प्रतीक्षा करते रहे, किन्तु चमत्कार न होने थे, न हुए। मिर्जा अहमद लगातार टालमटोल करते रहे। तब पं० लेखराम ने कादियाँ में आर्यसमाज की स्थापना की और मिर्जा के गढ़ में ही चुनौती देने वाले आर्य युवकों को तैयार किया। पाठकों को जानकर आश्चर्य होगा कि मिर्जा गुलाम अहमद के चचेरे भाई इमामदीन और मुल्ला हुसैनी भी नियमपूर्वक उस आर्यसमाज के सदस्य बने थे।

जब मिर्जा गुलाम अहमद अपने आसमानी चमत्कार नहीं दिखा सका और उसके मुरीदों में ही उसकी इज्जत घटने लगी, तब उसने प्रचारित किया कि मुझे खुदा की ओर से इलहाम हुआ है कि एक साल के अन्दर पं० लेखराम को अपने कुफ्र का नतीजा भोगना पड़ेगा और उसे खुदा के कहर का शिकार होना पड़ेगा। इस

भविष्यवाणी का क्या अर्थ हो सकता है, यह बताने की जरूरत नहीं। परन्तु पं० लेखराम का जिस तरह से बलिदान हुआ उससे इस भविष्यवाणी का रहस्य स्वयं समझ में आ जाता है। पं० लेखराम के बलिदान को कादियानियों ने उस भविष्यवाणी के सही होने का विजय-घोष प्रचारित किया, तो उससे पं० लेखराम की नृशंस हत्या के सम्बन्ध में रही-सही शंका भी समाप्त हो गई।

मिर्जा अहमद तो कोई चमत्कार नहीं दिखा सके, परन्तु पं० लेखराम के इस बलिदान ने सचमुच एक चमत्कार कर दिया जिसका उल्लेख किये बिना बात समाप्त करना ठीक नहीं होगा।

कहते हैं कि अन्त-समय में व्यक्ति के सामने जीवन-भर के अपने कर्मों का जो नक्शा उभरकर आता है, उससे अगले जन्म की सूचना का भी आभास हो जाता है। मिर्जा ने अपनी मृत्यु से चार दिन पूर्व 'पैगामे-सुलह' नामक पुस्तक लिखी जिसे एक तरह से मिर्जा की वसीयत ही कहा जा सकता है। इस 'पैगामे-सुलह' में मिर्जा ने लिखा है—

(१) हम अहमदी लोग वेद को सदैव सत्य मानेंगे। वेद और इसके ऋषियों की प्रतिष्ठा करेंगे और उनका नाम आदर से लेंगे।

(२) हम वेद को ईश्वर की ओर से आया मानते हैं और उसके ऋषियों को महान् और पवित्र समझते हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि वेद मनुष्य की रचना नहीं है, क्योंकि मनुष्य की रचना में यह शक्ति नहीं होती कि वह करोड़ों मनुष्यों को अपनी ओर खींच सके।

(३) यदि वेद की शिक्षा में कुछ भूलें प्रतीत होती हैं तो वे वेदों की न होकर हम उन्हें भाष्यकारों की भूलें समझते हैं।

(४) वेद में कहीं भी कोई बुद्धि-विरुद्ध बात नहीं है और ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में उसमें कहीं पक्षपात का दोष नहीं है।

(५) शान्ति के इच्छुक लोगों के लिए यह प्रशंसा की बात है कि इस्लाम में जितनी शिक्षाएँ पाई जाती हैं वे वैदिक धर्म की किसी-न-किसी शाखा-प्रशाखा में पहले से ही विद्यमान हैं।

क्या यह मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा अपने-पाप का प्रायश्चित्त नहीं है?

यह है वह चमत्कार जो पं० लेखराम के अद्भुत बलिदान ने करके दिखाया। अपने लहू से पं० लेखराम जिस ऋषि की कहानी लिख गए, यह उस ऋषि की विजय है, वैदिक धर्म की विजय है और पं० लेखराम की विजय है।

इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर शहीदे-आजम पं० लेखराम का बलिदान एक और नई आभा से मण्डित हो उठता है।

('आर्यसन्देश' पं० लेखराम स्मृति अंक, १७ मार्च १९९१)

शिक्षा-क्षेत्र के दो दिशानायक महारथी

महात्मा हंसराज और महात्मा मुंशीराम

मानव-जीवन को अभीप्सित दिशा में ढालने का सबसे उत्तम उपाय केवल एक ही है और वह है बचपन में ही उसे ऐसा वातावरण और ऐसी शिक्षा देना जिससे भविष्य में वही संस्कार उसके जीवन को वैसा मोड़ दे सकें, जैसा आप चाहते हैं। मुस्लिम शासन-काल में उर्दू और फारसी के मदरसों पर जोर दिया गया तो ब्रिटिश शासन के काल में भारतीयों को ईसाइयत की ओर मोड़ने के लिए पहले बेशक भारतीय भाषाओं को महत्त्व दिया गया, पर बाद में भारतीयों को दिमागी गुलाम बनाने के लिए उन्होंने अंग्रेजी माध्यम के स्कूल और कॉलेज खोले। यहाँ भी ईसाइयत का प्रचार मुख्य उद्देश्य था।

सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के बाद अंग्रेजों ने इस दिशा में अपने प्रयत्न और तेज कर दिये। इसका प्रभाव भी हुआ। उस समय के कुलीन घरों के बालक इन अंग्रेजी माध्यम वाले स्कूलों में पढ़कर हिन्दू धर्म से, भारतीय संस्कृति से और देसी रहन-सहन से घृणा करने लगे और अंग्रेजी सभ्यता, अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजी भाषा के प्रशंसक बन गए और हरेक चीज में अंग्रेजों की नकल करने में ही शान समझने लगे। अनेक उच्च कुल के ब्राह्मणों ने और सवर्ण लोगों ने स्वेच्छा से ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। भारत-भर में मिशनरी स्कूलों का जाल बिछता गया। सारे भारत में उस समय ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित २२२ शिक्षा-केन्द्र थे। स्कूल-कॉलेजों की संख्या ९१ थी और उनमें पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं की संख्या चौंसठ हजार थी। इसके साथ ही रविवासरीय स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या ६१००० थी ('दि हिस्टरी ऑफ प्रोटेस्टेण्ट मिशन्स इन इण्डिया'—शेरिंग)।

एक तरह से भारत-भर में शिक्षा-क्षेत्र में मिशनरियों का वर्चस्व था और वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। राजा राममोहनराय जैसे समाज-सुधारक भी बनारस में खुले संस्कृत कॉलेज के विरुद्ध थे और अंग्रेजी माध्यम के स्कूल-कॉलेजों के पक्षपाती थे। मैकाले का जादू देश के बुद्धिजीवियों पर हावी हो चुका था और उनमें से अधिकांश ईमानदारी से इसी को भारत की प्रगति का प्रतीक मानते थे। मैकाले अपनी योजना के प्रति इतना आश्वस्त था कि उसने अपने पिता को पत्र लिखा था—"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि शिक्षा-सम्बन्धी हमारी योजना सफल हो गई तो बंगाल में तीस वर्ष बाद कुलीन एवं सम्भ्रान्त श्रेणियों में एक भी

मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा। ईसाइयत के प्रचार के लिए कोई भी अन्य प्रयत्न किये बिना यह काम सहज ही सम्पन्न हो जाएगा।" १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इस भविष्यवाणी के मिथ्या होने की सम्भावना बहुत कम थी।

इसी काल में महर्षि दयानन्द ने जन्म लेकर इस सारे प्रवाह को, अपनी अदम्य जीवनी शक्ति, तपस्या, आत्मिक बल और प्रखर राष्ट्रवादी मान्यताओं के कारण, मोड़ने का प्रयत्न किया और अपने निर्वाण से पहले ही आर्यसमाज को वे भारतीय अस्मिता का प्रहरी बनाकर छोड़ गए।

३० अक्टूबर, १८८३ को अजमेर में ऋषि दयानन्द के भौतिक शरीर के परित्याग के पश्चात् नेताओं ने जब यह विचार किया कि कोई ऐसा ऋषि का स्मारक तैयार किया जाए जो उनकी भावनाओं के अनुरूप हो और उनके बताए गए आदर्शों के परिपालन में सहायक हो, तब उनका ध्यान भी शिक्षा की ओर ही गया। पंजाब के आर्य नेताओं ने जब ऋषि की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए सार्वजनिक सभा में दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक स्कूल और कॉलेज की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया तो आर्य जनता में नए उत्साह का संचार हुआ, और इस निमित्त जब धन की अपील की गई तो तत्काल ६ हजार रु० एकत्र हो गए, जिसकी तुलना इस समय के ६ लाख रु० के बराबर की जा सकती है। यह दान प्रायः मध्यम-वर्ग के लोगों द्वारा दिया गया था जिनमें स्त्रियों की संख्या भी काफी थी। इस प्रस्ताव को अन्य समाजों के भी विचारार्थ भेज दिया गया और आवश्यक धन एकत्र करने के लिए एक उपसमिति बना दी गई।

समिति ने संस्था का प्रारूप तैयार करके समाजों को जो प्रस्ताव भेजा था उसमें कहा गया था—"हम एक ऐसी शिक्षण-संस्था स्थापित करना चाहते हैं जिससे वर्तमान शिक्षा-पद्धति के गुणों व लाभों को कायम रखते हुए उसकी त्रुटियों को दूर किया जा सके। संस्था का मुख्य उद्देश्य होगा—राष्ट्रभाषा और अन्य लोकभाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित करके शिक्षित और अशिक्षित जनता के बीच का भेद दूर करना, संस्कृत के अध्ययन पर जोर देकर नैतिक और आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार करना, अनुशासन-बद्ध जीवनचर्या द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनने व सही आदतों के निर्माण में सहायता करना, अंग्रेजी साहित्य के गम्भीर ज्ञान को प्रोत्साहित करना, तथा भौतिक व व्यावहारिक विज्ञानों की जानकारी बढ़ाकर देश की उन्नति में सहायक होना।"

धन-संग्रह के लिए जो उपसमिति बनाई गई थी, उसको जितना सहयोग मध्यम-वर्ग के लोगों ने दिया, उतना संभ्रान्त और उच्च कुल के लोगों ने नहीं दिया। परिणामस्वरूप जुलाई, १८८५ तक केवल ग्यारह हजार रु० ही एकत्र हो सके। इतनी राशि भी बीस मास के परिश्रम का परिणाम थी। इससे कुछ लोगों में निराशा की भावना घर करने लगी।

उत्साह की बिजली

तभी अकस्मात् एक ऐसी घटना घटी जिसने समस्त आर्य जनता में उत्साह की बिजली-सी दौड़ा दी। ३ नवम्बर, १८८५ को लाहौर आर्यसमाज की अन्तरंग-सभा को लाला हंसराज का एक पत्र प्राप्त हुआ, जिसमें उन्होंने उक्त प्रस्तावित संस्था के लिए अपनी सेवा समर्पित करने का निश्चय प्रकट किया, और साथ ही यह भी लिखा कि मैं अपनी इस सेवा के बदले कोई पारिश्रमिक या वेतन नहीं लूँगा। यह समाचार जब आर्य जनता तक पहुँचा, तब योजना के संचालक तो इस अद्‌भुत त्याग से आत्मविभोर हो उठे और जनसाधारण नई उमंग से भर गया। लाला हंसराज जैसा होनहार तुरन्त बी० ए० पास कर स्नातक बना युवक—जिसे सरकार में या अन्यत्र कहीं भी अच्छी-से-अच्छी सर्विस मिल सकती थी और जो विलासितापूर्ण जीवन की ओर सहज ही आकर्षित हो सकता था तथा अपने परिवार के लिए भी वैसे ही सुख-साधन जुटा सकता था—उसके लिए यह त्याग का साधना-पथ अपनाना, प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर चलना, सचमुच ही असामान्य घटना थी और इससे जनता में उत्साह की लहर दौड़नी स्वाभाविक थी।

पर लाला ('लाला' शब्द उन दिनों प्राय: सभी हिन्दुओं के लिए प्रयुक्त होता था) हंसराज के साथ-साथ उनके बड़े भाई लाला मुलकराज के त्याग की चर्चा करना भी आवश्यक है। पिता श्री चुन्नीलाल जी की मृत्यु के पश्चात् परिवार का सारा बोझ लाला मुलकराज पर आ पड़ा। उन्हें मैट्रिक पास करते ही डाकखाने में सर्विस मिल गई। वे घर का सारा खर्च चलाते थे। जब हंसराज ने अपने बड़े भाई के सामने अपने मन का भाव रखा, तो मुलकराज ने भी तुरन्त इसका अनुमोदन करते हुए अपने छोटे भाई को आश्वासन दिया कि मैं भी जन्म-भर अपने वेतन में से आधी राशि तुमको देता रहूँगा, जिससे तुम्हें अपनी गृहस्थी चलाने में कष्ट न हो। फिर क्या था, हंसराज के संकल्प को पर लग गए, और वे दृढ़ निश्चय के साथ श्रेय के मार्ग पर चलने को उद्यत हो गए। सचमुच ही फिर हंसराज जीवन-भर बिना किसी वेतन और पारिश्रमिक के अपने मिशन की पूर्ति में जुटे रहे। हंसराज के जिस त्याग से आर्य जनता में उत्साह की जो बिजलियाँ दौड़ने लगी थीं, उसमें बड़े भाई लाला मुलकराज के त्याग को कम श्रेय नहीं है।

पाठविधि

जब आवश्यक राशि एकत्र हो गई तो दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक स्कूल की रूप-रेखा तैयार हुई और योजना क्रियात्मक रूप लेने लगी। उस समय जो पाठविधि तैयार की गई उसमें प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम हिन्दी, और प्राइमरी से ऊपर की कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखी गई। चौथी कक्षा में उर्दू को

वैकल्पिक स्थान दिया गया, क्योंकि उस समय के पंजाब में उर्दू के बिना काम नहीं चल सकता था। संस्कृत को तीसरी कक्षा से प्रारम्भ करके दसवीं तक की अगली कक्षाओं में अनिवार्य विषय रखा गया, जबकि उर्दू और फारसी को आठवीं कक्षा तक विकल्प में रखकर नौवीं और दसवीं कक्षा में उसे कोई स्थान नहीं दिया गया। दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक स्कूल की यह बड़ी विशेषता मानी जाएगी कि उसने उस समय के उर्दू-प्रधान वातावरण में संस्कृत को इतना महत्त्व दिया। नौवीं और दसवीं कक्षा में संस्कृत, गणित, अंग्रेजी, भूगोल और इतिहास के साथ भौतिक विज्ञान और जोड़ दिया गया। अंग्रेजी पाँचवीं कक्षा से शुरू होती थी, जबकि संस्कृत तीसरी कक्षा से।

डी० ए० वी० स्कूल प्रारम्भ

१ जून, १८८६ को दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक स्कूल का काम प्रारम्भ हो गया। प्रथम सप्ताह के अन्त तक ३०० विद्यार्थी स्कूल में भर्ती हो गए। जनता में इस स्कूल के लिए इतना उत्साह था कि जून मास बीतते-न-बीतते विद्यार्थियों की संख्या ५५० तक पहुँच गई। महर्षि के स्मारक के रूप में स्थापित यह स्कूल अन्य स्कूलों से भिन्न था।

उस समय देश में अन्य स्कूल प्रायः सरकारी थे या मिशनरियों के थे। अन्य स्कूलों में हिन्दी और संस्कृत को कोई स्थान नहीं था, जबकि इस स्कूल में इन दोनों भाषाओं को प्रमुख स्थान दिया गया था। विद्यालय का वातावरण धार्मिक था और छात्रों को वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज की विचारधारा से निकट सम्पर्क का अवसर सुलभ था। अन्य स्कूलों की अपेक्षा इस स्कूल का परीक्षा-परिणाम भी बहुत उत्कृष्ट था और यहाँ के विद्यार्थी अपनी अनुशासन-प्रियता के लिए सर्वत्र सराहे जाते थे। अनुशासन-प्रियता की यह धारा आज भी डी० ए० वी० में ज्यों-की-त्यों अक्षुण्ण है। यह आन्दोलन जिस तेजी से प्रगति कर रहा था और लोकप्रिय हो रहा था, उसी का यह परिणाम हुआ कि जून, १८८८ में कॉलेज-विभाग भी खोल दिया गया।

इस आन्दोलन को सफल बनाने में और इसके लिए धन एकत्र करने में जितना परिश्रम पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने किया, कदाचित् किसी अन्य ने नहीं किया। वे व्याख्यानों में इसके लिए अपील करते हुए कहा करते थे कि 'बिना ब्रह्मचर्य के सामाजिक जीवन दुःखमय हो रहा है।···ब्रह्मचर्य-पालन की ओर तब तक प्रवृत्ति नहीं होती जब तक वेदादि शास्त्रों का अध्ययन न किया जाए। इस विद्यालय से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि उसमें धर्म-शास्त्रों और धार्मिक शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाएगा।' वे अपने व्याख्यानों में इन विद्यालयों और महाविद्यालयों द्वारा गौतम और कणाद उत्पन्न करने की बात भी कहा करते थे। जब पं० गुरुदत्त

जैसा वक्ता हो और गौतम-कणाद बनाने की योजना हो, तब धन एकत्र करने में क्या कमी रहती !

असन्तोष का श्रीगणेश

परन्तु दृढ़ आर्यसमाजी इस विद्यालय में केवल संस्कृत पढ़ाने मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे कि ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के अनुसार अष्टाध्यायी पढ़ाने पर विशेष बल दिया जाए, क्योंकि व्याकरण ही प्रमुख वेदांग है जिससे वेदादि शास्त्रों के मर्म तक पहुँचा जा सकता है। बिना व्याकरण के गम्भीर शास्त्रों का अध्ययन सम्भव नहीं। परन्तु बी० ए० और एम० ए० में पंजाब यूनिवर्सिटी के नियमानुसार जो अन्य निर्धारित विषय रखे गए थे, उनके रहते अष्टाध्यायी को प्रमुखता देना सम्भव नहीं था, क्योंकि अष्टाध्यायी के पठन-पाठन के लिए विशेष परिश्रम अपेक्षित है। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी यह भी चाहते थे कि डी० ए० वी० कॉलिज-कमेटी के बजट में भी यह प्रावधान किया जाए कि हिन्दी, प्राचीन संस्कृत और वेदों के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया जाएगा। वे यह भी चाहते थे कि कॉलेज में एक वैदिक विभाग अलग से खोला जाए जिसमें महाभाष्य, निरुक्त, निघण्टु, कात्यायन कोष, पिंगल काव्यालंकार सूत्र, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, मनु-स्मृति, ज्योतिष, गणित, न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्यदर्शन, वेदान्तदर्शन, मीमांसादर्शन और दसों उपनिषदों का अध्ययन करवाया जाए। पर डी० ए० वी० कॉलेज-कमेटी के अन्य सदस्य इस महत्त्वाकांक्षी योजना से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हो सके। फलतः मतभेदों की वृद्धि होती गई। इस योजना के समर्थकों में मुंशीराम भी, जो बाद में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के पुनरुद्धारक बने, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के साथ थे। उनके अन्य सहयोगी थे—लाला रलाराम, पं० धर्मचन्द, लाला जीवन-दास, लाला परमानन्द और लाला दुर्गाप्रसाद।

लाला रलाराम ने तो यहाँ तक लिखा कि 'आर्यसमाज एक धार्मिक संगठन है, उसका मुख्य काम धर्म-प्रचार करना है, स्कूल-कॉलेज खोलना नहीं। जो लोग यह समझते हैं कि आर्यसमाज के कामों में शिक्षा-संस्थाएँ खोलना भी शामिल है, उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे और अनेक काम हैं जिनकी आज देश को जरूरत है। आखिर आर्यसमाज किस-किस को पूरा करे, और किस-किस को छोड़े ? आर्य-समाज एक धार्मिक संस्था है, इसलिए उसका मुख्य काम धर्म-प्रचार ही होना चाहिए। औरों के पीछे दौड़ना अक्लमन्दी या दूरदर्शिता नहीं है। देश की अन्य जरूरतों को पूरा करने के लिए अन्य साधन जुटाए जा सकते हैं।' राय ठाकुरदत्त ने भी इसी विचार के पक्ष में अनेक लेख लिखे।

इसका उत्तर देते हुए डी० ए० वी० आन्दोलन के एक अन्य प्रमुख स्तम्भ लाला लाजपतराय ने लिखा था—"प्रश्न यह है कि स्वामी जी की यादगार में ऐंग्लो-वैदिक

कॉलेज खोलने का प्रस्ताव क्यों स्वीकृत हुआ ? पहले से ही एक वैदिक पाठशाला खोलने का प्रस्ताव क्यों स्वीकृत नहीं हुआ ? स्वामी दयानन्द ने जो भी कुछ प्राप्त किया, वह सब संस्कृत के माध्यम से प्राप्त किया, क्योंकि संस्कृत के भण्डार में किसी चीज की कमी नहीं है, केवल परिश्रम और ज्ञान की कमी है। फिर यह जानते हुए भी ऐंग्लो-वैदिक का नाम क्यों रखा गया ? इसका कारण स्पष्ट है। प्रथम तो यह कि स्वामीजी के अभिप्राय को उन्हीं लोगों ने पहचाना था, जिनकी आँखें अंग्रेजी शिक्षा की रोशनी ने खोल दी थीं। संस्कृत के बहुत-से पंडित देश में विद्यमान थे, लेकिन बहुत कम ने स्वामी जी के मन्तव्यों का आदर किया और उनमें से कोई उनका अनुयायी नहीं बना, बल्कि उन लोगों के हाथों तो स्वामीजी को कठिनाइयों और विरोध का ही सामना करना पड़ा। स्वामीजी के अनुयायियों को यह मालूम था कि स्वामीजी स्वयं अपने उन प्रयत्नों को अफसोस की निगाह से देख रहे थे जो उन्होंने केवल संस्कृत की शिक्षा के लिए फर्रुखाबाद, मथुरा, बनारस आदि स्थानों पर प्रारम्भ करके असफलता प्राप्त की थी। स्वामी विरजानन्द को भी अपने जीवन में अनेक शिष्यों में से केवल एक दयानन्द ही मिले जो उनके अन्तःकरण के अभिप्राय को समझकर उसे प्रकाशित और प्रचारित कर सके। इसके अतिरिक्त समझदार लोगों को विश्वास था कि स्वामीजी के ढंग से पूर्ण विद्या प्राप्त करने के लिए विरजानन्द-जैसे गुरु और दयानन्द-जैसे शिष्य की आवश्यकता है जो इस समय देश में कोई नहीं। इसलिए यदि भारत में वैदिक संस्कृत के सिद्धान्त में सफलता प्राप्त हो सकती है तो इसी तरह हो सकती है कि वेद-विद्या के इच्छुक पहले अंग्रेजी विद्याओं में अपने दिमाग को वेद के गहरे और गूढ़ अर्थ को समझने के लिए तैयार करें और फिर ऐसे तैयारशुदा लोगों में से कुछ को वेदों के अर्थ ग्रहण करने की सम्भावना हो सकती है।" (लाला लाजपतराय द्वारा लिखित एक उर्दू भाषा के ट्रैक्ट के अंश का हिन्दीकरण)।

फिर भी डी० ए० वी० कॉलेज-कमेटी ने पं० गुरुदत्त विद्यार्थी और उनके साथियों के सुझाव के अनुसार महाविद्यालय-विभाग में संस्कृत और अंग्रेजी को अनिवार्य किया और संस्कृत की पाठविधि में अष्टाध्यायी, मनुस्मृति, वेदांगप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, निरुक्त, न्यायदर्शन तथा अन्य दर्शन, तथा एम० ए० में महाभाष्य, मीमांसा दर्शन, उपनिषद् और ऋग्वेद और यजुर्वेद के कुछ सूक्त रखे। निस्सन्देह यह पाठविधि अत्यन्त उच्च स्तर की थी, परन्तु यह तभी लागू की जा सकती थी जब पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हो, क्योंकि तब तक डी०ए०वी० कॉलेज यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध हो चुका था। पंजाब विश्वविद्यालय ने महाविद्यालय-विभाग में संस्कृत को वैकल्पिक विषय के रूप में रखा था, पर उसमें लौकिक साहित्य का ही प्राधान्य था, आर्ष साहित्य का नहीं। इसलिए डी०ए०वी० कॉलेज की पाठविधि में प्राचीन संस्कृत को सम्मिलित करना सम्भव नहीं हो सका। फलतः

असन्तोष बना रहा, बल्कि और बढ़ गया। पंजाब के आर्यसमाजी क्षेत्र में भी इस मतभेद की गूँज सुनाई देने लगी। शिक्षा-सम्बन्धी विवाद के अलावा मांसाहार के सम्बन्ध में भी मतभेद उसमें जुड़ गया। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के रहते यह विवाद उग्र रूप धारण न कर सका। पर बाद में कॉलेज-पार्टी और गुरुकुल-पार्टी या मांस-पार्टी और घास-पार्टी या कल्चर-पार्टी और महात्मा-पार्टी के नाम से आर्यसमाज दो दलों में बँट गया। गुरुकुल-पार्टी के समर्थक डी० ए० वी० सोसाइटी से अलग हो गए, तो सोसाइटी के अधिकारियों को अपने विचारों के अनुसार डी० ए० वी० संस्थाओं को विकसित करने की छूट मिल गई।

गुरुकुल की स्थापना से पूर्व

डी०ए०वी० कॉलेज की पाठविधि से जब आर्यसमाज के एक वर्ग में असन्तोष तीव्रतर हो गया तो उन्होंने एक ऐसी संस्था की स्थापना के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जिसमें संस्कृत, आर्ष ग्रन्थों और वेदादि शास्त्रों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था हो और जिसमें पढ़े विद्यार्थी आर्यसमाज के अच्छे उपदेशक बन सकें। इसलिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की स्थापना के समय उसके उद्देश्यों में उपदेशक तैयार करने के लिए एक संस्था खोलना भी शामिल कर लिया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त एक आर्योपदेशक पाठशाला स्थापित की गई जिसका शिक्षाकाल तीन वर्ष रखा गया। इसमें अनिवार्य रूप से आश्रम (छात्रावास) में रहने और आचार्य के निरीक्षण में आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुरूप जीवन व्यतीत करने का प्रावधान किया गया। पहले यह पाठशाला लाहौर में स्थापित की गई, पर बाद में जालन्धर आ गई। इसी का नाम बदलकर वैदिक पाठशाला रख दिया गया। इसका आचार्य पं० गंगादत्त को बनाया गया जो संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी पं० उदयप्रकाश शर्मा के शिष्य थे। बाद में वही गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य बने और ज्वालापुर महाविद्यालय की स्थापना के समय स्वामी शुद्धबोध तीर्थ के नाम से उसके आचार्य बने। बाद में यही पाठशाला गुजराँवाला स्थानान्तरित हो गई।

इस वैदिक पाठशाला में संस्कृत और शास्त्रों की पढ़ाई को बेशक प्रमुखता दी गई थी, पर वह भी महर्षि के अभिमत के पूरी तरह अनुकूल नहीं थी। महर्षि के द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणाली के मूलतत्त्व थे—१. शहरों से दूर गुरुकुलों की स्थापना, २. आठ वर्ष की आयु तक के बालकों का प्रवेश, ३. ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रम-वास, ४. गुरुकुल में अमीर-गरीब सबके लिए समान भोजन, समान वस्त्र, समान रहन-सहन, ५. पच्चीस वर्ष से पूर्व बालक का और सोलह वर्ष से पूर्व बालिका का विवाह न होना, ६. गुरु और शिष्य का पिता-पुत्र का सम्बन्ध, ७. शिक्षा में संस्कृत और आर्ष ग्रन्थों का महत्त्व, ८. साथ ही चिकित्सा शास्त्र, राजनीति शास्त्र,

भूगोल, गणित, ज्योतिष, शिल्प और अन्य कलाओं के अध्ययन की समुचित व्यवस्था। इस प्रकार की गुरुकुल-व्यवस्था के समर्थन में सबसे आगे मुंशीराम थे। मुंशीराम का कहना था—"आर्यसमाज गुण-कर्मानुसार वर्णव्यवस्था को मानता है। बिना आश्रम-व्यवस्था के (जिसमें जन्मना जाति को कोई महत्त्व न दिया गया हो) वर्णव्यवस्था कायम नहीं की जा सकती। आश्रमों पर ही वर्ण निर्भर है। जब गुरुकुल नहीं, तो आश्रम-पद्धति का उद्धार कैसे हो?

महात्मा-पार्टी के समर्थकों में भी गुरुकुल-प्रणाली को अव्यावहारिक मानने वालों की कमी नहीं थी। जंगलों में अपने बच्चों को कौन भेजेगा? बिना माँ-बाप के बच्चे कैसे रहेंगे? केवल संस्कृत पर जोर देना भी जीविकोपयोगी नहीं होगा, फिर उसके लिए पैसा कहाँ से आएगा?—आदि-आदि। पर मुंशीराम की योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत करने वालों की भी कमी नहीं थी। शुरू-शुरू में सहयोग देने वालों में जो कुछ लोग थे, उनमें विदर्भ में अकोला जिले के पातूर नामक नगर के जमींदार श्री शिवरत्नसिंह वर्मा ने अपने चचेरे भाई श्री गोविन्दसिंह वर्मा की ओर से गुरुकुल के लिए दस हजार रुपये देने और अपने परिवार से तीन बालक गुरुकुल में प्रविष्ट कराने की घोषणा की। इससे मुंशीराम को बहुत बल मिला और गुरुकुल खोलने का उनका निश्चय और दृढ़ हो गया। पातूर के इस जमींदार-परिवार ने महात्मा मुंशीराम को अपने यहाँ बुलाकर हाथी पर बिठाकर उनकी शोभायात्रा निकाली और दस हजार रुपये भेंट किये। (श्री गोविन्दसिंह वर्मा के यहाँ इस लेखक को सन् १९४० ई० में अपनी विदर्भ-यात्रा के समय आतिथ्य का सौभाग्य मिला है।) मुंशीराम ने अपने 'सद्धर्मप्रचारक' पत्र द्वारा गुरुकुल-सम्बन्धी आन्दोलन को और तीव्र कर दिया। विभिन्न आर्यसमाजों की ओर से आर्यप्रतिनिधि सभा को यह आग्रह प्राप्त होने लगा कि गुरुकुल जल्दी-से-जल्दी खोला जाए। जिस तरह कभी डी० ए० वी० आन्दोलन के समय आर्य जनता स्वप्नाविष्ट हो गई थी, उससे भी अधिक स्वप्नाविष्ट वह इस गुरुकुल-आन्दोलन से हो गई। अन्ततः २६ नवम्बर, १८९८ को पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल-पद्धति का एक विद्यालय खोलने का प्रस्ताव पास किया और मुंशीराम को उसकी योजना तैयार करने का काम सौंपा जो उन्होंने शीघ्र पूरा कर दिया।

भीष्म-प्रतिज्ञा

तब मुंशीराम ने भीष्म-प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं तीस हजार रुपये एकत्र नहीं कर लूँगा तब तक घर में पाँव नहीं रखूँगा! और सचमुच ही अपना बिस्तर लेकर उन्होंने जालन्धर की आर्यसमाज में डेरा डाल दिया। घरवालों ने समझा कि शायद परिवार की किसी बात से नाराज होकर उन्होंने इस तरह घर में कदम न रखने का निश्चय किया है, क्योंकि तब मुंशीराम की पत्नी का स्वर्गवास हो चुका

था। वे मुंशीराम को मनाने समाज-मन्दिर में पहुँचे। पर मुंशीराम ने अपनी भावना समझाते हुए अपनी प्रतिज्ञा का उल्लेख किया और कहा कि केवल अपना प्रण पूरा करने के लिए मैंने ऐसा किया है।

जिस समय गुरुकुल-जैसी चीज का कहीं अस्तित्व नहीं था, उसके नाम से भी लोग परिचित नहीं थे और उसे आकाश-कुसुम समझते थे, तब मुंशीराम गले में भिक्षा की झोली डालकर घर से निकले, पंजाब-भर में चक्कर काटते रहे। उन्होंने २६ अगस्त, १८९९ के दिन जालन्धर से प्रस्थान किया और ८ अप्रैल, १९०० को अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर वापस लौटे तो लगभग सात मास की इस कठोर तपस्या के बाद अपनी झोली में चालीस हजार रुपये लेकर लौटे, जो आज के हिसाब से लगभग बीस लाख रुपये बैठेगा। अपनी इस यात्रा में उन्होंने धन ही एकत्र नहीं किया, प्रत्युत अपने व्याख्यानों में गुरुकुल-सम्बन्धी योजना पर प्रकाश डालते हुए लोगों में उसके प्रति उत्साह भी पैदा किया। अब गुरुकुल का आन्दोलन पंजाब के बाहर भी आर्य जनता की चर्चा का विषय बन गया। मुंशीराम की धन एकत्र करने में इस असाधारण सफलता से सभा के अधिकारी भी बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने लाहौर में उनकी शोभायात्रा निकालकर समाज-मन्दिर में श्रद्धापूर्वक उनका अभिनन्दन किया। अब गुरुकुल की स्थापना में कोई बाधा शेष नहीं रही।

दिसम्बर, १९०० में सभा की ओर से गुरुकुल की प्रथम नियमावली प्रकाशित हुई, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। महात्मा मुंशीराम ने अपने व्याख्यानों से गुरुकुल की जो विशेषताएँ बताई थीं, उक्त नियमावली में उनको सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया था।

गुजराँवाला में गुरुकुल शुरू

गुरुकुल के लिए उचित स्थान की तलाश के लिए मुंशीराम ने अनेक स्थान देखे, परन्तु उन्हें कोई जँचा नहीं, क्योंकि उनके मन में यजुर्वेद का यह मन्त्र विराजमान था—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत॥

अभी स्थान तय नहीं हो पाया था, पर आर्य-जनता इतनी उतावली थी कि गुरुकुल की स्थापना में उसे विलम्ब असह्य होता जा रहा था। तब १९ मई, १९०० को गुजराँवाला की वैदिक पाठशाला के साथ ही गुरुकुल की स्थापना कर दी गई। भक्त आनन्दस्वरूप की वाटिका में पाँच कमरों का निर्माण कर ब्रह्मचारियों के निवास के लिए आश्रम खोल दिया गया। मुंशीराम ने सबसे पहले अपने दोनों पुत्रों हरिश्चन्द्र और इन्द्रचन्द्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कराया, उनके साथ बीस बालक और प्रविष्ट हुए—कुल मिलाकर बाईस ब्रह्मचारी। इस प्रकार के सर्वथा

नये ढंग के शिक्षणालय के लिए यह प्रारम्भिक संख्या नगण्य नहीं है। माता-पिता से अलग रहकर बालकों का आश्रम-वास एक नई कल्पना थी, जिसे उस युग में कोई और व्यावहारिक रूप नहीं दे सका। पं० गंगादत्त उसके आचार्य बने; पं० विष्णुमित्र, महाशय भक्तराम और मा० सुन्दरसिंह अध्यापक नियुक्त हुए और गुजराँवाला में गुरुकुल प्रारम्भ हो गया।

हरिद्वार के पास गंगा के पूर्वी तट पर पर्वत की उपत्यका में १४०० बीघा क्षेत्रफल वाला काँगड़ी नामक ग्राम है, जो नजीबाबाद-निवासी मुंशी अमनसिंह की मिल्कियत थी। उसका अधिकांश भाग वनाच्छादित था। उत्तर में शिवालिक पर्वतमाला और पश्चिम में गंगा की नील धारा—**'उपह्वरे गिरीणां'** का प्रतिरूप-सा। मुंशीराम को गुरुकुल के लिए यह स्थान उपयुक्त लगा, जो प्राचीन ऋषियों के आरण्यक आश्रम का रूप ले सकता था। मुंशी अमनसिंह ने यह काँगड़ी ग्राम गुरुकुल के लिए दान करने का संकल्प कर लिया। उन्होंने स्थानीय आर्यसमाज के माध्यम से अपना प्रस्ताव पंजाब सभा के पास भेजा। सभा ने उसे सधन्यवाद स्वीकार कर लिया। २२ अक्तूबर, सन् १९०१ को दान स्वीकार किया गया और सभा ने आगामी होली की छुट्टियों में (२४-२५ मार्च, १९०२) को गुरुकुल के उद्घाटनोत्सव की घोषणा कर दी। आवश्यक तैयारी के लिए महात्मा मुंशीराम वहाँ पहुँच गए।

काँगड़ी में गुरुकुल

जो स्थान गुरुकुल के लिए चुना गया वह कँटीली झाड़ियों और सघन वृक्षों से आच्छादित था और हिंस्र पशुओं का आवास था। झाड़ियाँ साफ की गईं। कुछ फूँस की झोंपड़ियाँ बनाई गईं। मार्च १९०२ से पहले ही गुजराँवाला से ब्रह्मचारियों और अध्यापकों को वहाँ पहुँचाने का निश्चय किया गया और उत्सव पर आने वाले लोगों के ठहरने आदि की व्यवस्था की जाने लगी। २ मार्च, १९०२ को ब्रह्मचारी हरिद्वार के स्टेशन पर पहुँच गए। मुंशीराम और अनेक अन्य साथी वहाँ पहले से विद्यमान थे। यह मण्डली हरिद्वार से काँगड़ी कैसे पहुँची, इसका यथार्थ वर्णन पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 'मेरे पिता' नामक पुस्तक में किया है, पर उसको यहाँ देने का प्रलोभन रोकना होगा। मार्च में होली के अवसर पर जब प्रथम उत्सव हुआ तो उस समय स्वामी दर्शनानन्द, सभा-प्रधान चौ० रामभजदत्त, वजीरचन्द विद्यार्थी के व्याख्यान हुए और उस युग के प्रसिद्ध भजनोपदेशक ठा० प्रवीणसिंह के भजन हुए।

चार साल के अन्दर अध्ययन और निवास के लिए पृथक् आश्रम बन गए। अध्यापकों के निवास के लिए भी मकान बन गए। यज्ञशाला, भोजनशाला, चिकित्सालय और अतिथिशाला भी बन गई। गुरुकुल जितना लोकप्रिय होता जा

रहा था, उसे देखते हुए फूस की झोंपड़ियों और कच्ची ईंटों और टीन के शेडों वाले कमरों से काम नहीं चल सकता था, इसलिए बाकायदा पटियाला के चीफ इंजीनियर श्री गंगाराम से इमारतों का नक्शा बनवाकर निर्माण-कार्य शुरू हो गया। सन् १९०८ में महाविद्यालय के भवन भी बनकर तैयार हो गए।

प्रारम्भिक दिन

उस समय विद्यार्थियों की दिनचर्या इस प्रकार थी—ब्राह्ममुहूर्त में प्रातः चार बजे उठकर स्वयं बिस्तर लपेटना, हाथ-मुँह धोकर प्रार्थना के लिए एकत्र होना, जंगल में शौच जाना, गंगा-तट पर आना, दन्तधावन, व्यायाम और गंगा में स्नान। व्यायाम पर बहुत बल दिया जाता था। गंगा की रेती में ही बने अखाड़े में कुश्ती, दण्ड-बैठक के अलावा कभी-कभी कबड्डी होती। सूर्योदय होते-होते इन दैनिक कार्यों से निवृत्त होकर यज्ञशाला में सन्ध्या-अग्निहोत्र के लिए उपस्थित हो जाना, इसके बाद यज्ञशाला में ही उपदेश जो प्रायः महात्मा मुंशीराम ही दिया करते। (तब तक मुंशीराम के नाम के साथ 'महात्मा' या 'प्रधान जी' का विशेषण लग चुका था।) इसके बाद प्रातराश और फिर पढ़ाई शुरू। उस समय कोई समय-विभाग निर्धारित नहीं था। प्रातःकाल अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती थी। दोपहर होते ही भोजन की घण्टी बजती, भोजनशाला में आसन बिछे होते, ब्रह्मचारी जल से भरे अपने लोटे लेकर आसनों पर बैठ जाते। भोजन से पहले ब्रह्मचारी वेदमन्त्र बोलते। भोजन सर्वथा सात्त्विक, मिर्च-मसाले का नाम नहीं। भोजन के बाद थोड़ी देर विश्राम, और फिर पढ़ाई—जिसमें संस्कृत साहित्य, इतिहास और वस्तु-पाठ शामिल होते थे। सायंकाल होने पर पुनः शौच से निवृत्त होना, फिर व्यायाम और स्नान, तदनन्तर यज्ञशाला में सन्ध्या-हवन, बाद में सायंकालीन भोजन, कुछ समय घूमना और फिर पढ़ने के लिए बैठ जाना। उस समय गुरुकुल में बिजली या मिट्टी के तेल की लालटेनें भी नहीं थी, इसलिए रोशनी के लिए सरसों के तेल के दीये जलते। रात नौ बजे दीये बुझा दिए जाते और प्रार्थना-मन्त्र बोलने के पश्चात् लकड़ी के तख्त पर बिस्तर में लेट जाते। लगभग आधी सदी तक गुरुकुल में मामूली हेर-फेर के साथ यही दिनचर्या चलती रही। ब्रह्मचारियों का सारा समय विद्या-ध्ययन एवं धर्म-चर्चा में ही व्यतीत होगा।

उस समय वेष भी नियत था। पीली धोती की गाती बाँधना, धोती के नीचे लंगोट आवश्यक, कुर्त्ता सफेद; सर्दियों में ऊनी कुर्त्ता या कश्मीरी पट्टू की बण्डी। पैरों में खड़ाऊँ, सिर नंगा, धूप व वर्षा से बचने के लिए भी छाते का प्रयोग वर्जित, क्योंकि ब्रह्मचारियों का जीवन तपोमय होना आवश्यक था। आश्रम के बाहर जाने की अनुमति नहीं थी। छुट्टियों में भी घर नहीं जा सकते थे, पर प्रायः पहाड़ों की पैदल यात्रा पर जाते जिसे सरस्वती-यात्रा कहा जाता, क्योंकि इससे देश-दर्शन के

अलावा किताबों से बाहर की दुनिया की भी जानकारी मिल जाती। ब्रह्मचारियों की जीवनचर्या इतनी नियमित, अनुशासित और समय-समय पर वन-भ्रमण आदि के कारण इतनी मनोरंजक भी थी कि उन्हें अपने माता-पिता की भी याद नहीं आती थी। महात्मा मुंशीराम का अपने शिष्यों से पुत्रवत् प्रेम भी उन्हें घर की याद नहीं आने देता था।

सर्वमेध यज्ञ

महात्मा जी ने गुरुकुल के लिए अपना तन-मन-धन न्यौछावर करने में कसर नहीं छोड़ी। गुरुकुल के लिए वकालत छोड़ी। गुरुकुल खुलते ही अपना पुस्तकालय गुरुकुल को दे दिया। १९०४ में अपना सद्धर्म-प्रचारक प्रेस भी गुरुकुल को दे दिया, जिसकी ८ हजार रुपये कीमत थी, जो उस समय बहुत अधिक राशि मानी जाती थी। १९११ में उन्होंने जालन्धर की अपनी शानदार कोठी भी गुरुकुल को दान दे दी। महात्मा मुंशीराम का यह एक प्रकार से सर्वमेध यज्ञ था। वे गुरुकुल से अपने लिए एक भी पैसा नहीं लेते थे। अपनी जो भी भौतिक सम्पत्ति थी, वह सब गुरुकुल को दान कर ही दी थी। गुरुकुल के अध्यापक या कर्मचारी भी नाम-मात्र का वेतन लेते थे। बाद में मुंशी अमनसिंह ने काँगड़ी ग्राम के अलावा अपनी सब जमा पूँजी भी गुरुकुल को अर्पित कर दी, जो उस समय ११ हजार रुपये थी, पर आज के हिसाब से वह राशि ५ लाख से कम नहीं बैठेगी।

गुरुकुल के ऐसे आदर्श त्यागमय उदाहरण की चर्चा सुन-सुनकर लोगों का उसके प्रति आकर्षण बढ़ता ही जाता था। धीरे-धीरे प्रवेशार्थी बालकों की संख्या बढ़ने लगी। प्रवेश चुनाव द्वारा होता था, इसलिए आने वाले बालकों में से केवल चौथाई बालक ही प्रविष्ट हो पाते थे। जिन माता-पिता के बालकों को प्रवेश नहीं मिलता था, वे बड़े मायूस होकर लौटते थे।

लोकप्रियता का विस्तार

धीरे-धीरे गुरुकुल के उत्सवों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि भारत-भर के दूरस्थ प्रदेशों से भी बड़ी संख्या में लोग आने लगे। बाद में तो यह संख्या इतनी बढ़ गई कि गुरुकुल का उत्सव उत्तर भारत का सबसे बड़ा मेला बन गया। जन-साधारण के अलावा राष्ट्रकर्मी और बुद्धिजीवी लोग भी अधिकाधिक संख्या में आने लगे। महात्मा मुंशीराम बिना पुलिस के और बिना किसी भी सरकारी सहयोग के, उत्सव पर आये इन हजारों लोगों के निवास आदि की ऐसी सुचारु व्यवस्था करते कि सरकारी अधिकारी दंग रह जाते। उत्सवों में दानदाताओं की भी ऐसी धूम रहती कि धन के लिए अपील होते ही दानियों की लाइन लग जाती, महिलाएँ अपने आभूषण तक उतारकर दे देतीं। कुछ गुरुकुलप्रेमी तो प्रतिवर्ष

बाहर से ही धन एकत्र करके स्वयं गुरुकुल भेजते रहते। सचमुच ही बीसवीं सदी के प्रथम चरण में गुरुकुल ने जितनी लोकप्रियता अर्जित कर ली, उसे देश में नवयुग का प्रतीक माना जा सकता है।

नवीन और प्राचीन का संघर्ष

धीरे-धीरे यहाँ भी नवीन और प्राचीन वृत्तियों का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। यहाँ अभी तक पुरानी चिकित्सा-पद्धति ही चलती थी, ऐलोपैथिक दवाइयों का प्रवेश नहीं हुआ था। जब ब्रह्मचारियों की संख्या-वृद्धि के साथ आश्रमों के आकार में वृद्धि होने लगी तो जिन-जिन शेडों में २५-३० ब्रह्मचारी एक-साथ रहते थे वहाँ दीपक का प्रकाश पर्याप्त नहीं था। तब मिट्टी के तेल की लालटेनों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। पर उस तपोवन-सदृश गुरुकुल के पुरातनपन्थी पण्डितों को यह नहीं रुचा। मुंशीराम इस विषय में इतने कट्टर नहीं थे। वे विज्ञान और अंग्रेजी पढ़ाने के भी पक्ष में थे। पर पुरातन-पंथियों को यह भी नागवार गुजरा। फिर जब पढ़ाई का समय-विभाग बना, और अलग-अलग विषयों के लिए स्कूलों की तरह घण्टे तय हो गए और प्रत्येक पीरियड के लिए घण्टी बजने लगी तो नवीन और प्राचीन धारणाओं वाले स्पष्टत: दो वर्ग बन गए। अभी व्याकरण का पाठ चल ही रहा होता कि घण्टी बज जाती, पाठ वहीं समाप्त करना पड़ता, जबकि पहले इस प्रकार कोई टाइम-टेबल न होने के कारण अध्यापक स्वतन्त्र थे—जिस विषय को चाहें जितनी देर तक पढ़ाएँ।

उन्हीं दिनों लाहौर से बी० ए० करके तीन महानुभाव गुरुकुल पहुँचे जिनका गुरुकुल और आर्यसमाज के प्रति दृढ़ अनुराग था। वे तीन व्यक्ति थे—डॉ० चिरंजीलाल भारद्वाज (जो इंग्लैण्ड से ऐलोपैथी की उच्च डिग्री प्राप्त करके आए थे, और बड़ौदा रियासत की सर्विस छोड़कर गुरुकुल की सेवा करना चाहते थे।), मा० रामदेव बी० ए० और मा० गोवर्धन बी० ए०। उन्हीं दिनों गुरुकुल में उच्च कक्षाओं के लिए पाठविधि तैयार की जा रही थी। उक्त तीनों महानुभावों का विचार था कि संस्कृत और व्याकरण-प्रधान पुरानी पद्धति पर जोर देने के बजाय आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान और अंग्रेजी भी अवश्य पढ़ाई जाए। गुरुकुल की प्रारम्भिक नियमावली में भी यह प्रावधान था। परन्तु संस्कृत के पुराने ढंग के पण्डितों को यह अच्छा नहीं लगा। ज्यों-ज्यों गुरुकुल में आधुनिकता का समावेश होने लगा, त्यों-त्यों मतभेद बढ़ता गया और अन्त में वह पुरातन-पन्थी वर्ग गुरुकुल छोड़कर चला गया और उसने महाविद्यालय ज्वालापुर की बागडोर सँभाली।

हिन्दी माध्यम का आदर्श

गुरुकुल काँगड़ी के इतिहास में सन् १९०६ से १९१० तक का काल संक्रान्ति-

युग कहा जा सकता है। तब दसवीं कक्षा तक विद्यालय और उसके बाद महाविद्यालय—इस प्रकार दो विभाग हो गए। महाविद्यालय में चार साल का कोर्स रखा गया। महाविद्यालय-विभाग में रसायन शास्त्र, भौतिक विज्ञान, गणित, इतिहास, अर्थशास्त्र, वनस्पति विज्ञान और मनोविज्ञान आदि सभी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी। महाविद्यालय में पढ़ाने के लिए अपने-अपने विषय के योग्य उपाध्याय नियुक्त किये गए। पर उक्त विषयों की पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध नहीं थीं, इसलिए गुरुकुल काँगड़ी ने एक नया उपक्रम किया जो राष्ट्रीयता की दृष्टि से और युवकों को दिमागी गुलामी से बचाने की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक था। उक्त सब विषयों को हिन्दी के माध्यम से पढ़ाने का निश्चय किया गया और उनके लिए हिन्दी की स्तरीय पुस्तकें तैयार करवाई गईं। शुरू-शुरू में विज्ञान आदि की पढ़ाई में अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार किया गया, पर बाद में अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों का भी हिन्दीकरण और संस्कृतीकरण किया गया। उदाहरण के लिए, ऑक्सीजन को ओषजन और हाइड्रोजन को उद्जन नाम दिया गया। गुरुकुल की ही देखा-देखी उस्मानिया यूनिवर्सिटी ने भी एम० ए० तक का पूरा कोर्स उर्दू के माध्यम से पढ़ाने का निश्चय किया और उर्दू में सब विषयों की पुस्तकें तैयार की गईं। तब महात्मा गांधी ने उस्मानिया यूनिवर्सिटी को 'फर्स्ट नेशनल यूनिवर्सिटी' नाम दिया था, पर वास्तव में उसका प्रथम श्रेय गुरुकुल काँगड़ी को ही है। उस समय गुरुकुल काँगड़ी में पाश्चात्य विज्ञानों की जो हिन्दी पुस्तकें तैयार की गईं, उनसे बढ़कर अच्छी पुस्तकें आज तक तैयार नहीं हुईं। जब भी कभी देश में राष्ट्रीय शिक्षा का सही रूप से प्रचलन होगा, तब गुरुकुल का यह कदम ही दिशा-निर्देशक सिद्ध होगा।

प्रथम दीक्षान्त-समारोह

सन् १९१२ में गुरुकुल का पहला दीक्षान्त-समारोह हुआ। जिस तरह गुरुकुल में प्रवेश के समय वेदारम्भ-संस्कार किया जाता था, उसी तरह अब स्नातक बनने पर दीक्षान्त-संस्कार की व्यवस्था की गई। उपनिषदों के आधार पर इस संस्कार की विधि तैयार की गई। तब स्नातकों को 'विद्यालंकार' की उपाधि दी गई। गुरुकुल की अपनी पाठविधि थी, अपनी परीक्षाएँ थीं, अपनी उपाधियाँ थीं और अंग्रेजों द्वारा संचालित-प्रचलित सरकारी यूनिवर्सिटियों के समानान्तर एक अलग प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति को साकार किया गया था, जिसमें विदेशी सरकार से सर्वथा असहयोग तो था ही, पर ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से भी कहीं किसी प्रकार की कमी नहीं थी। उस समय के बड़े-से-बड़े राष्ट्रनेता और शिक्षाशास्त्री भी राष्ट्रभाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा देने की कल्पना नहीं कर सकते थे, पर गुरुकुल ने उसे सफल करके दिखाया था। गुरुकुल काँगड़ी अपने ढंग का एक

स्वतन्त्र विश्वविद्यालय बन गया था, जिसकी डिग्रियों का सरकार की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था, पर देश की जनता में, और खासकर आर्यजनता में, उनका बड़ा आदर था। लोग यह विश्वास करते थे कि गुरुकुल काँगड़ी के विद्यार्थी और स्नातक, जहाँ शिक्षा और विद्या की दृष्टि से किसी सरकारी यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट से कम नहीं होंगे, वहाँ सदाचार और नैतिकता की दृष्टि से उनसे बहुत श्रेष्ठ होंगे। इसके अतिरिक्त उनमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी होगी।

जब १६१२ में गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर प्रथम दीक्षान्त-समारोह हुआ और दो स्नातकों को विद्यालंकार की उपाधि का संस्कृत में प्रमाण-पत्र दिया गया तो वहाँ उपस्थित हजारों नर-नारियों की आँखों से हर्ष की अश्रु-धाराएँ बह निकलीं। उस अवसर पर महात्मा मुंशीराम ने नव-स्नातकों को और जनता को सम्बोधित करते हुए कहा—"परमात्मा की कृपा से आर्यसमाज द्वारा रचे गए इस ब्रह्मचर्य-आश्रम-रूपी महान् यज्ञ का पहला चरण आज समाप्त हो रहा है। आर्यजाति का ऐसा कौन-सा सदस्य है जिसे सहस्रों वर्षों से लुप्त हुए इस दृश्य का आज प्रातः दर्शन कर प्रसन्नता न हो रही हो! गुरुकुल के स्नातको! तुम इस गुरुकुल-रूपी वृक्ष के पहले फल हो। सारे सभ्य संसार की आँखें तुम पर लगी हैं। परमात्मा आशीर्वाद दे कि तुम संसार में धर्म और शान्ति फैलाने के साधन बनकर अपने कुल के यश को चारों तरफ फैलाओ। तुम्हारा कर्त्तव्य इसलिए और भी अधिक है कि आगे आने वाले स्नातक तुम्हारा ही अनुकरण करेंगे। उनके लिए तुम ही आदर्श होगे। मैं आज आर्यसमाज को भाग्यशाली समझता हूँ कि जिसके प्रयत्नों को आज सफलता प्राप्त हुई है। इस यज्ञमण्डप में उपस्थित देवियो और सज्जनो! आप सबसे मेरी प्रार्थना है कि आप स्नातकों को आशीर्वाद दें, जिससे वे अपने धर्म और अपने देश के यश को देश-देशान्तर में पहुँचाने में कृतकार्य हों।" उस समय गुरुकुल से आर्य-जनता जो आशा कर रही थी और संचालक-गण जिस तरह पुलकित हो रहे थे, उसका कुछ अनुमान आचार्यप्रवर के इन शब्दों से हो सकता है। इस समय तक गुरुकुल एक पूर्ण स्वायत्त संस्था और बस्ती का रूप धारण कर चुका था जिसके निवासियों की संख्या एक हजार के लगभग थी। विद्यालय-विभाग का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। विशाल मरुभूमि में शाद्वल की तरह, समुद्र में टापू की तरह, यह एक विचित्र आर्य उपनिवेश था जिसकी ख्याति दिगन्तव्यापी होती जा रही थी। काँगड़ी नाम का वह छोटा-सा ग्राम गुरुकुल का नाम साथ जुड़ जाने से इतनी व्यापक ख्याति प्राप्त कर लेगा, यह किसने कल्पना की थी! आर्यजाति ने उस युग में जो स्वप्न लिया था, वह यथार्थ के धरातल पर उतर आया था और यह सौभाग्य काँगड़ी ग्राम को मिला था।

आन्तरिक कलह

उसके बाद यहाँ भी आन्तरिक कलह प्रारम्भ हो गया। हो सकता है कि इसमें एक कारण महात्मा मुंशीराम की देशव्यापी ख्याति भी रहा हो। महात्मा जी का विरोध प्रारम्भ हो गया और उन पर तरह-तरह के आरोप लगाए जाने लगे। जब गुरुकुल की स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब में इन आरोप-कर्त्ताओं को बहुमत प्राप्त नहीं हो सका, तो उन्होंने समाचारपत्रों में भी कीचड़ उछालना प्रारम्भ कर दिया। महात्मा मुंशीराम तो चुप रहे, पर उनके समर्थन में दो युवक आगे आए—महाशय कृष्ण और श्री विश्वम्भर नाथ। महाशय कृष्ण ने अपने साप्ताहिक पत्र 'प्रकाश' में महात्मा जी पर लगाये गए आरोपों का उत्तर देना प्रारम्भ किया। मेहता जैमिनी ने भी अपने पत्र 'सुधारक' में महात्मा जी का समर्थन प्रारम्भ कर दिया। पर आर्यजनता इस बात पर हैरान थी कि इन सब आरोपों के बारे में महात्मा जी स्वयं चुप क्यों हैं? तब महात्मा जी ने "दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तान" नामक पुस्तक उर्दू में लिखी जिसमें विस्तार से उन सब आरोपों का उत्तर दिया। पुस्तक इतनी करुणाजनक है कि कोई भी सहृदय पाठक उससे द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता—यह भी कि सामाजिक जीवन में कभी-कभी कुछ लोग निचले स्तर तक उतर आते हैं।

उसके बाद यही आन्तरिक कलह एक और रूप में उभरने लगा। महात्मा मुंशीराम गुरुकुल को एक आदर्श शिक्षा-संस्था और एक आदर्श राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय के रूप में विकसित करना चाहते थे, क्योंकि वह व्यापक राष्ट्रीय हित की माँग थी। पर महात्मा जी के समर्थक महाशय कृष्ण और पं० विश्वम्भरनाथ बाद में इस मत के हो गए कि शिक्षा-संस्था खोलना आर्यसमाज का काम नहीं है; आर्य-समाज को तो सुयोग्य धर्म-प्रचारक तैयार करने का लक्ष्य ही सामने रखना चाहिए। इसलिए गुरुकुल का मुख्य ध्येय विभिन्न विषयों की उच्च शिक्षा देना नहीं, प्रत्युत धर्मोपदेशक तैयार करने के लिए ईसाइयों के 'डिविनिटी कॉलेज' का-सा रूप रखना चाहिए। वे प्रतिनिधि सभा को भी अपनी राय के अनुसार ढालने का प्रयत्न करने लगे।

यह एक तरह से वैसा ही विवाद था जैसे विवाद का सामना डी० ए० वी० कॉलेज को करना पड़ा था। अन्त में डी० ए० वी० कॉलेज-कमेटी ने जिस प्रकार धर्मोपदेशक बनाने के बजाय डी० ए० वी० कॉलेज को शिक्षा-संस्था बनाने का ही निश्चय किया, उसी प्रकार महात्मा मुंशीराम भी गुरुकुल को केवल उपदेशक बनाने के लिए प्रयुक्त नहीं करना चाहते थे। हाँ, आर्यसिद्धान्त के नाम से उन्होंने महाविद्यालय में एक अलग विषय अवश्य रखा जिसमें अन्य धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के साथ ही आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विश्लेषण और वरीयता पर ध्यान

दिया जाता था। यह विषय प्रायः वे स्वयं पढ़ाया करते थे। बाद में तो यह परम्परा-सी बन गई कि गुरुकुल का आचार्य या मुख्याधिष्ठाता ही ऐसा व्यक्ति बने जो इस विषय का विद्वान् हो और छात्रों में आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म के प्रति दृढ़ आस्था पैदा कर सके। होनहार प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को यह विषय लेने के लिए प्रेरित किया जाता, और यह विषय लेकर स्नातक बनने वालों की 'सिद्धान्तालंकार' की उपाधि दी जाती। उनसे यह आशा की जाती कि वे आर्यसमाज के उपदेशक बनेंगे।

गुरुकुल जब विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण करने लगा तो उसके तीन अलग महाविद्यालय-विभाग बने—वेद महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय और साधारण महाविद्यालय। वेद महाविद्यालय से स्नातक बनने वालों को 'वेदालंकार', आयुर्वेद महाविद्यालय से स्नातक बनने वालों को 'आयुर्वेदालंकार' और साधारण महाविद्यालय से स्नातक बनने वालों को 'विद्यालंकार' की उपाधि दी जाने लगी। दसवीं कक्षा उत्तीर्ण कर महाविद्यालय में प्रवेश लेने वालों के लिए ये तीनों विकल्प रहते—जिस महाविद्यालय में वे प्रवेश लेना चाहते, ले सकते थे। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वे महाविद्यालय चुन लेते। क्योंकि दसवीं कक्षा तक सबको सब विषय पढ़ने पड़ते थे, इसलिए उनकी शिक्षा उनको किसी भी महाविद्यालय में प्रवेश के योग्य बना देती थी। दसवीं तक छात्र हिन्दी, संस्कृत (साहित्य और व्याकरण दोनों), अंग्रेजी, विज्ञान, गणित, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र, नागरिक शास्त्र, धर्मशिक्षा—इन सब विषयों का इतना पुष्कल ज्ञान प्राप्त कर लेते थे कि बाहर की यूनिवर्सिटियों के मैट्रिक-पास छात्रों से किसी विषय में कम नहीं होते थे और संस्कृत और हिन्दी का उच्चकोटि का ज्ञान उनकी ऐसी अतिरिक्त विशेषता होती थी जिसका मुकाबला बाहर का कोई मैट्रिक-पास विद्यार्थी कभी नहीं कर सकता था। गुरुकुल की यही विशेषता सबको आकृष्ट करती थी।

गुरुकुल काँगड़ी की शाखाएँ

जनता के इसी आकर्षण का परिणाम था कि गुरुकुल काँगड़ी के विकास के साथ-साथ शाखा-गुरुकुलों के रूप में उसका विस्तार होने लगा। कुरुक्षेत्र, मुलतान, रायकोट, मटिण्डु, सूपा (गुजरात) आदि स्थानों पर उसकी शाखाएँ खुलीं। ये शाखाएँ प्रायः आठवीं कक्षा तक शिक्षा देती थीं। इन सब शाखा-गुरुकुलों की और गुरुकुल काँगड़ी में प्रारम्भ से ही शिक्षा पाने वाले छात्रों की आठवीं कक्षा की परीक्षा बाहर के स्कूलों की बोर्ड की परीक्षा की तरह गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में होती और नौवीं तथा दसवीं की पढ़ाई इन सभी गुरुकुलों की इन्द्रप्रस्थ में ही होती। शाखाओं या गुरुकुल काँगड़ी में ब्रह्मचर्यपूर्वक छात्रावास में दस वर्ष तक विद्याध्ययन कर अधिकारी-परीक्षा उत्तीर्ण किये बिना कोई छात्र महाविद्यालय में प्रविष्ट नहीं

हो सकता था। बाहर के विद्यार्थियों को महाविद्यालय में लेने का प्रश्न ही नहीं था। महाविद्यालय में भी ब्रह्मचर्यपूर्वक आश्रमवास की शर्त ज्यों-की-त्यों थी। इसीलिए १४ वर्ष तक तपस्या करके स्नातक बने गुरुकुल के स्नातकों को लोग विद्या और सदाचार में तो विश्वसनीयता की दृष्टि से देखते थे।

जब स्थान-स्थान पर गुरुकुल की शाखाएँ खुलने लगीं और गुरुकुल शाखा-प्रशाखाओं समेत एक विशाल वटवृक्ष का रूप धारण करने लगा, तब ब्रिटिश सरकार चौंकी। विदेशी हुकूमत शुरू से ही आर्यसमाज को एक क्रान्तिकारी ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन के रूप में देखती थी। जब गुरुकुल की लोकप्रियता अमित रूप से बढ़ने लगी तो सरकार को लगा कि यह आन्दोलन यदि राष्ट्रव्यापी हो गया, तो लेने के देने पड़ जाएँगे। क्योंकि, गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में कहीं सरकारी सहयोग स्वीकार नहीं किया गया—अपनी पाठविधि, अपनी पुस्तकें, अपनी परीक्षाएँ, अपनी उपाधियाँ और सरकार से पूर्ण असहयोग—यह सब विद्रोह नहीं तो क्या है? यह तो एक तरह से समानान्तर सरकार बनती जा रही थी।

सरकारी कोपदृष्टि

गुरुकुल के कारण ही सरकार को सारा आर्यसमाज विद्रोही और राजद्रोही प्रतीत होने लगा। उसकी कोपदृष्टि बढ़ गई और स्थान-स्थान पर आर्यसमाजियों को तंग किया जाने लगा। गुरुकुल को तो वह विद्रोहियों और क्रान्तिकारियों का गढ़ ही समझने लगी। वहाँ तरह-तरह से गुप्तचर भेजे जाने लगे। सरकारी अधिकारियों को गुरुकुल पर नजर रखने के लिए सतर्क कर दिया गया। पटियाला और धौलपुर आदि स्थानों पर आर्यसमाजियों पर मुकद्दमे चले। सेना में आर्यसमाजियों की भर्ती पर प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया गया और आर्यसमाज को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर उस पर पूर्ण प्रतिबन्ध की योजना बनने लगी। लाला लाजपत राय की गिरफ्तारी के बाद सरकार द्वारा आर्यसमाज को विद्रोही संस्था समझने में रही-सही कसर भी पूरी हो गई। पटियाला केस में आर्यसमाज को विद्रोही संस्था सिद्ध करने के लिए प्रमाणों का अम्बार लगा दिया गया। इस दमन से बहुत-से सरकार-परस्त आर्यसमाजी घबरा उठे।

उस समय महात्मा मुंशीराम ने अद्भुत साहस का परिचय दिया। न केवल पटियाला केस को जितवाने में उन्होंने पुनः वकालत का चोगा पहना, बल्कि आर्य-समाज को प्रमुख रूप से धार्मिक संस्था सिद्ध करने के लिए पूरी शक्ति लगा दी। उन्होंने गुरुकुल में तत्कालीन भारत सरकार के सम्बन्धित अधिकारी लॉर्ड चेम्स-फोर्ड को बुलाया। उत्तरप्रदेश के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन को बुलाया (वे तो दो बार गुरुकुल गए)। इंग्लैण्ड के भावी प्रधानमन्त्री सर रैम्जे मैकडानल्ड को बुलाया और अन्य छोटे-मोटे सरकारी अधिकारी तो आते ही रहते थे। इसकी भूमिका

तैयार की थी दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज ने, जो पहले शायद गुरुकुल में अंग्रेज-सरकार के गुप्तचर के रूप में ही आए थे, पर गुरुकुल के तपस्यामय और साधनामय जीवन को देखकर इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कलकत्ता के 'मॉडर्न रिव्यू' में एक लेख लिखा जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—"जिस भारत को मैं जानता था, जिस भारत से मैं प्रेम करता था, जो भारत मेरे सपनों में बसा था, वह मुझे यहाँ देखने को मिला। मैंने अपने सम्मुख उस मातृभूमि को देखा जो न शोकातुर थी और न श्रान्त, न क्लान्त, जिसमें अनन्त अनश्वर यौवन था, जो वसन्त के समान ताजा नव-यौवना थी। यहाँ गुरुकुल में वह नवभारत विद्यमान था।" अंग्रेज अधिकारियों की भी इस लेख के कारण गुरुकुल के प्रति उत्सुकता बढ़ी और उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से उसे देखने का निश्चय किया। महात्मा मुंशीराम का यह आत्मविश्वास देखिए कि जहाँ उन्होंने गुरुकुल-जैसी विशाल संस्था की व्यवस्था के लिए कभी पुलिस व सरकार की सहायता नहीं ली, उत्सवों पर हजारों की भीड़ के बावजूद वहाँ उन्होंने वायसराय और गवर्नर जैसे उच्च अधिकारियों की रक्षा के लिए भी पुलिस को गुरुकुल के अन्दर नहीं आने दिया और उनकी सुरक्षा का भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया। इन घटनाओं से देश के उच्च शिक्षित-वर्ग में भी गुरुकुल की साख बढ़ गई।

अन्त में महात्मा मुंशीराम ने १२ अप्रैल, १९१७ को संन्यास आश्रम में प्रवेश किया, श्रद्धानन्द नाम ग्रहण किया और गुरुकुल काँगड़ी को लोकप्रियता के शिखर पर छोड़कर उससे विदा ले ली। उसके बाद वे देश की राजनीति में सक्रिय हो गए। उसकी कथा अलग है।

महात्मा हंसराज और महात्मा मुंशीराम—शिक्षा-क्षेत्र के इन दो दिशानायक महारथियों ने किस प्रकार अपना त्यागमय जीवन डी० ए० वी० और गुरुकुल-आन्दोलन को सफल बनाने में लगा दिया, वह भारतीय शिक्षा के इतिहास का अद्भुत पहलू है। सच तो यह है कि कोई भी आदर्शवादी संस्था तभी तक पुष्पित-पल्लवित होती है जब तक उसके संचालक स्वयं आदर्शमय जीवन औरों के सामने उदाहरण के लिए उपस्थित करते हैं। नदी के प्रवाह के साथ बहना बहुत सरल होता है, पर उस प्रवाह को मोड़ देना सरल नहीं है। यहीं उनका महापुरुषत्व पता लगता है। इन दोनों महारथियों ने जो आदर्श क्रियान्वित किया, वह उसी रूप में वर्तमान में नहीं रह सका। अब न डी० ए० वी० स्कूल वैसे रहे, न गुरुकुल वैसा रहा। आदर्श अपने स्थान पर है, पर समय का प्रवाह कितना उद्दाम है, इसकी कल्पना उस कांग्रेस से की जा सकती है जो महात्मा गांधी जैसे आदर्शवादी व्यक्ति के चले जाने के पश्चात् आज हमें दिखाई दे रही है।

('आर्य सन्देश' श्रद्धानन्द बलिदान अंक, २४ दिसम्बर १९८९)

श्रीकृष्ण की द्वारका

सन् १९८८ में मैं सौराष्ट्र की यात्रा पर गया था। तब से २६-२७ वर्ष पहले भी गया था। इन दोनों यात्राओं में सोमनाथ और द्वारका की ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक खोज में मेरी विशेष रुचि रही। कुछ विशेष उपलब्धि की बात तो मैं नहीं करता, किन्तु कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के सुसंगत समाधान से मन को आश्वासन अवश्य मिला। जब पहले गया था, तब सोमनाथ के नये मन्दिर का निर्माण सर्वथा प्रारम्भिक अवस्था में था, किन्तु अब उस भव्य मन्दिर का निर्माण पूर्ण होने के निकट है। द्वारकाधीश का मन्दिर जो पहले देखा था, उसमें मरम्मत की जरूरत थी। इस बार देखा कि कई स्थानों पर मरम्मत हो चुकी थी और कुछ स्थानों पर मरम्मत चल रही थी। यात्रियों की भीड़ न पहले कम थी, न अब। पर इस बीच समुद्र-गर्भ में डूबी द्वारका नगरी के जो अवशेष पुरातत्त्वज्ञों को मिले हैं, उन्होंने महाभारत और हरिवंश पुराण (जो महाभारत का ही परिशिष्ट समझा जाता है) के अधिकांश विवरण को सत्य सिद्ध कर दिया है।

कंश-वध के पश्चात् जब जरासंध ने अपने दामाद के वध का प्रतिशोध लेने के लिए मथुरा पर बारम्बार आक्रमण किये, तो कृष्ण ने मथुरा को छोड़कर चन्द्रवंश के अन्य लोगों के साथ सुदूर सौराष्ट्रस्थित द्वारका को बसाया। पर श्रीकृष्ण ने जिस द्वारका को बसाया, क्या वर्तमान द्वारका वही श्रीकृष्ण वाली द्वारका है? महाभारत के आदि पर्व और सभा पर्व में द्वारका को रैवतक पर्वत के पास बताया गया है। वह रैवतक पर्वत अब जूनागढ़ में गिरनार कहलाता है। वास्तव में वह गिरनगर है। अब वह जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थ है। गिरनार में दस हजार सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। ५ हजार सीढ़ियों के बाद खुले मैदान में जैनियों के सुन्दर मन्दिर और धर्मशाला बने हुए हैं। अपनी धर्मशाला में वे किसी गैर-जैनी को प्रश्रय नहीं देते। अधिकांश यात्री यहीं तक जाते हैं। इसके बाद की ५ हजार सीढ़ियाँ चढ़ने की हिम्मत विरले लोग ही करते हैं, क्योंकि वहाँ तक चढ़ते-चढ़ते कचूमर निकल जाता है। बाद में सौराष्ट्र के प्रसिद्ध आर्य दानवीर सेठ नानजीभाई कालीदास ने अम्बाजी का एक छोटा-सा मन्दिर शिखर पर भी बनवा दिया है और वहाँ शक्ति के प्रतीक त्रिशूल की स्थापना कर दी है। मैं अपनी पत्नी के साथ शिखर तक गया था और रात का प्रथम प्रहर बीतने तक हम वापस लौट सके थे।

द्वारका कहाँ थी ?

द्वारका गिरनार के पास रही हो, या न रही हो, पर यह स्थान कभी बहुत प्रसिद्ध रहा होगा। तभी तो सम्राट् अशोक ने गिरनार की तलहटी में ब्राह्मी लिपि में अपना शिलालेख लगवाया था। आदि पर्व और सभा पर्व में भले ही रैवतक पर्वत के निकट द्वारका होने का उल्लेख हो, पर मुसल पर्व में द्वारका के समुद्र के निकट होने का उल्लेख है। साथ ही उसे 'वारिदुर्ग' (जल में बना किला) और उदधिमण्डलस्थम् (समुद्र में स्थित) भी बताया गया है।

इतिहासकारों का कहना है कि यादवों का सौराष्ट्र की ओर यह प्रव्रजन श्रीकृष्ण के समय ही नहीं, उससे तीन सौ वर्ष पहले प्रारम्भ हो चुका था। कृष्ण के ही एक पूर्वज आनर्त के पुत्र रेवत ने समुद्र के बीच में एक टापू पर कुशस्थली बसाई थी और बाद में उसी के ध्वंसावशेषों पर द्वारका बसाई गई। महाभारत के कथनानुसार श्रीकृष्ण ने इस स्थान को इसलिए चुना क्योंकि नारियल के पेड़ तथा अन्य वृक्ष-वनस्पतियाँ प्रभूत मात्रा में थीं और गाय, भैंस, हिरण आदि जानवर भी। उसका धरातल ताम्रवर्णी था, चट्टानें थीं और काँटेदार झाड़ियाँ थीं। फिर भी राजधानी बनाने के लिए स्थान छोटा पड़ता था, इसलिए श्रीकृष्ण ने समुद्र से प्रार्थना की तो समुद्र ने कुछ जमीन और छोड़ दी। इसकी व्याख्या आधुनिक इतिहासकार यह करते हैं कि समुद्रतट को सुखाकर जिस तरह आजकल बम्बई में अनेक बस्तियाँ बसाई गई हैं, वैसे ही तब भी किया गया होगा।

महाभारत में द्वारका की लम्बाई १२ योजन और चौड़ाई ४ योजन बताई गई है। ध्यान देने की बात यह है कि इस समय द्वारका से बेट द्वारका (बेट=टापू) ३० किलोमीटर की दूरी पर है, जो लगभग १२ योजन के आसपास ही बैठती है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण का परिवार बेट द्वारका में रहता था, जबकि राजधानी द्वारका नगरी में ही थी। उस समय ये दोनों स्थान एक टापू से जुड़े हुए थे। उसके बाद हरिवंश पुराण के अनुसार वहाँ वीथियाँ और सड़कें बनाई गईं, बाग लगाए गए, मन्दिर और शालाएँ बनाई गईं और राजपरिवार के लिए प्रासाद बने तथा राजधानी के योग्य अन्य प्रमुख इमारतें बनाई गईं। फिर एक चहारदीवारी बनाई गई जिसके चारों दिशाओं में चार द्वार रखे गए, तभी इसका नाम द्वारावती पड़ा। लगभग ६ साल में राजधानी बनकर तैयार हुई।

'गेट-वे ऑफ इण्डिया'

श्रीकृष्ण ने इसी स्थान को क्यों चुना, इसके भी अनेक हेतु हैं। सबसे पहला तो यह कि इस राजधानी के निर्माण के लिए किसी की जमीन नहीं छीननी पड़ी, बल्कि एक निर्जन टापू को आबाद किया गया। दूसरा हेतु यह कि वह एक स्वाभाविक

बन्दरगाह था जो सामुद्रिक पोतों के लिए अच्छा शरण-स्थान था और उनको सुरक्षा प्रदान करता था। और तीसरा हेतु यह कि इस स्थान से अफ्रीकी देशों, अरब देशों तथा अन्य देशों से होने वाले व्यापार पर नियन्त्रण रखा जा सकता था। इसी प्रकार के बन्दरगाह सोमनाथ और पोरबन्दर भी रहे होंगे। पोरबन्दर में 'बन्दर' शब्द इसी बन्दरगाह का सूचक है। सोमनाथ के निकट वेरावल और प्रभासपत्तन अब भी बन्दरगाह का ही काम करते हैं। प्रभासपत्तन में 'पत्तन' शब्द बन्दरगाह का ही पर्यायवाची है। इन स्थानों की तीर्थ के रूप में प्रसिद्धि उनके प्रमुख व्यापारिक केन्द्र होने के कारण भी रही होगी। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि जिस तरह वर्तमान बम्बई को अंग्रेजों ने यूरोप के साथ व्यापार के मुख्य केन्द्र के रूप में बनाया और बसाया तथा वहाँ समुद्र के तट पर ही 'गेट-वे ऑफ इण्डिया' बनाया, इसी प्रकार उस युग में द्वारका पश्चिमी देशों से व्यापार का प्रमुख केन्द्र और गेट-वे ऑफ इण्डिया (भारत का द्वार) बना होगा—इसी में 'द्वारका' नाम की सार्थकता है।

स्वर्णमयी नगरी

द्वारका के स्वर्णनगरी होने की बात भी इसी से स्पष्ट होती है। जिस तरह आजकल आम भारतवासियों की दृष्टि में अपने धन-धान्य, ठाठ-बाट और चकाचौंध के कारण बम्बई 'सोने की नगरी' है, या रामायण-काल में अपने ऐश्वर्य और विलास के कारण लंका स्वर्णमयी कहलाती थी, उसी तरह विदेशों से व्यापार का प्रमुख केन्द्र होने के कारण द्वारका भी धन-धान्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न रही होगी और जन-साधारण में 'स्वर्णनगरी' के नाम से प्रसिद्ध होगी। इस समृद्धि के कारण सम्भव है कि वहाँ के प्रासादों ओर मन्दिरों के कंगूरे सचमुच सोने के मढ़े हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

फिर हरिवंश पुराण के अनुसार ही, श्रीकृष्ण की यह द्वारका ३६ वर्ष तक खूब फली-फूली और श्रीकृष्ण के इस धराधाम से जाते ही उनकी द्वारका भी समुद्र में समा गई। परन्तु इसका आभास श्रीकृष्ण को पहले ही हो गया था। उन्होंने अर्जुन को बुलाकर कहा था कि सब महिलाओं और बच्चों को हस्तिनापुर ले जाओ और एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर इस नगरी को खाली कर दो। जब जनता का अन्तिम समूह नगरी को छोड़ रहा था, तभी समुद्र की लहरों का पानी गलियों और सड़कों तक पहुँचना प्रारम्भ हो गया। बाद में तो ज्वार का पानी इतना चढ़ा कि मकानों के अन्दर घुस गया, छतों तक चढ़ गया और देखते-ही-देखते द्वारका समुद्र-गर्भ में समा गई।

पिछले दिनों द्वारका और बेट द्वारका के पास समुद्र-गर्भ में जो खुदाई हुई है उसमें से श्रीकृष्ण वाली द्वारका के ही अवशेष मिले हैं। पुरातत्त्वज्ञों ने अभी उन

अवशेषों को साढ़े तीन हजार बरस पुराना माना है। उसी खुदाई से यह भी स्पष्ट हुआ है कि द्वारका पाँच बार बसाई गई और उतनी ही बार वह समुद्र-गर्भ में समा गई। इसका रहस्य क्या है ? प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि श्रीकृष्ण को उसके डूबने का पहले ही आभास कैसे हो गया था ?

ज्वार और भाटे का करिश्मा

द्वारका की बगल में ही गोमती नदी है। वह सूखी पड़ी रहती है। पर जब समुद्र में ज्वार आता है तो पूरी नदी पानी से लबालब भर जाती है। उसके बाद जब भाटा आता है तो सारी नदी का पानी वापस समुद्र में चला जाता है—नदी फिर सूखी की सूखी। द्वारका के निवासी इस बात को जानते हैं। वे पूरी तरह सावधान रहते हैं कि नदी में कब पानी आता है और कब चला जाता है। अब से कई वर्ष पहले दिल्ली के स्कूलों के कुछ विद्यार्थी द्वारका की यात्रा पर गए थे। उन्हें इस रहस्य का पता नहीं था। वे तैरने के प्रलोभन से नदी में कूद पड़े। थोड़ी ही देर में नदी में भाटा आ गया। ५ विद्यार्थी और एक अध्यापक उसकी भेंट चढ़ गए। सब देखते ही रह गए। कोई कुछ नहीं कर सका।

एक बार द्वारका के डूब जाने के पश्चात् फिर दुबारा वह कब बसाई गई, इसके उत्तर में समुद्री विद्या (ओशनोग्राफी) के विशेषज्ञ डॉ० एस० आर० राव का कहना है कि अब से १००० वर्ष पहले तक हमारे पास इस बारे में कहने को कुछ नहीं था। पर अकस्मात् ५० ई० में ग्रीक पुस्तक 'परिप्लस' में किसी अज्ञात नाविक ने द्वारका का उल्लेख किया है। उसने उसे कच्छ की खाड़ी में स्थित 'ब्रेक' नाम दिया है। उसने अपनी पुस्तक में अन्य नाविकों को सलाह दी है कि वे इस भाग से सावधान रहें। उसकी चेतावनी केवल समुद्रवर्ती चट्टानों के कारण नहीं थी, बल्कि समुद्र-गर्भ में समाए उस नगर के कारण भी थी जिसके ध्वंसावशेषों पर अब भले ही पानी की काफी गहरी परत चढ़ गई हो, परन्तु किसी जमाने में वहाँ पानी इतना गहरा नहीं था कि जहाज उन अवशेषों पर से सुरक्षित रहकर गुजर सकें। जिस समय द्वारका समुद्र में समाई, लगभग उसी समय के आसपास बहरीन की तटवर्ती बस्तियाँ भी ससुद्र में समा गई थीं।

जो भी कुछ हो, इस प्रसंग से इतना तो स्पष्ट ही है कि ईसा की पहली शती तक द्वारका पुनः एक बन्दरगाह बन गयी थी; वहाँ तक जलपोतों का आवागमन होता था और उसके बाद का अब तक का इतिहास निर्बाध रूप से प्राप्त होता है। द्वारका का वर्तमान मन्दिर भी केवल ५०० वर्ष पुराना ही माना जाता है।

एक नया सिद्धान्त

समुद्रविद्या-विशेषज्ञों और पुरातत्त्वज्ञों ने इस घटना की व्याख्या के लिए कुछ

नये सिद्धान्तों का भी आविष्कार किया है। उनका कहना है कि द्वारका के डूबने के बाद पिछले साढ़े तीन हजार वर्षों में समुद्र में ६ बार भयंकर ज्वार और भाटे आए हैं। यही कारण हो सकता है एक के बाद एक द्वारका को ६ बार इस विपत्ति का सामना करना पड़ा। समुद्रों में यह भयंकर स्थिति तब आती है जब ग्रीनलैंड और अंटार्कटिका के निकटवर्ती हिमखण्ड ध्रुवीय शिखरों के निश्चित अवधि के बाद उष्ण हो जाने पर पिघल जाते हैं। उससे समुद्रों का जल-स्तर चढ़ जाता हैं। हडसन की खाड़ी के अध्ययन से पता लगता है कि हर ५५० वर्ष के बाद ऐसी स्थिति आती है। हर ५६७ वर्षों के बाद सौर-मंडल के ग्रहों का भी एक प्रमुख संगम होता है। हो सकता है कि समुद्रों के भयंकर ज्वार और भाटे पर उसका भी कुछ असर पड़ता हो। भूतलीय इतिहास के इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान समय से ६००० से सेकर १८००० वर्ष पूर्व के बीच समुद्रों का जल-तल १५० मीटर तक चढ़ा है और वहाँ जाकर स्थिर हो गया है। हमारा आज का जलवायु उसी जल-तल की स्थिरता का परिणाम है। इसी काल में मानवीय सभ्यता में और बुद्धि-कौशल में विशेष उन्नति हुई है।

८०० ई० पू० से लेकर २५० ई० पू० तक सभ्यता के विकास में एक बुद्धि-मत्ता की लहर आई। इसी काल में बौद्ध मत, जैन मत, और उपनिषत्परक हिन्दुत्व भारत में, कनफ्यूशियसवाद और ताओवाद चीन में, जरदुश्ती मत ईरान में और यहूदी मत पश्चिमी एशिया में उदित हुए।

ईसा के बाद के २५० से लेकर ८०० वर्ष तक भी लगभग इसी प्रकार की विशिष्ट दो ऐतिहासिक धाराओं की पहचान की जा सकती है। अन्तिम ऐतिहासिक लहर को 'औपनिवेशिक लहर' कह सकते हैं जो १३५० ई० के आसपास प्रारम्भ हुई और जिसके कारण कठोर शीत से घबराकर यूरोपीय शक्तियों ने संसार के भिन्न-भिन्न गरम प्रदेशों में अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किये। उन्नीसवीं सदी तक आते-आते उपनिवेशवाद की वह लहर भी समाप्त हो गई। इन पाँच सदियों में क्रमशः स्पेन, पुर्तगाल, हालैण्ड, फ्रांस और ब्रिटेन का प्रायः एक-एक सदी तक बोल-बाला रहा।

विज्ञान के क्षेत्र में समुद्रों का, उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों का तथा पेड़ों के तनों में पड़ने वाले छल्लों का (जिनके आधार पर पेड़ों की आयु निर्धारित की जाती है) अध्ययन करने से यह पता लगता है कि गत् ११,००० वर्षों में हर ५५० वर्ष बाद ऐसी नृतत्त्वीय लहरें चलती रही हैं जिन्होंने मानवीय इतिहास को विशेष रूप से प्रभावित किया है।

द्वारका-सम्बन्धी इस विवरण से मैं स्वयं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, उसका उल्लेख पाठकों के समक्ष करना चाहता हूँ।

मेरे निष्कर्ष

द्वारका के समुद्र-गर्भ-स्थित अवशेषों को इतिहासकारों ने ३५०० वर्ष पुराना और सिन्धु-सभ्यताकालीन माना है। सिन्धु सभ्यता को अब तक इतिहासकार तीन हजार वर्ष से लेकर ५ हजार वर्ष तक प्राचीन मानते हैं। पाश्चात्य इतिहास-कारों ने उसे अनार्य सभ्यता बताया। उन्हीं के उच्छिष्टभोजी कुछ भारतीय इतिहासकार भी उन्हीं की हाँ में हाँ मिलाते हुए यह कहते रहे कि सिन्धु सभ्यता अर्थात् अनार्य सभ्यता अत्यन्त समृद्ध थी और विदेशों से आए जंगली आर्यों ने अपने शस्त्रबल से उसे नष्ट कर दिया। मोएन-जो-दड़ो और हड़प्पा उसी समृद्ध अनार्य सभ्यता के अवशेष हैं। परन्तु आर्यों के विदेशों से यहाँ आने का आज तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, न ही किसी भारतीय ग्रन्थ में इसका उल्लेख है।

सिन्धु सभ्यता ५ हजार वर्ष पुरानी है, यह बात सही है। इसका अर्थ हुआ कि वह महाभारतकालीन है। महाभारत को हुए भी ५ हजार वर्ष ही होते हैं। तथा-कथित सिन्धु सभ्यता न केवल महाभारतकालीन है, वरन् आर्य सभ्यता ही है, अनार्य नहीं। वह सभ्यता अपने विलास-वैभव और समृद्धि के कारण स्वयं ही ध्वस्त हुई, जैसेकि रोमन और ग्रीक साम्राज्य नष्ट हो गए। बड़े-बड़े समृद्ध शहर भूकम्प, बाढ़ या अन्य प्राकृतिक प्रकोपों के कारण भी नामशेष हो जाते हैं; किसी के आक्रमण से उनके नष्ट होने की कल्पना व्यर्थ है। उदाहरण के लिए, मोएन-जो-दड़ो सिन्ध की बाढ़ के कारण ध्वस्त हुआ और द्वारका समुद्र के ज्वार के कारण। इसीलिए समुद्र-गर्भ-स्थित अवशेष यदि सिन्धु सभ्यता के अन्य अवशेषों से मिलते-जुलते हैं, तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। वे उसके महाभारतकालीन होने के ही प्रमाण हैं, जो विशुद्ध आर्य सभ्यता के ही प्रतीक हैं, अनार्य सभ्यता के नहीं। पुरातत्त्वज्ञ यदि द्वारका के समुद्र-गर्भस्थित उन अवशेषों को ३५०० वर्ष पुराना मानते हैं तो उनकी इस धारणा में भी यही भ्रान्ति प्रमुख है कि महाभारत का युद्ध केवल साढ़े तीन हजार वर्ष पहले हुआ। महाभारत के युद्ध को पाँच हजार वर्ष पुराना मानते ही जहाँ सिन्धु सभ्यता के काल की स्पष्ट संगति लग जाती है, वहाँ उस सभ्यता को अनार्य मानने और आर्यों द्वारा उसके विनाश की तथा आर्यों के विदेशों से आने की कल्पना भी स्वयं धराशायी हो जाती है।

महाभारत के काल में आर्यों का नैतिक पतन और भौतिक अभ्युदय दोनों साथ-साथ चल रहे थे। भौतिक समृद्धि के साथ नैतिक पतन भी इतिहास से ही प्रमाणित है। अत्यधिक मद्यपान के कारण स्वयं श्रीकृष्ण के सामने ही यदुवंश का विनाश क्या इतिहास की कोई छोटी त्रासदी है? अपनी समृद्धि के कारण स्वर्णमयी कहलाने वाली द्वारका यदि भयंकर समुद्री ज्वार के रूप में प्राकृतिक प्रकोप का शिकार हुई तो यदुवंश का विनाश मानवीय नैतिक त्रासदी का परिणाम है।

उस काल की समृद्धि का भी एक विशेष कारण है। भरतवंशियों ने उस समय पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण में जो अपनी विजय-यात्राएँ कीं, उनसे समस्त पूर्वी और पश्चिमी एशिया तथा अफ्रीकी देश भी अप्रभावित नहीं रहे। समुद्री व्यापार और आवागमन भी खूब बढ़ा। अपनी अनेक प्रकार की प्राकृतिक सम्पदाओं, पण्य-वस्तुओं, कला-कौशल और ज्ञान-विज्ञान का भारत ने जितना निर्यात (और आयात भी) किया, उससे इसकी समृद्धि दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती गई। तभी अरबसागर का नाम संस्कृत साहित्य में 'रत्नाकर' पड़ा, क्योंकि उसके माध्यम से रत्नों की खेप पर खेप भारत आती-जाती थी। भारतीय वस्तुओं की विदेशों में अत्यधिक माँग थी। जब द्वारका के माध्यम से श्रीकृष्ण ने पश्चिमी एशिया और अफ्रीकी देशों के साथ व्यापार पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया, तो द्वारका को 'स्वर्णमयी' होना ही था।

ओखामण्डल

द्वारका और बेट-द्वारका जिस प्रदेश में स्थित हैं वह ओखामण्डल कहलाता है। यह ओखामण्डल क्या 'उषामण्डल' नहीं है? पाठक पूछेंगे—यह 'उषा' कौन? उत्तर है—श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध की पत्नी का नाम उषा था। उसी उषा के नाम से यह स्थान उषामण्डल कहलाया। उषा को हरिवंश पुराण में बाणासुर की कन्या बताया गया है। तब अगला प्रश्न होगा—यह बाणासुर कौन है?

असीरिया (आधुनिक ईराक) के इतिहास में एक बनीपाल नामक राजा का उल्लेख मिलता है। लगता है कि वह बनीपाल ही पुराण-वर्णित बाणासुर है। 'असुर' इसलिए कि वह असीरिया का निवासी था। असुर शब्द में राक्षसपने का भाव उतना नहीं जितना विदेशी होने का भाव है। जिस प्रकार 'म्लेच्छ' शब्द में भी भ्रष्टता के बजाय मूलतः गैर-जबान बोलने वाले (म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि) का भाव ही अधिक था। विदेशी होने के कारण उसका खान-पान और बोलचाल आर्यों से भिन्न हो, इसमें आश्चर्य क्या है? इसलिए जब विदेशियों को आत्मसात् करने में असमर्थता के कारण भारतीयों में उनसे घृणा की प्रवृत्ति पैदा हुई, तब असुर शब्द का अर्थ भी राक्षस हो गया। असीरिया के राजा बाणासुर को पराजित कर श्रीकृष्ण ने उसकी कन्या उषा से अनिरुद्ध का विवाह किया और उसी की स्मृति में इस प्रदेश का नाम उषामण्डल पड़ा। महाभारत-काल में विदेशी कन्याओं से विवाह की बात भी कोई असामान्य बात नहीं थी।

इस प्रकार वर्तमान द्वारका और ओखामण्डल एकदम वही न सही, पर महाभारतकालीन ही हैं—मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। आगे सुधीजन विचार करें।

('आर्य जगत्' के २७ अगस्त और ३ सितम्बर १९८९ के अंकों में प्रकाशित)

ऋषि दयानन्द—मेरी दृष्टि में 'आप्त राष्ट्रपुरुष'

जब आप मेरी दृष्टि की बात करते हैं तब शुरू में ही यह मानकर चलना होगा कि मेरी दृष्टि की अपनी सीमा है। सूक्ष्म दृष्टि या अन्तर्दृष्टि की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। पर अपनी ससीम दृष्टि के प्रति भी मेरी ममता है, क्योंकि वह मेरी है। जब तक 'मैं' (अहम्) है, तब तक मेरी दृष्टि भी है और उसे मैं छोड़ भी नहीं सकता (अ + हम्)। मेरी इस दृष्टि से असहमत होने का आपको पूरा अधिकार है। पर मुझे पहले कहने तो दीजिए कि वह मेरी दृष्टि क्या है ?

जन्म-जन्मान्तर से मनुष्य में मुक्ति की कामना रही है। यह मुक्ति की कामना क्या है और 'स्वतन्त्रः कर्ता' कहकर जीवात्मा को कर्म करने में स्वतन्त्र बताने का तात्पर्य क्या है, इस पर विचार करें तो स्वतन्त्रता और मुक्ति परस्पर समानार्थक ही प्रतीत होते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार "अथ त्रिविध-दुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः"—अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। न्यायदर्शन के अनुसार "बाधनालक्षणं दुःखमिति तदत्यन्त-विमोक्षोपवर्गः"—बन्धन ही दुःख का कारण है और उसकी अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है, अपवर्ग है। स्वतन्त्रता भी तो बन्धन से निवृत्ति ही है। इस तथ्य के आलोक में ऋषि दयानन्द ने आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक उन्नति को—धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि को ही मोक्ष एवं स्वतन्त्रता का परिचायक माना है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अर्थात् समाज की एक इकाई है। व्यष्टि से समष्टि का निर्माण होता है। व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र—यह इकाई, दहाई, सैंकड़े का ही खेल है, अन्य कुछ नहीं। व्यक्ति के मूल में आत्मचेतना है, वह आत्मचेतना ही विकसित होते हुए सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना तक और अन्त में विश्व-चेतना तक पहुँचती है। यही 'एकोऽहं बहुस्याम्' है।

नया प्रश्न

ऋषि दयानन्द अद्भुत आत्मचेतना-सम्पन्न व्यक्ति थे, यह उनके बालजीवन से ही प्रकट हो जाता है। इस आत्मचेतना का प्रथम विस्फोट बालक मूलशंकर की

१४ वर्ष की आयु में सन् १८३८ की शिवरात्रि के उपवास की उस घटना से मुखर होता है जो सर्वप्रसिद्ध है। उस घटना को यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह सबकी परिचित है। न जाने कितनी सदियों से उस रूप में शिव की जड़ पूजा चली आ रही थी, पर बालक के मन में सहज जिज्ञासावश यह प्रश्न उठा कि क्या यही सच्चा शिव है जो अपने सिर पर से, उछल-कूद मचाते, नैवेद्य और मिष्ठान्न खाते, छोटे-छोटे मूषकों को भी नहीं हटा सकता? शिव तो असीम शक्ति-धारी और त्रिपुर-संहारी कहे जाते हैं, यह शिव तो वैसा नहीं लगता? यह प्रश्न था जिसने बालक के जिज्ञासु मन को झकझोर दिया। कवि ने कहा है—

प्रश्न हूँ, उत्तर नहीं हूँ।
क्योंकि मैं नश्वर नहीं हूँ॥

प्रश्न चिरन्तन है, उत्तर क्षणस्थायी है। सदियों से किसी ने ऐसा प्रश्न नहीं किया था। समस्त ज्ञान-विज्ञान की खोज के मूल में यही प्रश्न तो है – ऐसा क्यों? प्रश्न नहीं तो उत्तर भी नहीं। ऐसे पारस पत्थर की खोज करते-करते ही, जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाए, मानव इतनी विराट् वैज्ञानिक उन्नति के शिखर तक पहुँच गया। मानव-मन प्रश्न करता गया, उनके उत्तर खोजता गया, वैज्ञानिक उन्नति होती गई, उत्तर मिलते गए और मिटते गए, पर प्रश्न अंगद का पाँव जमाए फिर खड़ा है –ऐसा क्यों? और मनुष्य अब पृथिवीलोक से उठकर अन्तरिक्ष-लोक के अवगाहन में जुटा है और नित्य नए-नए तथ्य सामने आते जा रहे हैं। ज्ञान अनन्त है तो उसकी खोज का भी अन्त नहीं।

फिर शंकर के मूल का अनुसन्धान करते बालक मूलशंकर के मन में १४ वर्ष की आयु में उठा प्रश्न क्या यों ही क्षणिक उत्तरों से विलीन हो जाता? उसने तो सारे जीवन को दाँव पर लगा दिया। १४ वर्ष की आयु 'लालयेद् पंचवर्षाणि' वाली आयु नहीं है, 'दशवर्षाणि ताड़येद्' वाली आयु भी नहीं है। बालक के पहले पाँच वर्ष माँ की ममता से भरे हैं, तो अगले पाँच वर्ष पिता के कठोर अनुशासन के—जिसमें यदा-कदा ताड़न भी अस्वाभाविक नहीं है, पर दस वर्ष की आयु के बाद तो अगला सोपान 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्'—१६ वर्ष की वह आयु ही है जब पिता को भी पुत्र के साथ मित्र की तरह आचरण करने का विधान है। अभी १६वें वर्ष तक पहुँचने में दो वर्ष की कसर है, पर शरीर, मन और मस्तिष्क का तीव्र गति से विकास प्रारम्भ हो चुका है। इस सन्धि-वेला में, किशोरावस्था की देहली पर, बालक के मन में प्रश्न उठता है—क्या यही सच्चा शिव है?

इस आयु में उठे प्रश्नों का और जिज्ञासाओं का यदि उचित समाधान न मिले तो वह कितना विप्लवकारी बन सकता है, यह हरेक मनुष्य अपने अनुभव से जानता है, क्योंकि हममें से हरेक उस आयु से गुजरकर आया है। बालक मूलशंकर के प्रश्न का भी क्षणस्थायी उत्तरों से समाधान नहीं हुआ और अन्त में २२ वर्ष की

आयु होते-होते, जब माता-पिता सत्य की खोज को विवाह के हिरण्मय पात्र से ढकने का प्रयत्न करके उस प्रश्न को सदा के लिए समाप्त कर देना चाहते थे, तब मूलशंकर शंकर के मूल को खोजने के लिए घर से निकल पड़ा—अनन्त की ओर। तो यह था उसकी आत्मचेतना का प्रथम प्रबल विस्फोट।

पर क्या सामाजिक चेतना और राष्ट्र-चेतना भी प्रकारान्तर से आत्मचेतना का विकास ही नहीं है? जितनी तीव्र आत्म-चेतना, उतनी ही तीव्र समाज-चेतना और उतनी ही तीव्र राष्ट्र-चेतना भी। पर हम नाना प्रकार के हिरण्मय आवरणों से उन चेतनाओं के विकास को अवरुद्ध करने का प्रयत्न करते रहते हैं और प्रायः वे अवरुद्ध हो भी जाती हैं, नहीं तो आप में से भी न जाने कितने और दयानन्द पैदा हो जाते। मेरा निवेदन यह है कि आत्मचेतना के प्रबल विस्फोट की द्योतक शिव-रात्रि की उक्त घटना में भी सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का अंकुर छिपा था। आप पूछेंगे—कैसे?

शिव का रूपक

पौराणिक मण्डली में शिव के जितने रूपों का वर्णन किया जाता है, आप उन पर विचार करके देखिए, तो वे निरे रूपक नजर आएँगे। भला कभी कोई ऐसा भी हो सकता है जो सदा कैलास पर्वत के बाईस हजार फुट ऊँचे शाश्वत हिमाच्छादित शिखर पर निवास कर सके? मैंने स्वयं कैलास और मानसरोवर की यात्रा की है, सो प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर कह सकता हूँ कि वहाँ न कोई शिव का मन्दिर है, न ही कोई शिव की मूर्ति है। इस प्रकार के शरीरधारी व्यक्ति के अस्तित्व का तो प्रश्न ही नहीं। हाँ, अब भक्त लोग यह कहते हैं कि पूरा कैलास-शिखर ही शिवलिंग के सदृश है। पर यह भी केवल कल्पना-विजृम्भण मात्र है। फिर शिव के सिर से गंगा निकलती है, क्या यह भी कभी सम्भव है? या यह सृष्टि-नियम के अनुकूल है? गंगा गंगोत्री और गोमुख से निकलती है, कैलास पर्वत से नहीं; कैलास और गंगोत्री में सैंकड़ों मीलों की दूरी है—यह प्रत्येक भूगोलवेत्ता जानता है। मानसरोवर से सतलुज (शतद्रु) और कैलास-शृंखला से सिन्धु और ब्रह्मपुत्र अवश्य निकलती हैं। जो प्रत्यक्ष है, उसका अपलाप कोई कैसे कर सकता है? पर यदि यह सब रूपक है, तो साहित्यिक दृष्टि से शिव-सम्बन्धी समस्त पौराणिक वर्णन सत्य है, मिथ्या नहीं। संस्कृत-साहित्य में एक श्लोक आता है जिसमें शिव के सांगोपांग रूप का वर्णन इस प्रकार है—

पिनाक-फणि-बालेन्दु-भस्म-मन्दाकिनीयुता।
पवर्गरचिता मूर्तिरपवर्गप्रदास्तु नः॥

पवर्ग में ५ अक्षर आते हैं—प, फ, ब, भ, म। इन पाँचों अक्षरों से एक-एक शब्द निर्मित है—प से पिनाक, फ से फणी, ब से बालेन्दु, भ से भस्म, म से

मन्दाकिनी। पिनाक यानी शिवजी का धनुष, फणी यानी साँप—जो शिवजी गले में धारण करते हैं, बालेन्दु यानी दूज का चाँद जो शिवजी के मस्तक पर विराजमान है, भस्म—जिसे शिवजी अपने सारे शरीर पर रमाते हैं, मन्दाकिनी यानी गंगाजी शिवजी के सिर से निकली हैं। इस प्रकार पिनाक, फणी, बालेन्दु, भस्म और मन्दाकिनी इन पाँचों के आद्य अक्षरों से—अर्थात् प फ ब भ म से—पवर्ग से—जो मूर्ति बनी है वह आपको अपवर्ग प्रदान करे। पवर्ग से बनी मूर्ति भला अपवर्ग कैसे प्रदान करेगी? क्योंकि अपवर्ग का अर्थ होगा—जो पवर्ग नहीं। पर इसमें जो प्रतीपालंकार का चमत्कार है, साहित्य के सुधी रसिक जन उसका आस्वादन कर-कर के सराहेंगे—वाह! पवर्ग-रचित मूर्ति अपवर्ग प्रदान करे। क्या सुन्दर उक्ति है! क्योंकि विद्वज्जन जानते हैं कि अपवर्ग का अर्थ मोक्ष भी है।

रूपक की दृष्टि से यह सब सही क्यों है? कहने का ढंग ही तो है! शिवजी के सिर से गंगा निकलती है, यह कहने के बजाय यह कहकर देखिए—जिसके सिर से गंगा निकलती है, वह शिव है। अब किसके सिर से गंगा निकलती है, यह भूगोल का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। हिमालय भारत का सिर है, इसी हिमालय से गंगा (मन्दाकिनी) निकलती है—'हिमवतः गंगा प्रभवति', इसका फलितार्थ यह हुआ कि भारत ही वह शिव है जिसके सिर से गंगा निकलती है। अब पवर्ग-रचित उक्त रूपक के शेष शब्दों को एक-एक करके ले लीजिए। पिनाक यानी धनुष—धनुर्विद्या और धनुर्वेद के विकास के लिए क्या संसार में भारत के सिवाय और कोई देश भी प्रसिद्ध है? धनुषबाण के रूप में संसार के इस सर्वप्रथम प्रक्षेपास्त्र का निर्माण और प्रथम आविष्कार भारत में नहीं तो और कहाँ हुआ? फणी के साथ भी यही बात है। सारे संसार में 'साँपों का देश' के नाम से सिवाय भारत के और कौन-सा देश प्रसिद्ध है? कुछ अन्य देशों में भी साँप बेशक होते हैं, पर साँप की जितनी किस्में और नस्लें इस देश में हैं उतनी और किसी देश में नहीं। फिर, भारत के सपेरे, जिनकी बीन का जादू विदेशों में होने वाले भारत-महोत्सवों में भी लोगों को मुग्ध किये बिना नहीं छोड़ता। इसलिए साँपों के देश वाला लक्षण भी भारत पर ही घटता है।

बालेन्दु—शुभ्र चाँदनी का द्योतक है। जैसी स्वच्छ चाँदनी भारत में है, वैसी और कहाँ? "सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका"—यह उक्ति निरभ्र आकाश में शीतल और आह्लाददायिनी चन्द्रिका का वर्णन करते हुए किसी भारतीय कवि के मुख से ही निकल सकती है। पाश्चात्य देशों के लिए तो स्वच्छ धूप और स्वच्छ चाँदनी दोनों ही दुर्लभ हैं, इसलिए जिस दिन धूप निकल आये वह उनके लिए 'व्हाट ए फाइन डे' बन जाता है।

भस्म तो स्पष्ट है। अंग-अंग भस्म रमाए साधु सिवाय भारत के और किस देश में मिलेंगे! जिन नागा साधुओं का एकमात्र आवरण भस्म ही होती है, वे

निरावरण साधु भारत में ही सुलभ हैं—जिनकी शाहियाँ (शोभा-यात्रा) हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर निकलती हैं और हर की पौड़ी पर उस दिन सर्वप्रथम स्नान करने का अधिकार परम्परा से उन्हें ही प्राप्त है।

मन्दाकिनी की बात ऊपर आ ही चुकी है। इस प्रकार पवर्ग-रचित यह शिव का सारा रूपक भारत पर ही घटित होता है। इसलिए जब आप असली शिव की खोज पर निकलेंगे, तब क्या इन रूपकों के फलितार्थों को हृदयंगम किये बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे? इसलिए शिवरात्रि के दिन 'क्या यह सच्चा शिव है?'—इस प्रश्न के उदय को जिस प्रकार आप आत्मचेतना का विस्फोट कहते हैं, मुझे उसमें राष्ट्रचेतना भी छिपी हुई दिखाई देती है।

कैलास और कन्याकुमारी

शिव के रूपक का एक और चमत्कार भी देखिए। शिव कैलास पर निवास करते हैं और पार्वती कन्याकुमारी में तपस्या कर रही हैं। तपस्या का लक्ष्य क्या है?—

कोटि जनम ते रगर हमारी।
वरहुँ शम्भु न तौ रहौं कुँवारी।।

अब शिवजी कैलास पर और पार्वती कन्याकुमारी में—भूगोल की दृष्टि से दोनों स्थान की दूरी में दो हजार मील का अन्तर। इस दूरी को पाटे बिना शिव और पार्वती का विवाह कैसे हो? विवाह नहीं होगा, तो पार्वती कुँवारी रह जाएगी, निरी कुमारी कन्या (कन्या कुमारी)। इसलिए विवाह अनिवार्य है। शिव-पार्वती के विवाह की कथा का यह रूपक भी क्या राष्ट्रीय भावात्मक एकता (नेशनल इमोशनल इण्टिग्रेशन) का द्योतक नहीं है? यों सामान्यतया कैलास पर शिवजी को और कन्याकुमारी में पार्वती को प्रतिष्ठित करके भारत की उत्तरी और दक्षिणी सीमा को ही जन-जन के मन में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। जिस युग में भूगोल पुस्तकों में नहीं लिखा जाता था, उस युग में ऐसी कथाओं और रूपकों से ही भूगोल को स्मरणीय बनाया जाता था। यह पौराणिक भाषा में भारत का भूगोल ही तो है!

ब्रह्मा और विष्णु

यद्यपि विषयान्तर का भय है, पर यहीं ब्रह्मा और विष्णु के भी रूपकों का थोड़ा संकेत कर देना अनुचित नहीं होगा। तभी ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन त्रिदेवों की त्रिपुटी के एकत्र समाधान की सम्भावना है।

विष्णु को शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज के रूप में चित्रित किया जाता है। ऐसा व्यक्ति भी भौतिक जगत् में असम्भव है, सृष्टि-नियम के सर्वथा प्रतिकूल।

पर रूपक की दृष्टि से वह भी अत्यन्त अर्थगर्भित है। इसका संकेत मुझे मिलता है उस श्लोक से जिसे आस्थावान् हिन्दू प्रातःकाल उठते ही पृथिवी पर पाँव रखने से पहले उच्चारण करता है, जो इस प्रकार है—

समुद्रवसने देवि पर्वत-स्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

यह समुद्र की साड़ी पहनने वाली और पर्वतों के स्तनमण्डल को धारण करने वाली विष्णु-पत्नी—लक्ष्मी, भूमि-माता या भारतमाता नहीं तो और क्या है?

यह भूमिमाता रत्नगर्भा है, वसुन्धरा है, अन्नपूर्णा है। इसी के खेतों से तरह-तरह के खाद्यान्न और वनों से नाना वनस्पतियाँ और ओषधियाँ पैदा होती हैं। सोना, चाँदी, लोहा, तांबा और न जाने कौन-कौन-सी धातुएँ इसी के गर्भ से निकलती हैं। 'ब्लैक गोल्ड' (काला सोना) कहलाने वाला कोयला और 'लिक्विड गोल्ड' (तरल सोना) कहलाने वाला पेट्रोल इसी की कोख की देन है। इस पेट्रोल का महत्त्व कितना है, इसका अनुमान इस बात से लगाइए कि इसकी आपूर्ति के लिए हमें सोना तक गिरवी रखना पड़ता है। इस खनिज तेल से अब तो उपोत्पाद के रूप में लगभग ५०० चीजें तैयार होती हैं, और पैट्रोकैमिकल्स के नाम से विज्ञान की एक अलग शाखा ही चल पड़ी है। यदि राष्ट्र विष्णु है, तो यह भारत-माता विष्णुपत्नी है, साक्षात् लक्ष्मी है।

वेद में 'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्' इस मन्त्र में जिस आर्यराष्ट्र की कल्पना की गई है, वह क्या पूरी-की-पूरी विष्णु के 'शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी' चतुर्भुज रूप में समाहित नहीं है? राष्ट्र के अज्ञान को दूर करने वाले ब्राह्मण का प्रतीक है शंख, राष्ट्र के अभाव को दूर करने के लिए नाना देश-देशान्तर का चक्कर लगाने वाले वैश्य का प्रतीक है चक्र, राष्ट्र में अन्याय को दूर करने वाले क्षत्रिय का प्रतीक है गदा, और राष्ट्र के आलस्य को दूर कर अपने श्रम से खेतों में और कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों का प्रतीक है पद्म। बुद्धिजीवी, शास्त्रजीवी, धनजीवी और श्रमजीवी—शिक्षक, रक्षक, पोषक और श्रमिक के रूप में जब विष्णुरूपी राष्ट्र की भुजाएँ बनकर कार्य करते हैं, तब आर्यराष्ट्र का स्वप्न साकार होता है। श्रम के बिना धन नहीं आता, श्रम में ही लक्ष्मी निवास करती है। जिस धन के साथ व्यक्ति के स्वेदकण नहीं जुड़े हैं वह कालाधन है, श्वेतधन नहीं। बिना श्रम से उपार्जित काले धन ने आज एक ऐसी समानान्तर सरकार खड़ी कर दी है कि उसके सामने वास्तविक सरकार भी विवशता अनुभव करती है। आज देश के भयंकर आर्थिक संकट का मुख्य कारण यही है। 'पुष्पिण्यौ चरतो जंघे'—चलने वाले, श्रम करने वाले व्यक्ति की जाँघों में फूल खिलते हैं, ऐतरेय ब्राह्मण के इस वचन में और विष्णु के एक हाथ में पद्म धारण करने में क्या अन्तर है?

रहे ब्रह्मा, वे तो साक्षात् वेदोपदेष्टा हैं, ज्ञान-विज्ञान के आगार हैं। ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती उनकी पुत्री है। उनकी उपासना का सीधा अर्थ है—ज्ञान की उपासना। सारे देश में विष्णु और शिव के मन्दिर तो सैकड़ों हैं, पर ब्रह्मा-जी के मन्दिर केवल दो हैं—एक पुष्कर में, और दूसरा गोहाटी में। विष्णु और शिव के उपासक भी हजारों-लाखों हैं, पर ब्रह्माजी के उपासकों की गिनती नगण्य है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि अब भारत के निवासियों की ज्ञान की आराधना में रुचि नहीं रही।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एक व्यवहार-संगत व्याख्या और भी है। जो भी व्यक्ति छात्रावस्था में विद्या की आराधना करता है, वह प्रकारान्तर से ब्रह्मा की उपासना है। जब गृहस्थ में प्रवेश करता है और घर में गृहिणी के रूप में घर की लक्ष्मी प्रवेश करती है, तब वह विष्णु का उपासक है; और जब वानप्रस्थ में वैराग्य धारण कर निवृत्ति-मार्ग की ओर बढ़ता है, तब शिव का उपासक है। और शिवजी श्मशान में निवास करते हैं तो चतुर्थ आश्रम में श्मशान जाने का अवसर भी उप-स्थित हो ही जाता है। इस प्रकार वैदिक धर्म के कालिदास-प्रोक्त चतुराश्रम वर्णन की प्रतीक है त्रिदेवोपासना। यथा—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

आप कहेंगे—ऋषि दयानन्द ने मूर्तिपूजा का इतना प्रबल खण्डन किया है जैसा और किसी ने नहीं किया, और आप प्रच्छन्न रूप से रूपकादि के व्याज से उसी का समर्थन कर रहे हैं? मेरा कहना यह है कि रूपक और अलंकार आदि साहित्यिक रसास्वादन के लिए हैं, वे कल्पना-विलास और मानव की रागात्मक वृत्ति की तृप्ति के लिए हैं, व्यावहारिक जीवन में तो ठोस सत्य का ही आश्रय लेना पड़ता है। हिन्दू समाज से गलती यह हुई कि उसने इन रूपकों और आलंकारिक वर्णनों को जीवन का अंग बना लिया। जो रूपक आत्मचेतना से सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना की ओर ले-जाने वाले होने चाहिए थे, वे मूर्तिपूजा के रूप में न आत्मचेतना के वाहक बने, न सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के। इस जड़पूजा ने सारे राष्ट्र को जड़ बना दिया—ऐसा जड़, जिसमें किसी भी प्रकार की चेतना नहीं रही।

भक्तिकाल की विशेषता

मैं मानता हूँ कि अब से लगभग ५०० वर्ष पहले राष्ट्र के प्रत्येक प्रदेश में जो भक्तिकाल का युग आया और प्रत्येक प्रदेश में उस-उस प्रदेश की भाषा में सन्त-कवि पैदा हुए, वह देश की अद्भुत सांस्कृतिक एकता का प्रतीक है। यदि समग्र देश में सांस्कृतिक एकता का यह मणि-सूत्र न होता, तो यह कैसे सम्भव था कि प्रत्येक

प्रान्त में लगभग एक-साथ भक्त-सन्त कवि पैदा होते ! यह चमत्कार इतिहासकारों को आश्चर्य में डाल सकता है। दक्षिण भारत में अलवार सन्त, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य आदि आचार्य, महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम, ज्ञानेश्वर, नामदेव और समर्थ गुरु रामदास, बंगाल में चैतन्य देव, जयदेव, हरिदास, असम में शंकरदेव, सुदूर केरल में स्वाति तिरुमाल, गुजरात में नरसी मेहता, राजस्थान में मीरा और राजुल, उत्तर भारत में सूर, तुलसी और कबीर तथा पंजाब में गुरु नानक– इन सबका लगभग एक-साथ एक ही काल में उदय जिस आन्तरिक अन्तःसलिला के समान उद्गम का परिचायक है, वह अद्भुत है। इस भक्तिकाल में और तो और, ऐसे लगभग ५० मुसलमान सन्त-भक्त कवि हुए हैं जिनके विषय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का कहना था—

इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिक हिन्दू वारिए।

यह भक्तियुग का व्यापक विस्फोट एक तरह से ज्ञानकाण्ड के और कर्मकाण्ड के युग के प्रति विद्रोह का सूचक है। ज्ञानमार्ग यदि राजतंत्र था, और कर्ममार्ग सामन्ततंत्र, तो भक्तिमार्ग विशुद्ध लोकतंत्र था जिसमें ज्ञान और कर्म दोनों की उपेक्षा करके केवल भक्ति पर बल दिया गया था— ऐसी भक्ति जिसमें सवर्ण-अवर्ण, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित सभी को समान स्थान था। वहाँ तो 'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय' की पूछ थी, वहाँ ज्ञान और कर्म की पूछ कहाँ ! यह मुगलों की गुलामी के दौर में राष्ट्र के लिए ऐसा मदिर आसव था जिसमें सारा राष्ट्र आपादमस्तक डूब गया—देश में सैंकड़ों-हजारों मन्दिर बन गए और दक्षिण से चली भक्ति की आँधी सारे देश में छा गई। इस भक्तियुग में आत्ममुग्धता और आत्महीनता की भावना थी; रेत में गर्दन छिपाने वाले शुतुर्मुर्ग की तरह सारे देश ने गुलामी के उस दौर को सहजभाव से स्वीकार कर लिया और उसके प्रतिकार का कोई सामूहिक और राष्ट्रीय कार्यक्रम नहीं अपनाया। इसीलिए जड़पूजा को अपनाकर जाति ने येन-केन-प्रकारेण जीवित रहने का आधार तो तैयार कर लिया, पर उसका तेज नष्ट हो गया।

इस भक्तिकाल के मूल में आत्मचेतना के साथ जो राष्ट्रीय और सामाजिक-चेतना का तत्त्व छिपा था, उसे सर्वथा भुला दिया गया। उसके लिए मैं फिर विष्णु-पुराण का श्लोक उद्धृत करूँगा—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमि-भागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

देवता लोग भी उनके गीत गाते हैं जिन्होंने भारतभूमि में जन्म लिया है, क्योंकि वे धन्य हैं। देवताओं के लिए केवल स्वर्ग निर्धारित है, अपवर्ग नहीं; पर भारतभूमि के निवासी स्वर्ग और अपवर्ग दोनों के अधिकारी हैं। यह

स्मरण रखिए कि देवता स्वर्ग से बँधे रहने के लिए अभिशप्त हैं, अपवर्ग उनके लिए नहीं है।

पर मानव के लिए स्वर्ग और अपवर्ग दोनों हैं। यह 'फरिश्ते से बेहतर है इन्सान बनना' नहीं तो और क्या है? ज्ञानकाण्ड और याज्ञिक कर्मकाण्ड ने परलोक पर बल दिया था और भक्तिकाण्ड ने इस लोक पर—इस सीमा तक कि स्वयं भगवान् को वैकुण्ठधाम छोड़कर इस भारतभूमि में अवतार लेना पड़ा। क्या राष्ट्रीय चेतना का इससे अधिक सबल तत्त्व भी कुछ और हो सकता है? पर उस तत्त्व की जिस प्रकार उपेक्षा हो गई, उसने ऋषि दयानन्द को विचलित कर दिया। इस भक्तिकाल में जितना शृंगार-प्रधान काव्य रचा गया, वह रीतिकालीन काव्य की एक प्रमुख धारा ही बन गई। इस रीतिकालीन काव्य में नायिका-भेद और उनके नख-शिख की चर्चा ही कवियों की उत्कृष्टता की कसौटी बन गई, और उस सबका आधार बनीं कृष्ण और राधा के नाम पर जोड़ी गई पौराणिक कथाएँ, जिनमें सत्य का कहीं लेश भी नहीं था।

जड़ता की पराकाष्ठा

हमारे ज्ञानमार्गी और भक्तिमार्गी किस प्रकार सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना से हीन हो चुके थे, इसके लिए ऋषि के कलकत्ता-कथ्य के कुछ उद्धरण देना प्रासंगिक होगा। ऋषि सन् १८५५ में पहली बार कुम्भ के मेले पर गए थे और वहाँ उन्होंने साधुओं को सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति के लिए संगठित करने का प्रयत्न किया था। इसी प्रसंग में वे कहते हैं—

"शंकराचार्य के चारों मठों से सम्बन्धित हजारों संन्यासी और ब्रह्मचारी कुम्भ-मेले में उपस्थित हुए थे। मैंने उनके चारों शंकराचार्यों से और प्रधान-प्रधान संन्यासियों से केवल साधु-संगठन के लिए उपदेश, परामर्श और सहयोग माँगा था। मेरी प्रार्थना थी—'आप में से कई-एक संन्यासी आ जाइए। हम लोग सारे भारत-वर्ष में कम-से-कम एक हजार संन्यासी संगठित और मिलित हो जाएँ। हमारे उद्देश्य रहेंगे—(१) वेदप्रतिपादित धर्म का उद्धार और प्रचार करना, (२) सामाजिक आदर्श और मर्यादा को देशवासियों के सम्मुख स्थापित करना, (३) देश को विदेश और विदेशियों के प्रभाव से मुक्त करना, (४) देश के मंगल के लिए मन और जीवन समर्पित कर देना। आप में से कोई-न-कोई इस कार्य के संचालक, कर्णधार बन जाइए।'

"हमारी इस प्रार्थना पर चारों मठों के चारों शंकराचार्य और बड़े-बड़े संन्यासियों ने इस आशय पर अपने मनोभावों को इस प्रकार प्रकट कर दिया—'हम ब्रह्मवादी संन्यासी हैं, अद्वैतवादी हैं। हमारे लिए ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। राष्ट्र, समाज, परिवार, जीवन, जगत् और ये सब स्वतन्त्रता-परतन्त्रता, वर्ण,

आश्रम, हमारा-तुम्हारा भाव सब-कुछ मिथ्या है। मिथ्या के लिए हम कुछ भी करना व्यर्थ समझते हैं।'

"हम उन्हें केवल यह कहकर चले आए थे—'दुःख की बात है कि आपके भोजन के लिए अन्न, पीने के लिए पानी, रहने के लिए स्थान, सर्दी के लिए कम्बल, (गर्मी में) हवा के लिए पंखा और सेवा के लिए शिष्य ही एकमात्र सत्य स्पष्ट हो रहे हैं, शेष सभी कुछ मिथ्या मालूम पड़ते हैं।'

"इसके बाद निराश होकर मैं वैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान-प्रधान नेताओं के पास गया था। ये लोग भी कुम्भ में हजारों की संख्या में एकत्र हुए थे। ये लोग द्वैतवादी और वैष्णव-भक्त हैं।

"वैष्णवों के अन्दर सम्प्रदाय बहुत हैं। इन सम्प्रदायों के बड़े-बड़े गोस्वामी, महन्त, गुरु और साधु-संन्यासी हरिद्वार के कुम्भ-मेले में सम्मिलित हुए थे। मैंने सभी की सेवा में उपस्थित होकर देश, राष्ट्र और समाज की शोचनीय दशा के प्रति दृष्टि आकर्षण करके अपनी दोनों प्रार्थनाओं को पूर्ववत् रखा था। इन्होंने भी दूसरे ढंग की भाषा का प्रयोग करके मुझको निराश कर दिया था।

"उन सबके कहने का सारांश यह था—'हमारे ये शरीर श्रीराम या श्रीकृष्ण के भजन के लिए हैं, दूसरे कार्य के लिए नहीं हैं। दूसरे कार्य का करना, भगवान् के स्थान में देश, समाज और राष्ट्र की सेवा करना महापाप है। मानव-शरीर व्यर्थ कार्य के लिए नहीं है। महाप्रभु की सेवा और चिन्तन से मुक्ति मिलेगी, देश-समाज-राष्ट्र की वैषयिक चिन्ता से भगवद्भक्ति ढीली हो जाएगी, मुक्तिलाभ या गोलोक वैकुण्ठ जाने के मार्ग में प्रबल बाधाएँ आ जाएँगी। मानव-जीवन इतना सस्ता नहीं है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करके तब भक्ति-साधना के एक-मात्र अवलम्बन भजन के लिए शरीर मिला है। इन शरीरों को देश-समाज-राष्ट्र की भजन-विरोधी सेवा के लिए समर्पण करना बुद्धिमानों का कार्य नहीं है।'

"वैष्णव गुरुओं से निराश होकर लौटते समय मैंने केवल यह वाक्य कहा था—'जिस देश में ऐसे भक्तों की संख्या अधिक है, उस देश का सर्वनाश निश्चित है।'"

(ऋषि दयानन्द सरस्वती का अपना जन्म-चरित्र,
सम्पादक—आदित्यपाल सिंह और डॉ० वेदव्रत आलोक)

मूर्तिपूजा का अभिशाप

जब मूर्ति की पूजा ने भक्तों को इस सीमा तक आलसी, निष्क्रिय और कायर बना दिया कि वे देश-समाज-राष्ट्र की सेवा को महापाप तक कहने लगे, इससे बढ़कर देश का दुर्भाग्य और क्या होगा? इस मूर्तिपूजा ने जहाँ लोगों को भाग्य-वादी और कर्म-विमुख बनाया, वहाँ नाना सम्प्रदायों ने परस्पर वैर-विरोध-विद्वेष की लहर भी चलाई। सभी पौराणिक मूर्तिपूजक सम्प्रदाय अपने-अपने इष्टदेव को

सबसे बड़ा देवता और अन्यों के इष्टदेव को उसका अनुचर और कृपाकांक्षी सेवक बताने लगे। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदाय परस्पर-विद्वेष की आग में इस प्रकार जलने लगे कि दूसरे सम्प्रदाय वाले को देखते ही मुँह फेर लेते। माथे पर कितनी खड़ी या पड़ी रेखाएँ लगती हैं, यही सबसे बड़ा कर्मकाण्ड बन गया। इकबाल ने ठीक ही लिखा था—

सच कह दूँ ऐ बिरहमन ! गर तू बुरा न माने।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा।।

अपनों से वैर और गैरों से मुकाबले के समय मूर्ति की सर्वशक्तिमत्ता पर भरोसा—यही तो देश की पराधीनता का मुख्य कारण था। प्रश्न वही है न—"क्या यही सच्चा शिव है जो अपने सिर पर से चूहों को भी नहीं हटा सकता?" सिन्ध में जिस तरह राजा दाहर की पराजय हुई, सोमनाथ मन्दिर को जिस तरह निर्ममतापूर्वक लूटा गया, बख्तियार खिलजी ने जिस प्रकार बौद्ध मठों को और नालन्दा को भूमिसात् किया, थोड़ी-सी घुड़सवार सेना के बल पर बिहार और बंगाल को पामाल किया और उसके विरोध में कोई संगठित प्रयत्न नहीं किया गया—इस राष्ट्रीय कलंक के मूल में मूर्तिपूजा के द्वारा उत्पन्न सामाजिक नपुंसकता ही सबसे बड़ा कारण है। इसलिए ऋषि दयानन्द जैसा राष्ट्रचेता मूर्ति-पूजा के विरुद्ध खड्गहस्त न होता, तो क्या करता ! मूर्तिपूजा के इस प्रबल खण्डन में राष्ट्रचेतना ही प्रमुख कारण है।

केवल वेद नहीं

मैं भी मानता हूँ कि ऋषि दयानन्द यदि शरीर है तो वेद उसकी आत्मा है। महर्षि जैमिनि के पश्चात् ऋषि दयानन्द जैसा वेदोद्धारक पैदा नहीं हुआ। इसलिए जिस तरह मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम 'धनुर्धारी' के नाम से विख्यात हैं, और श्रीकृष्ण 'बन्सीवाले' या 'मुरलीधर' के नाम से एवं गुरु गोविन्द सिंह 'कलगी वाले' के नाम से, इसी तरह से कुछ लोग ऋषि दयानन्द को भी 'वेदां वाले सन्त, स्वामी दिगन्त, जग को जगा दिया तूने' कहते हुए मस्त होकर गाते हैं। 'वेदां वाले सन्त' कहने में वही एकांगिता है जो श्रीकृष्ण को केवल 'बंसीवाला' कहने में। क्या श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्रधारी रूप की किसी भी रूप में अवहेलना की जा सकती है? पर भक्त-सम्प्रदाय ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र को भुलाकर वृन्दावन को रस और रास की लीलास्थली बना दिया और श्रीकृष्ण को वहीं तक सीमित कर दिया। इसी तरह केवल वेद-वेद का नारा लगाने वालों ने भी ऋषि दयानन्द के राष्ट्रीय चेतना वाले स्वरूप को ओझल कर दिया। तभी मुझे यह नारा लगाना पड़ा कि आर्य-समाज की दो भुजाएँ हैं—एक वेद और दूसरी राष्ट्र। जो केवल एक भुजा की बात करता है वह आर्यसमाज को विकलांग बना देना चाहता है। अंग्रेजों के पिट्ठुओं ने

और ब्रिटिश सेवा से ऐश्वर्य-सम्पन्न बने लोगों ने ही इस बात पर सबसे अधिक जोर दिया कि आर्यसमाज केवल वेद को मानने वाली एक धार्मिक संस्था है, उसका राष्ट्र या राजनीति से कोई वास्ता नहीं। जितना-जितना उसके धार्मिक स्वरूप पर जोर दिया जाता है, उतना-उतना मेरे मन में आक्रोश बढ़ता जाता है, क्योंकि राष्ट्रीयता से विहीन धर्म केवल एक सम्प्रदाय बनकर रह जाता है, जिस तरह ईसाइयत या इस्लाम। इसीलिए ईसाइयत या इस्लाम में राष्ट्रवाद का कोई स्थान नहीं है, जबकि वैदिक धर्म में राष्ट्र की उपासना भी धर्म का अंग है, क्योंकि राष्ट्र-चेतना ही अन्त में विश्वचेतना का माध्यम बनती है। जिस तरह मैं आत्मचेतना को राष्ट्रचेतना का मूल मानता हूँ, उसी तरह राष्ट्रचेतना को विश्वचेतना का मूल मानता हूँ। इसीलिए मैं 'जयहिन्द' की सीढ़ी के बिना 'जयजगत्' के नारे को हवाई और खोखला मानता हूँ। पर आजकल के भक्तों और धार्मिक लोगों को राष्ट्रीय शान्ति की उतनी चिन्ता नहीं, जितनी विश्व-शान्ति की है। इसीलिए जहाँ देखो वहाँ विश्वशान्ति के नाम पर यज्ञों, कीर्तनों और पूजापाठ की भरमार है। जो अपने सिर पर छत का इन्तजाम नहीं कर सकते, वे 'आकाश बाँधूँ पाताल बाँधूँ' के कुलाबे मिलाते रहें, इसमें पलायनवादी मानसिक विलास और भक्तजनों के आर्थिक शोषण की पौराणिक परम्परा नहीं तो और क्या है? एक खास बात यह भी ध्यान देने की है कि आर्यसमाज के स्वनामधन्य नेताओं ने जितना राष्ट्रीयता-विहीन धार्मिक संस्थावाद पर जोर दिया, आर्य जनता ने उतना नहीं। आर्य जनता सदा राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत रही। और तो और, ये आर्यनेता अपने पुत्रों को भी इस राष्ट्रचेतना से नहीं बचा सके। स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, महाशय कृष्ण, महात्मा आनन्दस्वामी — चारों आर्य नेताओं के पुत्र क्रान्तिकारी बने।

मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि जिस तरह ऋषि दयानन्द ने वेदमन्त्रों के अर्थ किये हैं और सब प्रकार के पाखण्डों, अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों के जनक होने के पौराणिक वेदाभिमानी पण्डितों द्वारा लगाये गए कलंक से मुक्त किया है, उसके पीछे राष्ट्रीय चेतना ही प्रमुख कारण थी। यदि उनके मन में यह राष्ट्रचेतना न होती, तो हो सकता है कि वे वेदों को इस रूप में उपस्थित न करते। क्या ऋषि दयानन्द से पहले किसी भी पूर्ववर्ती भाष्यकार ने वेदमन्त्रों के राष्ट्रपरक और राजनीति-परक अर्थ करने का साहस किया है? इसका मूल कारण यही है कि पूर्ववर्ती भाष्यकारों में ऋषि-जैसी राष्ट्रचेतना का विकास नहीं हुआ था; वे केवल आत्मचेतना के स्तर तक ही रह गए थे।

जब ऋषिवर सन् १८५५ में पहली बार हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर गए थे, उससे पहले वे लगभग दस वर्ष तक योगियों, साधुओं, तान्त्रिकों और नाना मत-मतान्तरों में फँसे सामान्य नागरिकों के सम्पर्क में आए थे और उन्होंने देश की दुर्दशा का निकट से अवलोकन किया था। इसी कारण उनकी आत्मचेतना राष्ट्र-

चेतना में विकसित होती जा रही थी। मेरे लिए यह प्रश्न गौण है कि सन् १८५७ की प्रथम राज्यक्रान्ति में ऋषि ने कोई सक्रिय भाग लिया या नहीं। मेरे लिए मुख्य यह है कि उनमें जिस सीमा तक राष्ट्रचेतना का परिपाक हुआ था, वह उनको शान्त नहीं बैठने दे सकती थी। उन्होंने १८५७ के स्वातन्त्र्य-समर में सक्रिय भाग लिया हो या न लिया हो, पर इस पर तो किसी को विवाद नहीं है कि उन्होंने उस राज्यक्रान्ति को अपनी आँखों से विफल होते देखा था और उनकी राष्ट्रचेतना भविष्य में वैसी पराजय के प्रतिकार के लिए उन्हें किसी रचनात्मक दिशा को सोचने के लिए विवश कर रही थी। उसी मानसिक उथल-पुथल के बीच वे सन् १८६० में गुरु विरजानन्द की शरण में मथुरा पहुँचे थे।

ऋषि की स्वोपज्ञ प्रतिभा

गुरु विरजानन्द व्याकरण के सूर्य थे। व्याकरण को वेदों का मुख बताया गया है। गुरु विरजानन्द ने अपने इस अद्भुत चेतनावान् बाल-ब्रह्मचारी शिष्य को वेद पढ़ाए हों, इसमें मुझे सन्देह है। हाँ, उन्होंने एक गुरुमन्त्र अवश्य दिया था—और वह गुरुमन्त्र था—सदा ऋषि-कृत (आर्ष) ग्रन्थों को आदर देना, मनुष्यकृत ग्रन्थों को नहीं। इस गुरुमन्त्र के माध्यम से ही ऋषि शनैः-शनैः स्वोपज्ञ प्रतिभा से ही वेदों तक पहुँचे। यह मैं इसलिए कहता हूँ कि गुरु द्वारा दिये गए मन्त्र से ऋषि को एक कसौटी तो मिल गई थी, पर यदि गुरु विरजानन्द ने अपने शिष्य को वेदों के मर्म तक पहुँचा दिया होता, तो ऋषिवर गुरु से विद्याध्ययन के पश्चात् जयपुर में शैव मत का मण्डन न करते, और एक श्रद्धालु भक्त को वेदान्त का प्रौढ़ ग्रन्थ 'पंचदशी' न पढ़ाते। यह उनके मानसिक मन्थन का और अन्तर्द्वन्द्व का दौर था। इसीलिए मन में कभी-कभी शंकाएँ भी उठतीं; उनका पत्र द्वारा गुरु से समाधान पूछते। इसी तरह मन्थन करते-करते, राष्ट्रचेतना को रचनात्मक दिशा देने की बात सोचते-सोचते, अन्त में वेद की उस विशेषता तक पहुँचे जो सारे देश की धार्मिक एकता का सबल सूत्र बन सकती थी। जिस तरह देश के समस्त धार्मिक मतभेदों को दूर करने के लिए उन्हें वेद के रूप में एक संजीवनी बूटी मिल गई, और उन्होंने वेद को उसी रूप में उजागर करने का मन में निश्चय किया, उसी तरह उन्हें जाति-पाँति के नाम पर विभाजित राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए भी जिस संजीवनी की तलाश थी, वह वेद-प्रतिपादित 'आर्य' शब्द में मिल गई। इसी तरह अनेक भाषाओं में बँटे देश को एक करने का रामबाण नुस्खा 'आर्यभाषा' शब्द में मिल गया। उनकी दृष्टि में सन् १८५७ की पराजय का मूल कारण था देश की आपसी फूट। उस फूट का कारण था—धार्मिक मतभेद, जातिभेद और भाषा-भेद। तो उनके मन में देश के समस्त मतभेदों को दूर करने के लिए जो समीकरण बना, वह इस प्रकार था—समस्त देशवासियों का एक राष्ट्र—आर्यावर्त, समस्त

देशवासियों का एक धर्म—वैदिक धर्म, समस्त देशवासियों की एक जाति—आर्य-जाति, समस्त देशवासियों की एक भाषा—आर्यभाषा। अब मैं आपसे ही पूछता हूँ कि यदि आप धार्मिक दृष्टि से समग्र राष्ट्र को एक करना चाहें तो आपके पास वेद के सिवाय और क्या माध्यम है? यदि विभिन्न जातियों और बिरादरियों में बँटे समाज को एक करना चाहें तो सबको आर्य कहने के सिवाय और क्या उपाय है? आर्य के साथ 'आर्या नैव दासाः' अर्थात् आर्य कभी किसी के गुलाम नहीं होते, यह भावना भी तो छिपी है। इसी तरह अपनी-अपनी मातृभाषा के मोह में और संकीर्ण प्रदेशवाद में बँटे देश को एक करने का माध्यम सिवाय हिन्दी के और क्या है? यह था भारत की भावात्मक एकता का मूलमन्त्र, जिसकी जड़ में राष्ट्रचेतना थी।

जब ऋषि सन् १८६७ में दुबारा हरिद्वार के कुम्भ के मेले पर गए थे, तब बहुत-कुछ इसी विचारधारा से ओतप्रोत थे। (यद्यपि यह सत्य है कि हिन्दी को 'आर्यभाषा' के रूप में मान्यता देने की बात उनके मन में सन् १८७२ में कलकत्ता जाने के पश्चात् ब्रह्मसमाज के नेता आचार्य केशवचन्द्र की प्रेरणा से आई। इससे पहले वे 'आर्यभाषा' के रूप में प्रमुख स्थान संस्कृत को ही देने के पक्षधर थे।) इसी विचारधारा को लेकर उनकी राष्ट्रचेतना को रचनात्मक दिशा मिल गई और उसी द्वितीय कुम्भ के अवसर पर सर्वस्व-त्यागी, केवल कोपीनधारी, बालब्रह्मचारी, अवधूत दयानन्द ने दृढ़ मानसिक संकल्प के साथ पाखण्ड-खण्डिनी पताका गाड़ दी—जैसे किसी पहलवान ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ अपना लंगर अखाड़े में घुमा दिया हो।

फिर तो जैसे भागीरथी हिमालय की कन्दराओं से निकलकर मैदानों में आती है, विशाल भूभाग को अपने अमृत-जल से हरा-भरा बनाती है और उसका पाट निरन्तर चौड़ा और चौड़ा हो जाता है, क्योंकि अन्य अनेक सहायक नदियाँ भी उसके साथ आकर मिल जाती हैं, वैसे ही ऋषि दयानन्द भी हिमालय की कन्दराओं से और निरन्तर योगियों की खोज से निकलकर कर्मक्षेत्र में उतरते हैं। अब उन्हें एकान्त योग-साधना में भी स्वार्थ की गन्ध आने लगती है। यह जन-संकुल कर्म-क्षेत्र कठिन है, पदे-पदे विपदाओं और लांछनाओं से भरा है, विरोधियों के अपशब्दों और स्वागतार्थ ईंट-पत्थरों की बौछार से ओत-प्रोत है, पर जो व्यक्ति इतनी प्रखर राष्ट्रचेतना से भरा है कि उसे अपने ही देशवासियों द्वारा किया गया यह विरोध और तिरस्कार भी सहर्ष स्वाकार है, उसके राट्रप्रेम को आप क्या कहेंगे? यहीं पर राष्ट्रचेतना की प्रखरता की परीक्षा होती है, और ऋषि इसमें खरे उतरते हैं। उनकी यह राष्ट्रचेतना इन विरोधों-प्रतिरोधों के बावजूद दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व राष्ट्रमय बन जाता है। तभी तो योगिराज अरविन्द घोष ने उनके सम्बन्ध में कहा था—"He had the national instinct and he was able to make it luminous" (The man and his work)—'उनमें

राष्ट्रीय चेतना थी और उनमें इतनी योग्यता भी थी कि उसे निरन्तर उद्दीप्त करते रह सकें।' योगिराज अरविन्द के इन शब्दों को जरा इस सन्दर्भ में भी सोचकर देखें कि कभी श्री अरविन्द स्वयं देश के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी थे और प्रबल राष्ट्रचेतना से ओत-प्रोत होकर राष्ट्र की आजादी के लिए संघर्ष करते थे। परन्तु देश की दुर्बलता उन्हें असाध्य लगी, तो वे राष्ट्रचेतना छोड़कर आत्मचेतना की ओर मुड़ गए। वह मार्ग उन्हें अधिक सुविधाजनक लगा। ऋषि दयानन्द का केस इससे उलटा है। वे योग के सुविधाजनक मार्ग को छोड़कर जान-बूझकर कण्टकाकीर्ण दुर्गम मार्ग की ओर बढ़े थे—यह निरन्तर राष्ट्रचेतना के उद्दीपन का प्रतीक नहीं था तो क्या था? कितने सटीक थे अरविन्द के शब्द! कहते हैं कि जब सन् १८७२ में ऋषि दयानन्द कलकत्ता गए थे तब उनकी भेंट श्री रामकृष्ण परमहंस से भी हुई थी। रामकृष्ण परमहंस ने इस भेंट के बाद कहा था कि इस संन्यासी से आलिंगन करने के बाद मुझे ऐसा लगा जैसे कि इसके वक्ष में निरन्तर राष्ट्रप्रेम की ज्वाला धधकती हो। डॉ० भवानीलाल भारती इस घटना को प्रामाणिक नहीं मानते। हो सकता है, इन दोनों महापुरुषों की यह कथित भेंट न हुई हो। पर जिसने भी यह बात फैलाई, उसमें सत्य अवश्य है।

ऋषि दयानन्द में यह राष्ट्रचेतना केवल भावनात्मक स्तर पर नहीं थी, प्रत्युत इसकी सांगोपांग सैद्धान्तिक रूपरेखा जैसी उनके मन में स्पष्ट थी, वैसी किसी अन्य राष्ट्रचेता व्यक्ति के जीवन में दिखाई नहीं देती। इस बात को सिद्ध करने के लिए कुछ थोड़ा विस्तार में जाना पड़ेगा।

देश, राष्ट्र, राज्य

तीन शब्द हैं—देश, राष्ट्र और राज्य (Country, Nation, State)। हम प्रायः सामान्य बोलचाल की भाषा में इनको समानार्थक मानकर प्रयोग करते रहते हैं, पर तत्त्वतः तीनों में अन्तर है।

प्राचीन ऋषियों ने दीर्घकालीन अनुभव के पश्चात् यह सिद्धान्त स्थापित किया था—'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'—जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है—जो व्यष्टि में है, वही समष्टि में है; जो अणु में है, वही अणुओं के संघात से बने समस्त पदार्थों में है। पंजाबी में 'पिण्ड' का एक अर्थ शरीर है, तो दूसरा अर्थ गाँव भी है। व्यक्तिगत शरीर सामाजिक इकाई है तो ग्राम राज्य की इकाई है।

जैसे मनुष्य केवल शरीर नहीं है, उसकी आत्मा भी है; बिना आत्मा के शरीर निष्प्राण है, केवल मिट्टी है; शरीर मरणधर्मा है, आत्मा अविनाशी है, इसी तरह चारों दिशाओं में फैला कोई भी भूखण्ड देश है। उसमें नदी-पर्वत-वन-मैदान सब शामिल हैं। पर केवल भूखण्ड निष्प्राण है जब तक उसमें कुछ लोग न बसते हों—ऐसे लोग, जो उसे अपना समझते हों, उसकी प्राणपण से रक्षा के लिए कटिबद्ध हों। ये

देश के निवासी 'जन' (जनता) हैं, इन्हीं से कोई देश राष्ट्र कहलाता है। फिर उस राष्ट्र की अपनी एक विचारधारा भी होती है, जो उसकी संस्कृति कहलाती है। यह संस्कृति उस देश की आत्मा है। फिर यदि वह देश किसी राजनैतिक व्यवस्था से बँधा हो, तो वह राज्य कहलाता है। क्या भारत एक देश है, एक राष्ट्र है, एक राज्य है? इस सम्बन्ध में ऋषि का मन्तव्य क्या है? आइये, विचार करें। इस पर विचार करना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि हमारे अनेक बुद्धिजीवी यह कहते नहीं अघाते कि यह देश एक कभी रहा ही नहीं, यह एक राष्ट्र नहीं—अनेक राष्ट्रों का समुच्चय है, और भारत कभी किसी एक राजनैतिक व्यवस्था के अधीन नहीं रहा। इस सम्बन्ध में मनुस्मृति के दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः॥

(अध्याय २, १७-१८)

इन दोनों श्लोकों पर कुल्लूक भट्ट की टीका देखिए—

सरस्वती-दृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यमार्यावर्तं देशमाहुः। देवनदी देवनिर्मित शब्दौ नदीदेश प्राशस्यार्थौ ॥१७॥

आ पूर्वसमुद्रात् आ पश्चिमसमुद्रात् हिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति। मर्यादायामयमाङ् नाभिविधौ। तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता। आर्या यत्रावर्तन्ते पुनः पुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः ॥१८॥

इनका अर्थ इस प्रकार है—सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच का जो प्रदेश है उसे आर्यावर्त कहते हैं। देवनदी और देवनिर्मित शब्द नदियों की प्रशंसा के लिए हैं।

पूर्व-समुद्र से लेकर पश्चिम-समुद्र तक हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य का जो प्रदेश है उसे पण्डित लोग आर्यावर्त जानते हैं। यहाँ आङ् प्रत्यय मर्यादा के अर्थात् सीमा के अर्थ में है, अभिविधि के अर्थ में नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि समुद्र के मध्य में जो टापू हैं वे आर्यावर्त के अंग नहीं हैं। आर्य लोग यहाँ बारम्बार पैदा होते रहते हैं, रहते हैं, इसलिए इसे आर्यावर्त कहते हैं।

सरस्वती और दृषद्वती

इन दोनों श्लोकों की टीका में कुल्लूक भट्ट ने सरस्वती और दृषद्वती नदी कौन-सी है, इसकी कोई व्याख्या नहीं की। अन्य विद्वानों ने इन नदियों की जो पहचान की है, उससे भारत का सारा भूगोल भ्रामक बन गया है। आज तक भी

सरस्वती नदी कौन-सी है, पुरातत्त्वज्ञ लोग इसका फैसला नहीं कर सके। प्रयाग के त्रिवेणीसंगम में सरस्वती नदी के लुप्त होने की कथा प्रचलित है। एक सरस्वती नदी बद्रीनाथ के ऊपर माना गाँव के पास अलकनन्दा की सहायक नदी है जिसके पास महाभारतकार महर्षि व्यास का आश्रम माना जाता है। माना गाँव के बाहर वह गुफा भी है जिसमें बैठकर महर्षि व्यास ने पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गणेश जी को बोलकर महाभारत लिखवाया था। गुफा सचमुच दर्शनीय है। एक सरस्वती नदी की खोज प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ वाकणकर ने की है जिसका प्रस्रवण-क्षेत्र उन्होंने राजस्थान के रेगिस्तान में खोजा है। एक सरस्वती कुरुक्षेत्र में भी है।

इसी तरह दृषद्वती नदी कौन-सी है, इस पर भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कोई उसे घग्घर नदी बताता है, तो कोई कुछ। इस विषय में ऋषि ने सत्यार्थ-प्रकाश में जो स्पष्टीकरण किया है, वह किसी और ने नहीं किया। अब तक आर्य विद्वानों ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। मैं ऋषि दयानन्द की इस प्रतिभामयी राष्ट्रचेतना पर चकित हूँ, क्योंकि उनके स्पष्टीकरण से भारतीय भूगोल की सारी समस्या हल हो जाती है। मैं हैरान हूँ कि अन्य विद्वानों ने इस ओर ध्यान क्यों नहीं दिया। क्या यह हमारी कूपमण्डूकता और अन्य विद्वानों द्वारा ऋषि दयानन्द की घोर उपेक्षा का द्योतक नहीं है? देखिए ऋषि क्या लिखते हैं—

"सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल के बंगाल के, आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक (आकर) मिली है।"

(अष्टम समुल्लास, पृष्ठ १९४, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी उपहार संस्करण, श्री भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर द्वारा सम्पादित)

इससे स्पष्ट है कि सरस्वती सिन्धु नदी है जो मानसरोवर से निकलकर भारत की पश्चिमी सीमा का निर्धारण करती हुई, लद्दाख से होकर पाकिस्तान होती हुई अरब सागर में गिरती है। यह सरस्वती सिन्धु नदी ही है, इसका एक प्रमाण वेद में भी है। वेद का एक मन्त्र-खण्ड है—"पंचनद्यः सरस्वतीमपि यान्ति सस्रोतसः" —पाँच नदियाँ अपनी सहायक नदियों के साथ सरस्वती में जाकर मिलती हैं। यह सरस्वती सिवाय सिन्धु के और कौन-सी नदी हो सकती है जिसमें सतलुज, व्यास, रावी, चिनाब और जेहलम ये पाँचों प्रसिद्ध नदियाँ जाकर मिलती हैं। हम वेद में इतिहास या भूगोल नहीं मानते। इसलिए आर्यसमाजी विद्वान् इस मन्त्र-खण्ड का यह अर्थ भी करते हैं कि पाँच नदियों का अर्थ है—पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके सरस्वती में मिलने का अर्थ है कि ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होती हैं। पर मेरा निवेदन है कि आप वेद को काव्य मानते हैं और ऐसा काव्य जो कभी जीर्ण नहीं होता और मरण को प्राप्त नहीं होता ("पश्य देवस्य काव्यं न

ममार न जीर्यति"), तो काव्य में तो व्यंजना और ध्वनि को उत्कृष्टता की कसौटी माना जाता है। 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' दोनों व्यंजना-प्रधान ध्वनि-काव्य को सर्वोत्तम मानते हैं। फिर वेद के काव्य में व्यंजना क्यों नहीं होगी ? न सही वेद में भूगोल और इतिहास, पर व्यंजना को आप कैसे रोक सकते हैं ? वेद तो ऐसी व्यंजनाओं और अलंकारों से भरा पड़ा है। क्या सरस्वती के सिन्धु नदी होने का ऐसा सटीक प्रमाण कहीं और मिल सकता है ?

अब अगला श्लोक देखिए। पूर्व-समुद्र स्पष्ट रूप से बंग सागर है और पश्चिम-समुद्र अरब सागर। जो बात सरस्वती और दृषद्वती के बारे में कही गई, उसी का पूर्ण परिपाक पूर्व-समुद्र और पश्चिम-समुद्र के रूप में उजागर हुआ है, अर्थात् केवल उक्त दोनों नदियाँ ही भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमा की द्योतक नहीं हैं, प्रत्युत जिन समुद्रों में वे दोनों नदियाँ गिरती हैं वे समुद्र भी भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमा के निर्धारक हैं। परन्तु श्लोक की दूसरी पंक्ति 'तयोरेवान्तरं गिर्योः आर्यावर्तं विदुर्बुधाः' ने बखेड़ा खड़ा कर दिया। दोनों पर्वतों का अर्थ किया गया—हिमालय और विन्ध्याचल—उनके बीच का प्रदेश ही आर्यावर्त है। इसी श्लोक के आधार पर समस्त पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् यह कहते नहीं अघाते कि दक्षिण भारत आर्यावर्त का भाग नहीं है; वह तो मूलतः अनार्य और द्रविड़ प्रदेश है जिसे आर्यों ने बहुत बाद में विजित किया। हम स्वयं चकित थे कि इस श्लोक के रहते हम दक्षिण भारत को साथ मिलाकर एक और अखण्ड भारत की बात कैसे कर सकते हैं ? क्योंकि विन्ध्याचल तो भारत के कटिप्रदेश में मेखला की तरह जड़ा है, मेकल कन्यका नर्मदा वहीं से निकलती है। उससे दक्षिण का प्रदेश आर्यावर्त का भाग नहीं है। पर वाह रे ऋषि, तेरी प्रतिभा की बलिहारी ! जिस तरह तूने सरस्वती और दृषद्वती की सही व्याख्या करके भारी समस्या का समाधान कर दिया, उसी तरह विन्ध्याचल का भी यथार्थ वर्णन करके पूर्व और पश्चिम के सब इतिहासकारों के अनर्गल प्रलाप को शान्त कर दिया। देखिए इस श्लोक की व्याख्या करते हुए ऋषि क्या लिखते हैं—

विन्ध्याचल कहाँ है ?

"उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र।··· हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं उन सबको आर्यावर्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया। और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त कहाया है।"

—सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ० १९५, वही संस्करण

देखा आपने ? विन्ध्याचल भारत के मध्य-भाग में स्थित नहीं, वरन् ठेठ

रामेश्वर-पर्यन्त है। यह बात भी आज तक क्या किसी और विद्वान् ने कही है? नहीं न? फिर ऋषि ने किस आधार पर यह अनोखी बात कह दी? ऋषि कभी प्रमाण-विरुद्ध बात नहीं कहते, पर इस स्थल पर ऋषि ने प्रमाण का उल्लेख नहीं किया। अब मेरे सामने समस्या उपस्थित हो गई कि इसका प्रमाण कहाँ खोजा जाए? अन्ततोगत्वा, खोजते-खोजते वह प्रमाण वाल्मीकि रामायण में मिला। तब ऋषि की आप्तता पर मेरी श्रद्धा और अडिग हो गई। वाल्मीकि रामायण का वह श्लोक इस प्रकार है—

दृष्टः पक्षिगणाकीर्णः कन्दरोदर कूटवान्।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चयः॥

(वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग ७०, श्लोक ७)

पक्षिगणों से भरा हुआ, कन्दराओं और छोटे-मोटे अनेक शिखरों से समन्वित, दक्षिण समुद्र के किनारे यह विन्ध्याचल ही है, यह निश्चय है। अर्थात्, विन्ध्याचल भारत के कटिप्रदेश में स्थित पर्वत नहीं, वरन् हिन्द महासागर के किनारे स्थित रामेश्वर के पास उस स्थान से प्रारम्भ होता है जिसे आजकल पक्षितीर्थ कहते हैं।

प्रसंगवश यह कहने का प्रलोभन मैं रोकना नहीं चाहता। जब हालैण्ड के डच लोग, जिनका इण्डोनेशिया पर कब्जा था, उस प्रदेश को छोड़कर जाने लगे, तो एक हिल स्टेशन को छोड़ने को तैयार नहीं हुए। डच लोगों का कहना था कि इस हिल स्टेशन को तो हमने बसाया है, इसलिए यह हमारे ही नियन्त्रण में रहना चाहिए। यह ठीक वैसी ही बात होती जैसे कि अंग्रेज यहाँ से जाते समय कहते कि हम शिमला के हिल स्टेशन को नहीं छोड़ेंगे, क्योंकि इसको तो हमने आबाद किया है। तब इण्डोनेशिया के निवासियों के दावे की रक्षा वाल्मीकि रामायण में ही एक श्लोक ने की थी। वह श्लोक इस प्रकार है—

यवद्वीपमतिक्रम्य शिशिरो नाम पर्वतः।
दिवं स्पृशति शृंगेण देवदानवसेवितः॥

(किष्किन्धा काण्ड, सर्ग ४०, श्लोक ३१)

अर्थात् "जावा द्वीप को लाँघकर एक शिशिर नाम का पर्वत है जिसमें देवता और दानव दोनों रहते हैं और जो अपने शिखर से आसमान को छूता है।" वाल्मीकि रामायण में इण्डोनेशिया के इस पर्वत का नाम पाकर डच लोगों को यह स्थान भी छोड़कर जाना पड़ा।

ऋषि के इस वर्णन से सम्पूर्ण भारत के मानचित्र का क्या रूप बनता है, यह देखिए। मेरा समाधान यह है—यह देश दो त्रिभुजों से बना है। एक त्रिभुज ऊपर है, एक नीचे। ये दोनों त्रिभुज उलटे रखे हुए हैं। ऊपर के त्रिभुज का शीर्ष-बिन्दु है—कैलास पर्वत (जिस पर शिवजी का निवास माना गया है)। इस त्रिभुज

की दो भुजाएँ हैं—सिन्धु और ब्रह्मपुत्र (जिसे तिब्बत में त्सांगपो कहते हैं)। सिन्धु वाली भुजा देश की पश्चिमी सीमा का निर्धारण करती है, और ब्रह्मपुत्र वाली भुजा पूर्वी सीमा का। इस त्रिभुज का आधार है मध्यवर्ती विन्ध्याचल, जो मेखला की तरह सारे मध्यभाग को लपेटे हुए है। उक्त दोनों देवनदियाँ क्रमशः अरब सागर और बंग सागर में गिरती हैं। ये दोनों सागर दक्षिण भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमा के द्योतक हैं।

एक दूसरा त्रिभुज नीचे है जिसका शीर्ष-बिन्दु कन्याकुमारी है (जहाँ पार्वती विराजमान है)। इस त्रिभुज की भी दो भुजाएँ हैं—एक पूर्वी घाट और दूसरी पश्चिमी घाट। इस त्रिभुज का आधार भी मध्यवर्ती विन्ध्याचल है। ऊपर और नीचे के ये दोनों त्रिभुज एक-दूसरे से उलटे रखे हुए हैं, पर दोनों की आधार-भुजा एक ही है—मध्यवर्ती विन्ध्याचल। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण की दिशाओं में फैले इस देश के भूभाग का निर्माण दो त्रिभुजों से हुआ है। इसी को शतपथ ब्राह्मण में उभयथा प्रउग (दो प्रकार के त्रिभुज) के रूप में सम्बोधित किया गया है। देश का ऐसा भौगोलिक मानचित्र ऋषि की प्रतिभा के बिना हमारे समक्ष कभी यथार्थ रूप से स्पष्ट नहीं हो पाता।

राष्ट्र क्या है ?

भूभाग तो राष्ट्र का शरीर-मात्र ही है, उसकी आत्मा तो है उसकी संस्कृति। केवल जड़ भूखण्ड की उपासना से कुछ होने वाला नहीं है, जब तक राष्ट्र की संस्कृति की रक्षा नहीं होगी। यहाँ भी ऋषि की प्रतिभा का चमत्कार यह है कि ऋषि की दृष्टि में वह संस्कृति है—वैदिक संस्कृति, अर्थात् वेद पर आधारित संस्कृति, जबकि अन्य सब राष्ट्रचेता व्यक्ति उसे भारतीय संस्कृति या सम्मिश्र संस्कृति (composite culture) कहते हैं। इन राष्ट्रचेताओं का कहना है कि इस देश में केवल आर्यसंस्कृति नहीं, अनार्य, मुगल और आंग्ल संस्कृतियों का भी घालमेल है, इसलिए केवल वैदिक संस्कृति या वेद की बात करना अनुचित है। पर मैं इससे सहमत नहीं हूँ। मेरा तर्क यह है कि गंगोत्री और गोमुख से निकलने के बाद गंगा ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है त्यों-त्यों उसमें अन्य नदी-नाले, कारखानों के उच्छेष और तटवर्ती नगरों के मलमूत्र से भरे गन्दे नाले भी गिरते चले जाते हैं और गंगा का प्रदूषण इतना बढ़ जाता है कि उसके जल में वह तासीर नहीं रहती। कलकत्ते पहुँचकर तो उसका नाम भी बदल जाता है—वहाँ वह हुगली कहलाती है। पर प्रदूषण तो प्रदूषण है। रंग-रूप, स्वच्छता, तासीर, नाम बदल जाने पर भी वह तब तक गंगा ही रहेगी जब तक गंगोत्री का स्रोत अक्षुण्ण है। इसलिए जिसे हम सम्मिश्र संस्कृति कहते हैं, वह तो प्रदूषण की परिचायक है; असली संस्कृति तो वैदिक संस्कृति ही है, वही इस भूखण्ड में चैतन्य भरती है।

इसीसे यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि ऋषि दयानन्द क्यों इस बात पर जोर देते थे कि अन्य सब मत-मतान्तर एक बार यह स्वीकार कर लें कि हम सब का आदि-स्रोत वेद है, फिर भले ही वे अपनी-अपनी उपासना-पद्धति और कर्मकाण्ड अपनाते रहें, इसमें उनको छूट रहेगी, परन्तु जब भी प्रदूषण-रहित गंगा की खोज होगी तब सब मतों की गंगोत्री—वेद—को ही प्रामाणिक मानना होगा। सन् १८७७ के दिल्ली-दरबार में उन्होंने सब मतावलम्बियों को इसी सत्य की ओर आकृष्ट करना चाहा था, क्योंकि राष्ट्रीय एकता का यह महत्त्वपूर्ण पहलू था। पर अन्य लोगों में वह राष्ट्रचेतना नहीं थी इसलिए वे ऋषि के इस मन्तव्य से सहमत नहीं हो सके। आज भी देश का यही दुर्भाग्य है।

इस प्रकार देश और राष्ट्र एक चीज नहीं है। दोनों में अन्तर है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में जीवात्मा होने के कारण ही वह जीवित रहता है, उसी प्रकार कोई देश भी अपनी संस्कृति से ही प्राणवान् बनता है। राष्ट्र मुख्य है, देश गौण है। राष्ट्र का मुख्य घटक है उसमें रहने वाला समाज-जन। जिस तरह मनुष्य के शरीर और आत्मा को जोड़ने वाला तत्त्व है मन, उसी तरह 'जन' राष्ट्र की संस्कृति और उसके भूखण्ड को जोड़ता है। इस जन के बिना देश और राष्ट्र दोनों अलग-थलग पड़ जाते हैं।

राष्ट्र के घटक क्या हों, यह सबसे महत्त्वपूर्ण है। उन्हें ही राष्ट्र का नागरिक माना जाना चाहिए। उन नागरिकों की राष्ट्र के प्रति निष्ठा होनी आवश्यक है। ये नागरिक अपने देश के भूखण्ड से प्यार करते हैं, क्योंकि यह उनकी जन्मभूमि है। इसी भूखण्ड ने उनके लालन-पालन और भोजनाच्छादन के साधन जुटाए हैं। इसीलिए इसे वे भूमिमाता (भारतमाता) और वन्देमातरम् कहकर सम्बोधित करते हैं। इकबाल ने कहा है—

खाके-वतन का मुझको हर जर्रा देवता है।

इसी भूखण्ड में देशभक्त हिन्दू 'कंकर कंकर में शंकर' के दर्शन करते हैं। पर जिनको 'वन्देमातरम्' कहने पर आपत्ति है, वे इस देश को अपना नहीं मानते। उनका अपनत्व कहीं और है। मेरी दृष्टि में राष्ट्र के घटकों के लक्षण इस प्रकार होने चाहिएँ—

(१) जो बिना मजहब, जाति, जन्मस्थान, लिंग, रंग इत्यादि के भेदभाव के इस राष्ट्र का अंग बनकर रहना चाहते हैं, वे ही इस देश के नागरिक होंगे।

(२) जो स्वीकार करते हैं कि इस पूर्ण जगत् का निर्माता, संचालक, और रक्षक एक महान् शक्तिशाली परमात्मा है, उसकी सृष्टि के कुछ नियम हैं, जो उसकी सत्ता और उसके नियमों में आस्था रखते हैं, वही इस राष्ट्र का घटक हैं।

(३) जो समाज के विद्वानों, शूरवीरों, सेनानायकों और समाज की आततायियों से रक्षा करने वालों का आदर करते हैं।

(४) जो देश के धन-धान्य की केवल रक्षा ही नहीं, वरन् सतत वृद्धि के लिए यत्नशील रहते हैं।

(५) जो दुग्ध आदि पोषक पदार्थों के स्रोतों को पुष्ट और विस्तृत करने में तत्पर रहते हैं।

(६) जो राष्ट्र के योगक्षेम को अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

(७) जो सामूहिक व्यवहार में सब घटकों को एक परिवार का अंग मानते हैं और व्यक्तिगत हितकारी कामों में स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए भी सामाजिक हितकारी कामों में परतन्त्रता को स्वीकार करते हैं।

वही जन इस राष्ट्र के घटक अर्थात् नागरिक माने जाएँगे।

जिस प्रकार देश और राष्ट्र एक चीज नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्र और राज्य भी एक चीज नहीं है। राष्ट्र, राज्य से ऊपर है। राष्ट्र ही राज्य का और राजनैतिक प्रणाली का निर्धारण करता है, इसलिए राज्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य राष्ट्र की और राष्ट्र के जन की रक्षा करना, दुष्टों को दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना, सबके साथ न्याय करना है। अगर राष्ट्र का जन किसी राज्य को या राज्यप्रणाली को नहीं चाहता तो उसके अस्तित्व का कोई वैधानिक अधिकार नहीं बनता। राज्य का मुख्य कार्य है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

जो राज्य सज्जनों का परित्राण और दुष्टों का विनाश नहीं कर सकता उसे राज्य कहलाने का अधिकार नहीं है। जिस तरह प्रजा का या राष्ट्र के जन का राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्य है, उसी तरह राज्य का भी प्रजा के प्रति कुछ कर्त्तव्य होता है।

मात्र स्वेच्छाचारिता राज्य का कर्तव्य नहीं है। कर्त्तव्यपूर्ति से ही राजा के या प्रजा के कुछ अधिकार बनते हैं। कर्तव्य नहीं, तो अधिकार भी नहीं। आज की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि अधिकार की बात सब करते हैं, कर्त्तव्य की बात कोई नहीं करता। राजा और प्रजा दोनों राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों से बँधे हुए हैं। दोनों को अपने-आप से पूछना चाहिए कि मैंने राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कहाँ तक किया है? आज राजा और प्रजा में से यह कोई नहीं कहता कि मैंने राष्ट्र के लिए क्या किया; हरेक यह कहता है कि राष्ट्र ने मेरे लिए क्या किया है? और यह कहकर राष्ट्र को लूटने-खसोटने में लगा रहता है। राजा का या राज्य का कर्तव्य क्या है और प्रजा का कर्त्तव्य क्या है—इसका पूरा विवेचन ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में किया है। अन्यत्र भी इस विषय पर स्थान-स्थान पर संकेत दिये हैं। और तो और, मनुष्यता का लक्षण करते हुए 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' में ऋषि कहते हैं—

मनुष्य की परिभाषा

"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की—चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात्—जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उनको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावे परन्तु इस मनुष्य-रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

इसमें श्रीमान् महाराज भर्तृहरि जी आदि ने श्लोक कहे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूँ—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(नीतिशतक ८४)

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥"

(महाभारत, उद्योग पर्व ४०।१३)

जिस परिस्थिति में मनुष्य की यह परिभाषा की गई है, जब तक उस पृष्ठभूमि को ध्यान में नहीं रखेंगे तब तक इसका पूरा महत्त्व समझ में नहीं आएगा। उस समय अंग्रेजों का राज्य था और सारा देश आत्महीनता के बोध से उस दुर्दमनीय पराधीनता के सामने अपने-आपको विवश अनुभव कर रहा था। उस परिस्थिति में चक्रवर्ती सम्राट् का अन्यायकारी के रूप में उल्लेख करना और उसके विनाश के लिए मानवता का आह्वान करना—इससे बढ़कर क्रान्ति का उद्घोष और क्या हो सकता है? मनुष्य की इस परिभाषा के एक-एक शब्द को तौलिए और देखिए कि १८५७ की राज्यक्रान्ति के नेता भी इससे बढ़कर क्या कोई प्रेरणा भारतवासियों को दे सकते थे? राष्ट्रचेतना का इतना उग्र रूप सिवाय ऋषि दयानन्द के और कहाँ मिलेगा?

राष्ट्रचेतना की इस प्रखरता के एक-दो उदाहरण और दूँगा।

१ नवम्बर सन् १८५८ को महारानी विक्टोरिया ने लॉर्ड केनिंग के दरबार में सन् ५७ के विद्रोहियों को क्षमादान की जो प्रसिद्ध घोषणा की थी, उसमें कहा गया था—

"To all those in arms against the government, we hereby promise unconditional pardon, amnesty and oblivion of all offences against ourselves, our crown and dignity, on their return to their homes and peaceful pursuits....When by the blessings of providence, internal tranquility shall be restored, it is our earnest desire to stimulate the peaceful industry in India, to promote works of public utility and improvement and to administer its government for the benefit of all our subjects residents therein. In their prosperity will be our strength, in their contentment our security, and in their gratitude our best reward....

"Firmly relying ourselves on the truth of christianity and acknowledging with gratitude the solace of religion, we disclaim alike the right and the desire to impose our convictions on any of our subjects. We declare it to be our royal will and pleasure that none be any wise favoured, none molested and disqualified by reason of their religious faith and observance, but that all shall alike enjoy the equal and impartial protection of the laws, and we do strictly charge and enjoin all those who may be in authority under us that they abstain from all interference with the religious belief or worship of any of our subjects on pain of our highest displeasure."

विक्टोरिया को जवाब

इसका भाव यह है कि—

"जिन्होंने हमारी सरकार के विरुद्ध हथियार उठाए थे उनको हम बिना किसी शर्त के क्षमादान करते हैं और आशा करते हैं कि वे अपने घरों और कामधन्धों पर लौट जाएँगे। जब आन्तरिक शान्ति स्थापित हो जाएगी तब हमारी तीव्र इच्छा है कि हम भारत में शान्तिपूर्ण उद्योगों को प्रोत्साहन दें, जनोपयोगी और उन्नति के कार्यों को आगे बढ़ाएँ और अपनी सारी प्रजा के हित की दृष्टि से काम करें। उनकी समृद्धि ही हमारी शक्ति होगी, उनकी सन्तुष्टि ही हमारी सुरक्षा होगी और उनकी कृतज्ञता ही हमारा सर्वोत्तम पुरस्कार होगा।...

"हालाँकि हमारा ईसाइयत में दृढ़ विश्वास है और इसके द्वारा मिली शान्ति

को हम स्वीकार करते हैं, फिर भी अपनी किसी प्रजा पर अपने विश्वासों को हम लादना नहीं चाहते। हम अपनी यह शाही इच्छा घोषित करते हैं कि अपनी धार्मिक मान्यताओं के कारण किसी के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाएगा और किसी को अयोग्य नहीं माना जाएगा, न ही किसी के साथ ज्यादती की जाएगी। इसके विपरीत सबको समान रूप से कानून का निष्पक्ष संरक्षण प्राप्त होगा और अपने अधीन समस्त कर्मचारियों को हम आगाह करते हैं कि यदि किसी ने हमारी प्रजा के धार्मिक विश्वास और पूजाविधि में दखल दिया तो उसे हमारे तीव्र कोप का शिकार होना पड़ेगा।"

उस समय के अन्य राष्ट्रचेता नेता किस ढंग से सोचते थे, उसका उदाहरण सन् १८८५ में कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सभापति श्री उमेशचन्द्र बनर्जी के अध्यक्षीय भाषण के इस समापन-अंश से विदित होता है—

"ग्रेट ब्रिटेन ने हमें शान्ति और व्यवस्था दी है। उसने हमें रेलवे दी है और सबसे बढ़कर पाश्चात्य शिक्षा का अमूल्य वरदान दिया है। पर अभी बहुत-कुछ किया जाना शेष है। यूरोप में शासन के सम्बन्ध में जो विचार वर्तमान समय में प्रचलित हैं, यदि भारतीय लोग उनके अनुसार अपने देश के शासन के संचालन की इच्छा करें तो यह बात ब्रिटिश सरकार के प्रति उनकी भक्ति की भावना में किसी प्रकार बाधक नहीं होगी। भारतीयों की केवल यही आकांक्षा है कि सरकार के आधार को और विस्तृत किया जाए और जनता का उसमें समुचित हाथ हो।"

इससे स्पष्ट है कि इन राष्ट्रचेताओं के मन में विदेशी शासन को अनुचित मानने की कोई बात नहीं थी। उनमें अभी तक स्वराज्य और पूर्ण राजनैतिक स्वाधीनता की कल्पना भी उत्पन्न नहीं हुई थी। उनके लिए यही पर्याप्त था कि ब्रिटिश शासक किसी तरह यह विश्वास कर लें कि भारत में भी ऐसा वर्ग है जो शिक्षा, ज्ञान आदि की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत है और वह ब्रिटिश शासन का पूर्ण वफादार रहकर शासन में अंग्रेजों की सहायता कर सकता है। इसीलिए उस युग के कांग्रेस के इन अधिवेशनों में विक्टोरिया की जय-जयकार की जाती थी और बाद में सम्राट् पंचम जार्ज के समय 'long live the king' का गीत भी सोत्साह गाया जाता था। आपको यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि आज जो 'जन-गण-मन' वाला गीत हमारा राष्ट्रगान बना हुआ है, वह सबसे पहले कांग्रेस के ऐसे ही एक अधिवेशन में सम्राट् पंचम जार्ज की स्तुति में ही पढ़ा गया था। अन्यथा 'जन-गण-मन अधिनायक' सम्बोधन का कोई अर्थ नहीं था। क्या इस युग के कांग्रेसी नेताओं में और उस युग के कांग्रेसी नेताओं में ब्रिटिश भक्ति की भावना में कहीं कोई नाममात्र भी अन्तर है? भावना बस यही थी—"हुजूर माई बाप, एक टुकड़ा इधर भी।"

इन सब राष्ट्रचेता नेताओं के विपरीत ऋषि दयानन्द की राष्ट्रचेतना कितनी प्रखर थी, उसका यह एक ही उदाहरण पर्याप्त है। ऋषि सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखते हैं—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

इस कथन के भी एक-एक शब्द को गहराई से सोचिए, तो आप देखेंगे कि यह महारानी विक्टोरिया की घोषणा का तुर्की-ब-तुर्की जवाब है। अंग्रेजों के उस दमनकारी राज्य में क्या कोई और नेता इस प्रकार की बात कहने की हिम्मत कर सकता था? कांग्रेस के जन्म से भी दस वर्ष पहले ऋषि यह कह रहे थे, पर कांग्रेस वाले बाद में भी सन् १९२९ तक वही राग अलापते रहे। हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर हलवा खाने को स्वर्गिक सुख मानने वाला आजादी की सूखी रोटी की महिमा को कैसे जान सकता है? दासता की मनोवृत्ति में और स्वाधीनता की मनोवृत्ति में यही अन्तर है।

इससे भी बढ़कर एक और उदाहरण दूँगा। ऋषि सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में लिखते हैं—

"जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्तियाँ कहाँ गई थीं? प्रत्युत वाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति मक्खी की एक टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाये, उसके शरणागत क्यों न पीटे जाएँ?"

वाघेर कौन थे?

इस घटना के वर्णन से लगता है कि जैसे ऋषि इसके प्रत्यक्षदर्शी हों, क्योंकि भारत के किसी और इतिहासकार ने किसी इतिहास की पुस्तक में इसका उल्लेख तक नहीं किया। पर हम आर्यसमाजी भी कितने कूढ़मग्ज़ हैं कि ऋषि के निधन के लगभग ५७ साल बाद तक भी हम यह नहीं जान पाए कि संवत् १९१४ का अर्थ ईसवी सन् १८५७ है। सन् ४० के आसपास जब यह भान हुआ कि यह तो १८५७ के समय की घटना है, तब वाघेर लोग कौन थे, यह समस्या खड़ी हो गई, क्योंकि किसी को इसकी जानकारी नहीं थी। मैंने स्वयं अपनी प्रथम द्वारका यात्रा के समय वहाँ के पुरातत्त्व संग्रहालय के क्यूरेटर से मिलकर इस बारे में जानना चाहा, पर उनसे भेंट न हो सकी। गुजरात के भी कई अनुसन्धानप्रिय विद्वानों से इस सम्बन्ध में पता लगाने को कहा। अन्त में ऋषि-जीवनी की खोज के लिए पूर्णतः

समर्पित, भोपाल के श्री आदित्यपालसिंह ने हाल में ही इस समस्या का समाधान खोज निकाला। अब से कुछ वर्ष पहले तक वे भी इस घटना का कोई सन्तोषजनक हल नहीं जान पाए थे। सन् १९८० में अजय बुक सर्विस, दरियागंज, दिल्ली से प्रकाशित कैप्टन एच० विलबरफोर्स-बेल द्वारा लिखित 'दि हिस्ट्री ऑफ काठियावाड़ फ्रॉम दि अर्लिएस्ट टाइम्स' नामक पुस्तक के पृष्ठ २१४-२१५ पर इस घटना का उल्लेख है। उसका सार यह है—

"सन् १८१७ में अंग्रेजों ने ओखामण्डल, बड़ौदा के गायकवाड़ को सौंप दिया था। जिन वाघेर लोगों की भूमि छिन गई थी उन्हें पेंशन दी जा रही थी। तभी से वाघेर लोग अपनी जमीन वापस हासिल करने के लिए आन्दोलन करते आ रहे थे। सन् १८५७ में गायकवाड़ की सरकार ने पेंशन में गड़बड़ शुरू कर दी। इससे पेंशन पाने वालों को एक बहाना मिल गया। उन्होंने संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। अन्त में गायकवाड़ ने ब्रिटिश सेना की सहायता ली। लेफ्टि० वार्टन के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना ने संघर्ष को कुचलना चाहा। इस बीच वाघेर लोगों ने द्वारका के किले पर कब्जा कर लिया। तब ब्रिटिश सेना ने और कुमुक मँगाकर जबर्दस्त हमला करके किला खाली करवाया। फैसला यह हुआ कि गायकवाड़ स्वयं विद्रोहियों के विरुद्ध कार्रवाई करेंगे। तब ब्रिटिश सेना वहाँ से हटी और गायकवाड़ की फौजों ने बसाई पर नियन्त्रण स्थापित किया, किन्तु वाघेर लोगों ने किले का घेरा नहीं छोड़ा। अन्त में दोनों में समझौता हुआ। सन् १८५७ की राज्यक्रान्ति से प्रेरित होकर वाघेर लोगों ने सन् १८५९ में सामूहिक रूप से जोधो माणिक के नेतृत्व में सारे ओखामण्डल प्रायद्वीप को घेर लिया। तब गायकवाड़ के प्रतिनिधि ने जिले के सारे मामले अंग्रेजों को सौंप दिये और कर्नल होनर के नेतृत्व में विद्रोह को शान्त करने के लिए ब्रिटिश सेना भेजी गई। वाघेर काठियावाड़ में घुस गए और उन्होंने अबपुरा पहाड़ियों पर मोर्चा लगाया। अन्त में उसी वर्ष दिसम्बर में उन्हें पराजित होना पड़ा।"

इस सन्दर्भ में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वाघेर लोगों की वीरता की प्रशंसा करते हुए 'अंग्रेजों के धुर्रे उड़ाने' की कामना की गई है। मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या अंग्रेजों के राज्य में कोई 'अंग्रेजों के धुर्रे उड़ाने' की बात कहने की हिम्मत कर सकता था? यह हिम्मत वही व्यक्ति कर सकता था जिसे अंग्रेज 'बागी फकीर' कहते थे। ऐसे प्रखर राष्ट्रचेतना वाले व्यक्ति को यदि अंग्रेज अपना दुश्मन नं० १ न समझें, तो क्या समझें?

राष्ट्रचेतना का अग्निपुंज

ऋषि ने अपने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की प्रार्थना वेदमन्त्रों में की है। उनके या सत्यार्थप्रकाश के विदेशी शासन के विरोध-सम्बन्धी अन्य प्रसंगों का मैं उल्लेख करके अपने वक्तव्य को बोझिल नहीं बनाना

चाहता। पर मैं आर्यसमाज को मात्र धार्मिक संस्था कहकर धर्म के अफीम वाले रूप से जनता को राष्ट्रचेतना से दूर-से-दूर रखने का प्रयत्न करने वाले, धर्म के कर्मकाण्ड-प्रधान रूप पर निरन्तर जोर देने वाले और उसी में अपनी इतिकर्तव्यता समझने वाले धर्मध्वजियों से पूछना चाहता हूँ कि यदि ऐसी ही बात थी तो सत्यार्थप्रकाश में छठे समुल्लास को रखने का क्या औचित्य था, जिसमें राज्य और शासन के ही विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है? एकादश समुल्लास के अन्त में महाभारत से लेकर पृथ्वीराज-पर्यन्त राजाओं की नामावली देने की कौन-सी संगति है? जीवन के अन्तिम दिनों में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में जाकर राजाओं को वैदिक और भारतीय राजनीति की शिक्षा देने और उनसे राजकुमारों तथा क्षत्रिय बालकों को शस्त्रास्त्र की शिक्षा देने के लिए क्षात्रशाला खोलने का आग्रह करने की क्या तुक है?

महाकवि भारवि ने लिखा है—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं
चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः
सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥

"राख के ढेर को सब लाँघ जाते हैं, पर स्वर्णसन्निभ तेज से जाज्वल्यमान अग्निपुंज को कोई लाँघने की हिम्मत नहीं कर सकता। इसलिए स्वाभिमानी राष्ट्रचेता अपने प्राण भले ही आसानी से छोड़ दें, परन्तु अपने तेज को नहीं छोड़ते।"

अन्य राष्ट्रचेताओं में किसी में कोई चिनगारी दिखेगी, किसी में कोई—किसी में स्वधर्म की चिनगारी, किसी में स्वदेश और स्वराज्य की, किसी में स्वभाषा और स्वसंस्कृति की। परन्तु स्वधर्म, स्वभाषा, स्वदेश, स्वराज्य आदि शब्दों में जो 'स्व' छिपा है, उसका गौरव ऋषि की राष्ट्रचेतना से निहित है—वैसा इकट्ठा, पुंजीभूत जाज्वल्यमान अग्निपुंज और कहीं दिखाई नहीं देता।

वक्तव्य के शुरू में मुक्ति-सम्बन्धी आत्मा की शाश्वत ललक की जो चर्चा की गई है, वही है असली स्वाधीनता, स्व का चरम विकास, आत्मचेतना का राष्ट्रचेतना में परिपाक। इस अवस्था में एकान्त योग-साधना में भी स्वार्थ और संकीर्णता की गन्ध आने लगती है और परार्थ के लिए जीवन पूर्णतः उत्सर्ग हो जाता है। यही कारण है कि इस अग्निपुंज राष्ट्रचेतना का तेज उन लोगों को सहन नहीं हुआ, जो स्वाधीनता के सही मर्म को न समझकर विदेशी दासता में सुखोपभोग को जीवन की सार्थकता समझते थे। इसलिए वे सब-के-सब सम्मिलित होकर इस अग्निपुंज को बुझाने को दौड़े। इनमें हिन्दू भी थे, मुसलमान भी, ऋषि के बहुत-से बनावटी भक्त परंतु अंग्रेजों के प्रच्छन्न गुप्तचर भी, और जिनकी दासता के विरुद्ध यह राष्ट्रचेतना सबसे अधिक उग्र रूप में उबल रही थी, वे अंग्रेज तो इसमें शामिल थे ही।

आखिर उन सबने मिलकर षड्यन्त्र किया और ऋषि को विष देकर ही उनके प्राणान्त से इन षड्यन्त्रकारियों को शान्ति मिली। ऋषि तो 'हे ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो, अहा! तूने अच्छी लीला की'—कहकर इस असार संसार से विदा हो गए, पर अपने अग्निपुंज की विरासत अपने अनुयायियों के लिए छोड़ गए।

अपने जीवन की एक वैयक्तिक घटना का उल्लेख करूँ तो आप बुरा नहीं मानेंगे। सन् ३१ की बात होगी। मैं गुरुकुल कुरुक्षेत्र की सातवीं कक्षा में पढ़ता था। उस समय गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर हम सब विद्यार्थी अच्छे-अच्छे वेदमन्त्रों, संस्कृत के श्लोकों और हिन्दी के दोहों तथा सूक्तियों के 'मोटो' बनाकर पण्डाल में सजावट के लिए टाँगा करते थे। मुझे पता नहीं क्या सूझी कि मैंने एक 'मोटो' अंग्रेजी में बनाया। उससे पहले गुरुकुल में शायद ही किसी ने अंग्रेजी में 'मोटो' बनाया हो। वह मोटो था अब्राहम लिंकन का अमर वाक्य—"If slavery is not wrong, nothing is wrong"—यदि गुलामी पाप नहीं है तो कुछ भी पाप नहीं है। यह मोटो बनाकर उत्सव से पूर्व-सन्ध्या को मैंने मंच पर सबसे आगे लगा दिया। अगले दिन जब अम्बाला के अनेक रायबहादुर और ब्रिटिश-सेवा में नियुक्त गुरुकुल के हितैषी दानी महानुभाव उत्सव में आए और उनकी दृष्टि इस मोटो पर पड़ी तो सबसे पहला काम उन्होंने यही किया कि उस मोटो को वहाँ से हटवा दिया और अधिकारियों से उस ब्रह्मचारी को गुरुकुल से निकाल देने की माँग की जिसने ऐसी गुस्ताखी की थी। अस्तु, मुझे परिस्थितिवश गुरुकुल से निकाला तो नहीं गया, पर तभी से मेरे मन में यह धारणा बैठ गई कि ब्रिटिश राज्य को बनाए रखने में अपने आकाओं से भी ज्यादा उत्साही वे भारतीय थे जिनके उस राज्य से स्वार्थ सिद्ध होते थे। तभी से मेरे मन में उनके प्रति तीव्र आक्रोश भर गया।

कुछ लोग ऋषि के अखण्ड ब्रह्मचर्य पर मुग्ध हैं। महात्मा गांधी कहा करते थे—"His brahmacharya is my envy and failure"—उनका ब्रह्मचर्य मेरे लिए ईर्ष्या की वस्तु है पर मैं उसमें विफल हूँ। कुछ लोग उनकी वाग्मिता और शास्त्रार्थ-पटुता पर मुग्ध हैं। कुछ लोग उन्हें परम वेदोद्धारक और प्रबल समाज-सुधारक कहकर सन्तुष्ट होते हैं, तो कुछ उन्हें अबलाओं और अनाथों का रक्षक कहकर उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। पर मैं उनकी उस प्रखर राष्ट्रचेतना पर मुग्ध हूँ जो उनको अन्य सब महापुरुषों से एकदम अलग, पर्वत-शिखरों में सबसे पृथक् और सबसे ऊँचा शिखर सिद्ध करती है। मुझे उनका वेदोद्धारक और समाज-सुधारक आदि सभी रूप स्वीकार्य हैं, क्योंकि उनका जीवन इतना बहु-आयामी है कि किसी एक दिशा में उसे बाँधा नहीं जा सकता। पर जहाँ तक राष्ट्रचेतना का प्रश्न है, उनसे बढ़कर आप्त राष्ट्रपुरुष मुझे दिखाई नहीं देता—जिसने राष्ट्र की पूरी अस्मिता को, पूर्ण स्व को, आत्मसात् किया हो—फिर चाहे वह देश वाला रूप हो, चाहे राष्ट्रवाला, चाहे राज्य वाला—और उसे पूरा शास्त्रीय आधार प्रदान

किया हो। उन्होंने राष्ट्र का पूरा मानचित्र (ब्लूप्रिण्ट) तैयार कर दिया है, अब उसमें रंग भरने वाले की आवश्यकता है। मेरा कहना केवल इतना है कि आर्य-समाज के तम्बू में एक बाँस बेशक वेद और धर्म का लगाइए, दूसरा बाँस समाज-सुधार का और तीसरा अबला-अनाथ रक्षा का और चौथा पाण्डित्य और शास्त्रार्थ का, पर तम्बू के बीचोंबीच सबसे मोटा बाँस राष्ट्रचेतना का लगा दीजिए। इसके बिना ऋषि की आत्मा के साथ न्याय नहीं होगा।

स्वामी सत्यानन्दजी 'श्रीमद्दयानन्द प्रकाश' की भूमिका के अन्त में लिखते हैं—

"स्वामी जी महाराज पहले महापुरुष थे जो पश्चिमी देशों के मनुष्यों के गुरु कहलाये।···जिस युग में स्वामी जी हुए उससे कई वर्ष पहले से आज तक ऐसा एक ही पुरुष हुआ है जो विदेशी भाषा नहीं जानता था, जिसने स्वदेश से बाहर एक पैर भी नहीं रखा था, जो स्वदेश के ही अन्न-जल से पला था, जो विचारों में स्वदेशी था, आचारों में स्वदेशी था, भाषा और वेश में स्वदेशी था, परन्तु वीतराग और परम विद्वान् होने से सबका भक्ति-भाजन बना हुआ था।···महाराज निरपेक्ष-भाव से समालोचना किया करते। सब मतों पर टीका-टिप्पणी चढ़ाते। परन्तु इतना करने पर भी उनमें कोई ऐसी अलौकिक शक्ति और कई ऐसे गुण थे जिनके कारण वे अपने समय के बुद्धिमानों के सम्मानपात्र बने हुए थे।···महाराज के उच्चतम जीवन की घटनाओं का पाठ करते समय हमें तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि आज तक जितने भी महात्मा हुए हैं उनके जीवनों के सभी समुज्ज्वल अंश दयानन्द में पाये जाते थे। वह गुण ही न होगा जो उनके सर्वसम्पन्न रूप में विकसित न हुआ हो। महाराज का हिमालय की चोटियों पर चक्कर लगाना, विन्ध्याचल की यात्रा करना, नर्मदा के तट पर घूमना, स्थान-स्थान पर साधु-सन्तों के दर्शन और सत्संग प्राप्त करना मंगलमय श्रीराम का स्मरण कराता है। कर्णवास में कर्णसिंह के बिजली के समान चमकते खड्ग को देखकर भी महाराज नहीं काँपे, तलवार की अति तीक्ष्ण धार को अपनी ओर झुका हुआ अवलोकन करके भी निर्भय बने रहे और साथ ही गम्भीर भाव से कहने लगे कि आत्मा अमर है, अविनाशी है, इसे कोई हनन नहीं कर सकता। यह घटना और ऐसी ही अनेक अन्य घटनाएँ ज्ञान के सागर श्रीकृष्ण को मानस-नेत्रों के आगे मूर्तिमान् बना देती हैं।···अपनी प्यारी भगिनी और पूज्य चाचा की मृत्यु से वैराग्यवान् होकर वन-वन में कौपीनमात्रावशेष दिगम्बरी दिशा में फिरना, घोरतम तपस्या करना और अन्त में मृत्युंजय महौषध को ब्रह्मसमाधि में लाभ कर लेना महर्षि के जीवन का अंश बुद्धदेव के समान दिखाई देता है।

"दीन-दुःखियों, अपाहिजों और अनाथों को देखकर श्रीमद् दयानन्द जी क्राइस्ट बन जाते हैं। धुरन्धर वादियों के सम्मुख श्रीशंकराचार्य का रूप दिखा देते हैं। एक ईश्वर का प्रचार करते और विस्तृत भ्रातृभाव की शिक्षा देते हुए भगवान् दयानन्द

जी श्रीमान् मुहम्मद जी प्रतीत होने लगते हैं। ईश्वर का यशोगान करते हुए स्तुति-प्रार्थना में जब प्रभु इतने निमग्न हो जाते हैं कि उनकी आँखों से परमात्म-प्रेम की अविरल अश्रुधारा निकल आती है, गद्गद-कण्ठ और पुलकित-गात हो जाते हैं तो सन्तवर रामदास, कबीर, नानक, दादू, चेतन और तुकाराम का समाँ बँध जाता है। वे सन्त-शिरोमणि जान पड़ते हैं। आर्यत्व की रक्षा के समय वे प्रातःस्मरणीय प्रताप और शिवाजी तथा गुरु गोविन्दसिंह जी का रूप धारण कर लेते हैं।

"महाराज के जीवन को जिस पक्ष से देखें वह सर्वांग सुन्दर प्रतीत होता है। त्याग और वैराग्य की उसमें न्यूनता नहीं है। श्रद्धा और भक्ति उसमें अपार पाई जाती है। उसमें ज्ञान अगाध है। तर्क अथाह है। वह समयोचित मति का मन्दिर है। प्रेम और उपकार का पुंज है। कृपा और सहानुभूति उसमें कूट-कूटकर भरी है। वह ओज है, तेज है, परम प्रताप है, लोकहित है और सकल कला-सम्पूर्ण है।"

इस भक्तिभावाप्लावित कथन के बाद ऋषि के बारे में कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रहती। फिर भी श्रीमद्भगवद् गीता के शब्दों में —

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥

(गीता, एकादश अध्याय, श्लोक १२)

"यदि आकाश में हजारों सूर्य एक-साथ उदित हों तो उनकी जैसी आभा और दीप्ति होगी, कुछ-कुछ वैसी ही दीप्ति उस आप्त महापुरुष की होगी।"

हे भारत के (और मानवजाति के) भावी भाग्यविधाता ! पूर्ण आप्त राष्ट्रपुरुष ऋषि दयानन्द ! तेरी जय हो ! जय हो ! जय-जय हो !

[ऋषि दयानन्द के १६८वें जन्म दिवस, १७ सितम्बर, १९९१ (भाद्रपद शुक्ला नवमी संवत् २०४८) पर वेद संस्थान, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली में दिया गया भाषण।]

उपदेशक-जीवन के संस्मरण

सन् १९३९ के अगस्त के उत्तरार्ध में हैदराबाद की जेल से छूटने के बाद मैं आगामी वर्ष स्नातक-परीक्षा देने के संकल्प से गुरुकुल पहुँचा, क्योंकि एक मास बाद होने वाली उस परीक्षा को ठुकराकर मैं अपनी छात्रावस्था में ही सत्याग्रह में भाग लेने चला गया था। मैं गुरुकुल के अधिकारियों का इसी बात के लिए बहुत आभारी था कि वे मुझे इसकी अनुमति देने को तैयार थे। पर वापस गुरुकुल पहुँचने पर पता लगा कि मेरी अनुपस्थिति में ही, १९३९ के अप्रैल मास में वैशाखी के अवसर पर हुए दीक्षान्त-समारोह में मुझे वेदालंकार की उपाधि देकर, बिना स्नातक-परीक्षा दिये ही, स्नातक घोषित कर दिया गया है। इतना ही नहीं, अपनी कक्षा में 'सर्वोत्तम स्नातक' का स्वर्णपदक भी मुझे प्रदान किया गया है। इससे जहाँ मेरे अन्तःकरण में अपने गुरुजनों के प्रति आदर और कृतज्ञता का भाव आया, वहाँ अपने ऊपर भी कुछ गर्व-सा हुआ कि मैं औरों की दृष्टि में भी इतना बेकार सिद्ध नहीं हुआ। अब मुझे पुस्तकों की दुनिया से निकलकर बाहर की दुनिया में जीवन-संघर्ष के लिए जूझना था। उस जूझने में यह आन्तरिक विश्वास ही सबसे बड़ा सम्बल था।

स्नातक बनते ही मैंने अपने मन में संकल्प कर लिया था कि अब मैं अपने पिता से कोई सहायता नहीं लूँगा। मुझे स्वयं अपने पैरों पर खड़े होना है। अपनी आजीविका स्वयं कमानी है, चाहे कोई भी काम क्यों न करना पड़े। मेरे माता-पिता का काम मुझे पढ़ा-लिखा देना था; वह उन्होंने कर दिया। अब उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं। गुरुकुल की शिक्षा का यह प्रभाव भी मेरे ऊपर था कि आजीविका के लिए कोई भी काम भला या बुरा तो होता है, पर छोटा या बड़ा नहीं होता।

काम हाथ में कोई था नहीं। सत्याग्रह की समाप्ति के बाद कुछ दिन तक गुरुकुल में ही बैठकर 'आर्य सत्याग्रह में गुरुकुल की आहुति' लघु पुस्तिका लिखी, जो 'गुरुकुल' नामक साप्ताहिक पत्रिका में धारावाहिक रूप से छपती रही, फिर गुरुकुल की ओर से ही पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हुई। अपनी प्रथम कृति होने के कारण मुझे उस पुस्तिका से विशेष स्नेह है। मेरे कुछ इष्ट मित्रों का कहना है कि मैंने उससे अच्छी पुस्तक आज तक नहीं लिखी। 'निजाम की जेल में' पुस्तक उसी का परिवर्धित संस्करण है।

१९३९ के सितम्बर मास के अन्त में मैं श्री पं० बुद्धदेव विद्यालंकार के प्रभात-

आश्रम में मेरठ आ गया। मन में उनके प्रति श्रद्धा थी। उनकी वाग्मिता और ऊहा का मैं कायल था। सोचा था—उनके सान्निध्य से कुछ लाभ उठाऊँगा, पर वे प्रायः आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर व्याख्यान के लिए सुदूर स्थानों की यात्रा पर ही रहते थे। उनकी माँग जनता में इतनी अधिक थी कि जितने दिन मैं प्रभात आश्रम में रहा, वे एक दिन के लिए भी वहाँ नहीं आ सके। गुरुकुल तो वहाँ बहुत बाद में बना है; उस समय आश्रम की स्थापना हुई ही थी। केवल दो कमरे थे, चारों तरफ हरे-भरे खेत थे, पास ही छोटी-सी नहर थी, स्वाध्याय और साधना के लिए अच्छा एकान्त था। मुझे जगह अच्छी लगी थी।

तभी अक्तूबर में गुरुकुल के आचार्य स्वामी अभयदेव जी का पत्र आया। उन्होंने लिखा कि सार्वदेशिक सभा को सन् १९४१ में होने वाली जनगणना के लिए कुछ उपदेशकों की आवश्यकता है। मैंने तुम्हारा नाम भेज दिया है। मैंने आचार्य जी को लम्बा पत्र लिखा कि उपदेशकी में मेरी कोई रुचि नहीं है, मुझे उसमें शक्ति का अपव्यय अधिक और सार्थकता कम लगती है; मुझे वह बहिरंग काम लगता है। मेरी पढ़ने-लिखने में रुचि अधिक है, मुझे उसी में आनन्द आता है, मैं स्वभाव से अन्तर्मुखी प्रकृति का हूँ। उन्होंने संक्षिप्त किन्तु स्नेहपूर्ण उत्तर दिया—"मैं तुम्हारी भावना समझता हूँ। पर अब मैंने तुम्हारा नाम भेज दिया है, तो सार्वदेशिक सभा का पत्र आने पर मना मत करना। यदि तुम अपने आचार्य का आदेश समझकर भी इसे स्वीकार कर लोगे, तो यह तुम्हारे जीवन में काम आएगा। वैसे मुझे यह विश्वास है कि तुम जो भी काम करोगे उसमें तुम यशस्वी बनोगे। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"

जनगणना-सम्बन्धी कार्य

परिणाम !—सार्वदेशिक सभा ने मुझे ४० रु० मासिक वेतन पर (आज पाठक इस राशि पर हँस सकते हैं, पर उस युग में किसी भी नए स्नातक का यही मानदेय था) मध्यप्रदेश और विदर्भ में जनगणना-सम्बन्धी कार्य के लिए भेज दिया। नागपुर मेरा मुख्यालय बना, क्योंकि प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्यालय वहीं था। अलग से कोई ठहरने का स्थान था नहीं, कार्यालय के नाम पर भी सदर बाजार में एक छोटा-सा कमरा था। उसी के एक कोने में सामान रख दिया। कहीं कोई जान-पहचान नहीं। सभा के एकमात्र क्लर्क थे—श्री सत्येन्द्र। उन्होंने छत्तीसगढ़ की एक गोंड लड़की से शादी की थी। उनके भी निवास का अन्य कोई स्थान नहीं था, इसलिए वे भी वहीं रहते थे। वे कुछ वर्ष गुरुकुल काँगड़ी में पढ़े थे, बुजुर्ग थे, मुझे गुरुकुल का स्नातक जानकर उन्होंने अपने परिवार के एक अंग की तरह व्यवहार किया, जिससे मेरे मन को बड़ी राहत मिली। उनकी सदाशयता को मैं भूल नहीं सकता। उनकी पत्नी अनपढ़ थी, पर सुन्दर थी और युवती थी। वे प्रौढ़ावस्था के

थे। कभी-कभी उनका आपस में झगड़ा होता। मुझे बीच-बचाव करना पड़ता। मेरी कठिनाई पाठक समझ सकते हैं। पर वे दोनों ही मेरा आदर करते थे और प्रायः मेरी बात मान लेते थे। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि जब तक मैं उस प्रदेश में रहा तब तक उन दोनों को, या अन्य किसी व्यक्ति को भी, अपनी किसी चेष्टा से शिकायत का कभी कोई अवसर नहीं दिया।

मैं अक्सर बाहर दौरे पर ही अधिक रहता। कभी-कभी नागपुर भी जाना ही पड़ता। पहली बार जब नागपुर से लगभग तीसेक मील दूर कामठी में मुझे सार्वजनिक रूप से व्याख्यान देने का अवसर मिला, तो जो भी कुछ मन में सोचकर खड़ा हुआ था, वह सब भूल गया। मुश्किल से १५-२० मिनट बोलकर बैठ गया। लोग उत्सुकतापूर्वक सुन रहे थे, चाहते थे कि और बोलूँ, पर बोलूँ कैसे? खड़े होते ही चौकड़ी भूल गया! अपने ऊपर गुस्सा भी आया। पर ऊखली में सिर दे चुका था।

धीरे-धीरे मैं भी पक गया। फिर तो भीड़ देखकर डर नहीं लगता था। जितनी अधिक भीड़, उतना ही अधिक बोलने का जोश।

मैंने सारे प्रान्त का साल-भर तक तूफानी दौरा किया। शहर और गाँव ही नहीं, अपनी ओर से छोटे-से-छोटे देहात में और ठेठ जंगली तथा आदिवासियों के (जिन्हें वनवासी ही कहना अधिक उपयुक्त है) प्रदेशों में भी गया और आर्यसमाज का जनगणना-सम्बन्धी सन्देश सुनाया। प्रान्त में आर्यसमाज का विशेष प्रचार नहीं था। विदर्भ और मध्यप्रदेश में कुल मिलाकर १८ आर्यसमाज मन्दिर थे। जहाँ आर्यसमाजें थीं, वहाँ तो ठहरने और व्याख्यान आदि की व्यवस्था किसी-न-किसी तरह हो जाती, पर जहाँ आर्यसमाज का कोई नाम लेने वाला नहीं, वहाँ मैं कैसे कार्य करता था, यह पाठकों को उत्सुकता हो सकती है। इसलिए थोड़ी-सी झाँकी उस समय की अपनी कार्यशैली की भी।

मेरी कार्यशैली

किसी भी ऐसे स्थान पर पहुँचता, जहाँ कोई आर्यसमाजी नहीं होता, तो किसी धर्मशाला में टिक जाता। धर्मशाला के अभाव में किसी भी दुकान पर अपना छोटा-सा बिस्तर रख देता और दुकानदार से प्रार्थना करता—'भैया! एक रात मुझे यहाँ ठहरना है, कल सवेरे चला जाऊँगा। यदि रात को सोने की कोई व्यवस्था कर सको तो कृपा होगी, यदि न कर सको, तो बाहर के बरामदे में, या दुकान के सामने सड़क या रास्ते के किनारे पर सोने देने में आपको कोई असुविधा नहीं होगी, यह मुझे विश्वास है। लोग देखते—एक खद्दरपोश, पढ़ा-लिखा नौजवान ऐसी प्रार्थना कर रहा है। स्वातन्त्र्य आन्दोलन का जमाना था। विश्व-युद्ध चल रहा था, इसलिए पुलिस का आतंक भी कम नहीं था। लोग समझते कि हो-न-हो, कोई राष्ट्रकर्मी कांग्रेसी है (या प्रच्छन्न क्रान्तिकारी भी हो सकता है), इसलिए प्रायः

सहायता ही करते।

फिर मैं उस स्थान के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का नाम लोगों से पूछता। उसके निवास का पता लगाकर उससे मिलता और निवेदन करता—"मैं दिल्ली से आया हूँ। मेरे आने का यह प्रयोजन है। मैं जनता से जनगणना के सम्बन्ध में यह बात कहना चाहता हूँ। मैं आपको मुनादी के लिए पैसे देता हूँ। कृपा करके आप शाम को सार्वजनिक सभा के लिए मुनादी करवा दें और सभा की अध्यक्षता भी आप करें। हो सके, तो एक मेज-कुर्सी या तख्त की व्यवस्था करवा दें, अन्यथा उसके बिना भी काम चलेगा। यह आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अपने भाषण में ऐसी कोई बात नहीं कहूँगा जिससे आपको किसी भी प्रकार की असुविधा या परेशानी का सामना करना पड़े।" इसमें उनका क्या बिगड़ता था! उनको तो मुफ्त में यश ही मिलता था। अधिकांश स्थानों पर लोग तैयार हो जाते। जहाँ ऐसा न हो पाता, वहाँ मैं मुनादी करने वालों को तलाश करके स्वयं ही मुनादी करवा देता और शाम को भीड़ इकट्ठी हो जाने पर अपने विचार रखता। जिस ढंग से मैं अपनी बात कहता, वह लोगों को पसन्द आती और उससे असहमत होने की कोई गुंजायश उन्हें नजर नहीं आती। कहीं-कहीं तो भारी भीड़ इकट्ठी हो जाती। पुलिस-अधिकारी भी चौकन्ने हो जाते और सिपाहियों को बड़ी संख्या में भेज देते कि कहीं कोई राजद्रोह की बात न होने पावे। उस जमाने में अंग्रेजों का कैसा आतंक था, यह आज से ५० वर्ष पहले की पीढ़ी के लोग बखूबी जानते हैं। पर देश में राष्ट्रीय चेतना भी अन्दर-ही-अन्दर उबल रही थी।

पाठक पूछ सकते हैं कि ऐसी विषम परिस्थिति में मैं अपनी बात किस ढंग से कहता था और क्या कहता था? उसका भी संकेत कर देता हूँ।

महायुद्ध चल ही रहा था। लोग डर के मारे छिप-छिपकर, कमरा और खिड़कियाँ बन्द करके जर्मनी का रेडियो सुना करते थे और जर्मन सेना की विजय की बात सुनकर प्रसन्न होते थे। भारतीय रेडियो से या बी० बी० सी० से जब यह समाचार आता कि अमुक स्थान से अंग्रेज बड़ी बहादुरी से पीछे हट गए, तो 'इस बहादुरी से पीछे हटने' की बात पर मन-ही-मन खूब हँसते, पर इस हँसी को बाहर प्रकट नहीं कर सकते थे। किसी खेल में कोई टीम पराजित हो जाती तो वह अपनी झेंप मिटाने के लिए इस बहादुरी से पीछे हटने के मुहावरे का प्रयोग करती। मैं महायुद्ध की चर्चा से ही अपना भाषण प्रारम्भ करता, फिर उससे होने वाले भयंकर विध्वंस का वर्णन करते हुए भारत पर आए आसन्न संकट की चर्चा करता। इससे पुलिस-अधिकारी चौंकते और कभी-कभी तो मुझे सन्देश भी भेजते कि युद्ध की चर्चा न करें। पर मैं जानता था कि मुझे क्या कहना है। मैं तुरन्त अपने भाषण को नया मोड़ देते हुए कहता कि इस समय देश की सीमाओं पर संकट छाया हुआ है, हमारे शासक अंग्रेज उस संकट से देश की भलीभाँति रक्षा कर सकते हैं। पर हम

देशवासियों का भी कर्तव्य है कि हम देश की आन्तरिक एकता को इतना मजबूत बना दें कि शासकगण और हमारी सेना निश्चिन्त होकर सीमाओं की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो सकें। उस एकता को कैसे मजबूत बनाया जाए, इसके लिए मेरा नुस्खा यह था—

हम आपस में क्यों लड़ते हैं?—इसलिए न कि हमारा आपस में धर्म नहीं मिलता, जाति नहीं मिलती, भाषा नहीं मिलती और हमारे प्रान्तीय स्वार्थ आपस में टकराते हैं। पर यह हमारा भ्रम है। हम पर गलत विचारधारा थोपी गई है। असल में हम सबका धर्म एक है, हमारी जाति भी एक है, हमारी भाषा भी एक है और हमारा देश भी एक है। हम हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, बौद्ध, ईसाई, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि कुछ भी हो सकते हैं, हमारे सम्प्रदाय अलग-अलग हो सकते हैं, पर धर्म नहीं। धर्म हम सबका एक ही है—वह है वैदिक धर्म, क्योंकि सबका मूल वही है। जब तक हमारा मूल एक है, तब तक हमारा आपस में विचार-भेद कितना ही हो, पर हमारा धर्म एक ही रहेगा।

इसी प्रकार हम जन्म से या कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि कुछ भी क्यों न हों, पर वह हमारी जाति नहीं, हमारा वर्ण है। जाति तो हमारी एक ही है—और वह है—आर्य जाति। इसी प्रकार की बात मैं भाषा के बारे में कहता। बंगाली, पंजाबी, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगु आदि हमारी मातृभाषाएँ हो सकती हैं, पर हमारी राष्ट्रभाषा तो एक ही है—और वह है हिन्दी। वह किसी एक प्रान्त की नहीं, समस्त राष्ट्र के निवासियों की भाषा है। जहाँ तक देश का प्रश्न है, वह तो हम सबका एक है ही—हिन्दुस्तान। इसी को कभी आर्यावर्त कहते थे, फिर भारत कहने लगे, आजकल हिन्दुस्तान और अंग्रेजी में 'इण्डिया' कहते हैं।

भाषण के अन्त में मैं कहता—अब से कुछ ही महीने बाद जनगणना होने वाली है। उसमें आपकी परीक्षा होगी। जनगणना करने वाले आपसे पूछेंगे कि आपका धर्म क्या है? आपका एक ही उत्तर होना चाहिए—वेद या वैदिक धर्म। वे आपसे पूछेंगे—आपकी जाति क्या है? अपका उत्तर होना चाहिए—आर्य (हिन्दू)। वे पूछेंगे—आपकी भाषा क्या है? आप कहें—हिन्दी। वे पूछेंगे—आपकी राष्ट्रीयता? आप कहें—भारत या भारतीयता। बस, भाषण समाप्त।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरी इस विचारधारा का बीजमन्त्र ऋषि दयानन्द द्वारा मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के उस प्रश्न का उत्तर था जिसमें यह पूछने पर कि देश में एकता कब होगी, ऋषि ने कहा था—"जब सबका धर्म एक होगा, जाति एक होगी और भाषा एक होगी एवं सब इस देश को अपना देश समझेंगे।" मेरी विचारसरणि आज भी बहुत-कुछ इसी बीजमन्त्र के चारों ओर घूमती है। मैं नहीं समझता कि इससे किसी को मतभेद की गुंजाइश हो सकती है। कभी-कभी तो बड़े पुलिस अफसर आकर मेरे कान में कहते—हम तो भाषण के

शुरू में घबरा गये थे, सोचते थे—आपको गिरफ्तार करना पड़ेगा, पर जिस तरह से आपने अपने विचारों का प्रतिपादन किया है, उसके लिए अब हमारे पास आपको बधाई देने के सिवाय और कोई सजा नहीं है।

अगले दिन मैं जिधर से भी बस्ती में निकलता, लोग अँगुली से इशारा करते हुए कहते—'अरे रात वाला आदमी यही तो है !' पर मुझे फुरसत कहाँ थी ? मैं सवेरे ही अगले स्थान के लिए चल पड़ता।

परिश्रम का फल

मैंने अपने काम को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया था और पूरी तरह जी-जान लगाकर उसे सफल करने का निश्चय किया था। उसका सुफल भी मिला। भारत-भर में, मध्यप्रदेश और विदर्भ ने जनगणना में अपने-आपको 'आर्य' लिखवाने में अनुपात की दृष्टि से सब लेखे तोड़ दिए थे। हालाँकि आर्यसमाज के प्रचार की दृष्टि से पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और राजस्थान आदि मध्यप्रदेश से कहीं आगे थे और वहाँ उपदेशकों की भी कमी नहीं थी, पर सबका लेखा (रिकॉर्ड) तोड़ा मध्यप्रदेश और विदर्भ ने। इतना ही नहीं, मध्यप्रदेश की विधानसभा में भी यह प्रश्न उठा कि यह चमत्कार कैसे हो गया कि इस प्रान्त ने अपने-आपको 'आर्य' लिखवाने में और सब प्रान्तों को पीछे छोड़ दिया, जबकि यहाँ आर्यसमाज का उतना प्रचार नहीं है ? तब विधानसभा के अध्यक्ष के नाते श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने इस प्रश्न का यही समाधान किया था कि यहाँ के आर्यसमाजियों ने इसके लिए प्रयत्न किया है। तब तक गुप्तजी मुझे नहीं जानते थे। पर एक बार मैं दुर्ग गया था, जहाँ गुप्तजी रहा करते थे। जब उनको पता लगा तो मुझे अपने घर बुलवाया, प्रेम से भोजन करवाया और बाद में मेरी पीठ ठोकते हुए शाबाशी दी और विधान-सभा में हुए प्रश्नोत्तर की बात बताई। अपने प्रयत्न की सार्थकता से कौन स्वयं को कृतकृत्य अनुभव नहीं करेगा !

पर संस्मरण तो मैं पाठकों को दूसरा सुनाना चाहता था। उक्त प्रसंग तो क्षेपक की तरह अनायास बीच में आ पड़ा।

औरंगाबाद और जालना

उसी सन् ४० की बात है। अपने दौरे के सिलसिले में विदर्भ के आन्तरिक प्रदेशों में घूमते हुए जब मैं निजाम रियासत की सीमा पर पहुँचा तो मन में आया कि औरंगाबाद यहाँ से निकट ही है, क्यों न अजन्ता और एलोरा की गुफाएँ देखता चलूँ ! मैं औरंगाबाद पहुँच गया। औरंगाबाद उस समय निजाम रियासत के अन्तर्गत ही था। महाराष्ट्र के और भी अनेक भाग रियासत के अन्तर्गत थे। (पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि विदर्भ भी कभी निजाम रियासत का ही

हिस्सा था।) विदर्भ (बरार) अपनी काली मिट्टी में होने वाली बढ़िया कपास के लिए मशहूर है। इसी कपास के लालच में अंग्रेजों ने विदर्भ निजाम से हथिया लिया और निजाम के शाहजादे को 'प्रिंस ऑफ बरार' का खिताब देकर सन्तुष्ट कर दिया। इससे यह भी पता लगता है कि उस समय देसी रियासतों के शासक, अंग्रेजों से कोई खिताब पाने के लालच में कितना मूल्य चुकाने को तैयार थे। राजाओं का बड़प्पन अंग्रेजों द्वारा उनको दिये गए खिताबों की संख्या से नापा जाता था। सारे महाराष्ट्र में गणेशोत्सव की कैसी धूम होती है, यह जानकार लोग जानते हैं। निजाम रियासत के मराठी-भाषी इलाके भी लोकमान्य तिलक द्वारा जन-जागरण के लिए और राष्ट्रीय चेतना के लिए चलाये गए इस उत्सव में महाराष्ट्र के अन्य इलाकों से पीछे नहीं रहते थे। मैं जब औरंगाबाद पहुँचा, वहाँ भी गणेशोत्सव की धूम थी। आर्यसमाजी बन्धु उसमें व्याख्यान देने के लिए मेरे पीछे पड़ गए। मेरे नाम और काम की चर्चा वहाँ के आर्य-बन्धुओं तक पहुँच चुकी थी। एक दिन पहले पण्डित नरेन्द्र जी व्याख्यान देकर जा चुके थे। उस दिन के व्याख्यान के लिए पण्डित विनायकराव विद्यालंकार आमन्त्रित थे और वे औरंगाबाद पहुँच चुके थे। युवक-मंडली मेरे पीछे पड़ी। मैं धर्मसंकट में था। एक तो मेरा कार्यक्षेत्र मध्यप्रदेश और विदर्भ तक सीमित था; दूसरे, मेरे पास समय भी नहीं था; तीसरे, जो एक दिन का समय किसी तरह निकालकर मैं औरंगाबाद आया था वह समय मैं अजन्ता और एलोरा देखने में गुजारना चाहता था। यदि गणेशोत्सव में व्याख्यान देने की बात मान लेता, तो अजन्ता और एलोरा रह जाते। मैंने अपने धर्मसंकट और समयाभाव की समस्या स्वयं विनायकराव जी के समक्ष पेश की और उनसे पूछा कि इस हालत में मुझे क्या करना चाहिए? उन्होंने स्पष्ट सम्मति दी कि सब काम छोड़कर अजन्ता-एलोरा देखो। यदि कल भी ठहर सकते हो, तो यहाँ व्याख्यान दे सकते हो। यदि केवल एक ही दिन का समय है तो अजन्ता-एलोरा को 'मिस' मत करो। फिर पता नहीं, जीवन में इनको देखने का कभी अवसर आवे या न आवे! मैं अजन्ता-एलोरा देखने चला गया। मेरी खुशकिस्मती थी कि मुझसे एक दिन पहले स्वयं भारत के वायसराय इन दोनों स्थानों को देखने आए थे, इसलिए सब रास्ते समतल कर दिये गए थे और गुफाओं में बिजली की अस्थाई व्यवस्था कर दी गई थी। अन्यथा उन गुफाओं में दिन में भी अँधेरा ही रहता है। अन्य भी सब आवश्यक व्यवस्थाएँ की गई थीं। उन व्यवस्थाओं का लाभ मुझे भी मिल गया और म्यूजियम के क्यूरेटर ने स्वयं मेरे लिए गाइड का काम किया। उस जमाने में प्रायः विदेशी लोग ही भूले-भटके इन स्थानों को देखने आया करते थे; अपने देशी बन्धुओं की इस ओर विशेष रुचि नहीं थी।

अगले दिन मैं औरंगाबाद से जालना आ गया। वहाँ गणेशोत्सव की इतनी धूम तो नहीं थी, पर वहाँ के आर्यबन्धु भी व्याख्यान के लिए पीछे पड़ गए। जालना

भी निजाम रियासत के ही अन्तर्गत था, इसलिए बिना चहारदीवारी के किसी खुले स्थान में सार्वजनिक सभा सरकारी अनुमति के बिना नहीं की जा सकती थी। हैदराबाद में आर्य-सत्याग्रह की समाप्ति के बाद भी कई स्थानों पर शासन की निरंकुशता ज्यों-की-त्यों विद्यमान थी। पर वहाँ के आर्यसमाजी भी कम चतुर नहीं थे। उन्होंने एक बड़ी धर्मशाला के अन्दर के खुले अहाते में, मेरे व्याख्यान की मुनादी करवा दी। चहारदीवारी से घिरा होने के कारण इस स्थान पर व्याख्यान के लिए सरकारी अनुमति आवश्यक नहीं थी।

रात को व्याख्यान हुआ। भीड़ ठसाठस। मैं भी जवानी के जोश में। व्याख्यान से लोग इतने प्रभावित हुए कि वहीं अगले दिन रात को फिर मेरा व्याख्यान होने की घोषणा किये बिना नहीं माने। उनके जोश के आगे मेरी नहीं चली।

रात को कोई तीन बजे आर्यसमाज के अधिकारियों ने आकर मुझे जगाया और कहा कि पुलिस के अन्दर हमारी ओर से जो आर्यसमाजी सिपाही के वेश में ही गुप्तचर का काम करते हैं, उन्होंने अभी सूचना दी है कि बड़े अफसर के हुक्म के अनुसार पुलिस ने तय किया है कि कल दिन निकलने पर आपको गिरफ्तार कर लिया जाए। इतने सवेरे जनता की ओर से कोई विरोध या उपद्रव भी सम्भव नहीं, यदि हो भी तो उससे निपटने के लिए पुलिस ने पूरी व्यवस्था कर ली है।

मैंने कहा—"एक बार पहले सन् १९३९ में निजाम की जेलों की मेहमाननवाजी भुगत ही चुका हूँ, एक बार और सही। मैं सब तरह से तैयार हूँ।"

अधिकारी बोले—"पर हम तैयार नहीं हैं। इसलिए नहीं कि हमारे मन में कोई भय है, पर इसलिए कि हमने जबर्दस्ती आपको रोका है। यदि हमारी इस जिद के कारण आप गिरफ्तार हो गए, तो लोग हमें क्या कहेंगे? दूसरे, मध्यप्रदेश और विदर्भ में आप जनगणना-सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं वह काम भी रुक जाएगा। इसके लिए सार्वजनिक सभा हमसे जवाब तलब कर सकती है।"

मैंने कहा—"फिर?"

"फिर क्या? हम सोचते हैं कि सूर्योदय से पहले ही हम आपको कार में बिठाकर निजाम रियासत की हद से बाहर कर दें और सूर्योदय तक आप ब्रिटिश प्रदेश में पहुँच जाएँ। एक बार ब्रिटिश प्रदेश में पहुँचने पर निजाम की पुलिस आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकती।"

ऐसा ही हुआ। उसी समय कार में बिठाकर मुझे रवाना कर दिया गया और मैं सूर्योदय होते-होते निजाम की सीमा से पार होकर विदर्भ की सीमा में प्रविष्ट हो गया।

इससे भी बढ़कर संस्मरण एक और है—

सन् १९४१ में, फरवरी में जनगणना होने पर मेरा कार्य समाप्त हो गया। मैं मध्यप्रदेश छोड़कर दिल्ली आ गया। मई के अन्त में लाहौर में आर्य प्रतिनिधि

सभा का वार्षिक अधिवेशन हुआ। गुरुकुल में रहते हुए इस वार्षिक अधिवेशन की चर्चा सुनते रहते थे। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब गुरुकुल की स्वामिनी सभा थी इसलिए उसकी आन्तरिक राजनीति का प्रभाव गुरुकुल की प्रबन्ध-व्यवस्था पर भी पड़ता रहता था। कुछ निहित-स्वार्थ गुरुकुल काँगड़ी जैसी राष्ट्र-प्रसिद्ध संस्था पर अपना नियन्त्रण बनाए रखने के लिए ही सभा के उच्च पदों पर छाये रहते थे। हमारे लिये सभा का वार्षिक अधिवेशन ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के अधिवेशन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। मध्यप्रदेश से लौटकर मैं स्वतन्त्र था, फुरसत भी थी। सभा का अधिवेशन देखने लाहौर चला गया। इस बार अधिवेशन में चमत्कार हो गया। सभा के प्रधान-पद पर पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, मन्त्री-पद पर पण्डित भीमसेन विद्यालंकार और वेदप्रचाराधिष्ठाता-पद पर पण्डित यशपाल सिद्धान्तालंकार (आचार्य रामदेव जी के सुपुत्र) निर्वाचित हो गए। सभा के इतिहास में यह पहला अवसर था जब सभा के उच्च पदों पर गुरुकुल के स्नातकों की विजय हुई, अन्यथा इससे पहले सदा महाशय कृष्ण का गुट ही छाया रहता था। उनके पास अपने दैनिक अखबार 'प्रताप' का बल था और पंजाब की समस्त आर्यसमाजों पर उनका वर्चस्व था, इसलिए वे अपने गुट से बाहर के किसी व्यक्ति को सभा के अधिकारी-पद पर नहीं आने देते थे। यही कारण है कि महाशय-गुट और स्नातक-गुट में कभी बनी नहीं। इस चुनाव-परिणाम से गुरुकुल के सभी स्नातकों का प्रसन्न होना स्वाभाविक था।

सभामन्त्री श्री भीमसेन विद्यालंकार ने मुझसे कहा—"अब तो सभा गुरुकुल के स्नातकों के हाथ में है। तुम सभा के उपदेशक क्यों नहीं बन जाते?" मैं खाली था ही। सिवाय 'हाँ' करने के कोई चारा नहीं था। ५० रुपये मासिक वेतन पर सभा के उपदेशक-पद पर मेरी नियुक्ति हो गई। अब मुझे उपदेशकी से उतनी अरुचि भी नहीं रही थी। मध्यप्रदेश और विदर्भ में एक साल कार्य करने और उसमें सफलता पाने से उत्पन्न आत्मविश्वास मेरे साथ था। मैं घर नहीं लौट पाया और अगले दिन से ही प्रोग्राम पर भेज दिया गया। गुरुकुलीय शिक्षा का एक असर घुमक्कड़ी प्रवृत्ति भी थी। पंजाब को पूरी तरह निकट से देखने की लालसा ने भी मुझे इस काम के लिए प्रेरित किया।

यहाँ मैं अकेला नहीं था। वेदप्रचार-विभाग में उपदेशकों और भजनोपदेशकों की भरमार सबसे अधिक पंजाब सभा में ही थी। पंजाब में आर्यसमाज के सर्वाधिक प्रचार का यही रहस्य था। प्रचारक नहीं तो प्रचार कहाँ से हो? मेरी लगन और धुन यहाँ भी काम आई। धीरे-धीरे मेरी लोकप्रियता बढ़ती गई। एक समय तो ऐसा आ गया कि जिस पंजाब में दिग्गज और धुरन्धर उपदेशकों की कमी नहीं थी, उसी पंजाब में मैं सबसे अधिक माँग वाला लोकप्रिय उपदेशक माना जाने लगा। सभी आर्यसमाजें अपने वार्षिकोत्सवों पर मुझे बुलाना चाहतीं। सभा भी इस स्थिति

का दोहन करने में पीछे क्यों रहती ! जो समाज मेरे लिए अधिक आग्रह करती, उससे वेदप्रचार-अधिष्ठाता कहते कि सभा के वेदप्रचार-कोष में इतना पैसा दोगे तब इसे तुम्हारे उत्सव पर भेजेंगे। कभी-कभी एक ही तारीख में दो-दो, तीन-तीन उत्सव भी भुगतने पड़ जाते—सवेरे कहीं, दोपहर कहीं और रात कहीं। यहाँ यह ध्यान रहे कि पंजाब में उपदेशकों को दक्षिणा देने का रिवाज नहीं था; समाजों को जो भी कुछ देना होता, वह सीधा सभा के वेदप्रचार-कोष में ही जाता था। उपदेशक तो केवल सभा का वैतनिक कर्मचारी मात्र होता। उसकी लोकप्रियता का आर्थिक लाभ केवल सभा को ही मिलता।

पाँच वर्ष के लिए प्रतिबन्ध

तभी सन् ४२ में हैदराबाद की आर्य प्रतिनिधि सभा ने पंजाब-सभा से एक मास के लिए मेरी सेवाएँ माँग लीं। हो सकता है कि मेरी चर्चा उनके कानों तक भी पहुँची हो, या मेरे मध्यप्रदेश और विदर्भ के कर्तृत्व की गन्ध का स्पर्श हुआ हो। मैं एक मास के लिए रियासत में प्रचार के निमित्त हैदराबाद पहुँच गया। दूसरी ओर भजनोपदेशक के रूप में उन्होंने उस समय के अत्यन्त लोकप्रिय भजनोपदेशक कुँवर जोरावरसिंह की सेवाएँ एक मास के लिए ले लीं। वे किसी सभा के अधीन नहीं थे; स्वतन्त्र रूप से प्रचार करते थे। हम दोनों की जोड़ी अच्छी जमी। रियासत के अनेक स्थानों पर हमने प्रचार किया। उस समय हैदराबाद रियासत में जहाँ तेलुगुभाषी प्रदेश शामिल थे, वहाँ मराठीभाषी, कन्नड़भाषी और कुछ तमिलभाषी प्रदेश भी शामिल थे। निजाम की रियासत देश की सबसे बड़ी रियासत थी। आर्य-सत्याग्रह के पश्चात् रियासत में आर्यसमाज की लोकप्रियता में बहुत वृद्धि हुई थी और प्रायः सभी स्थानों पर प्रचार में अच्छी भीड़ जुट जाती थी। पाठकों को आश्चर्य होगा कि तेलुगु, कन्नड़ और तमिलभाषी प्रदेशों में भी हिन्दी के व्याख्यान लोग भलीभाँति समझते थे; केवल देहात में कहीं-कहीं स्थानीय भाषा में अनुवाद करना पड़ता था। इसका बड़ा कारण यह था कि रियासत की राजभाषा उर्दू थी, सारा राजकाज उर्दू में चलता था, इसलिए सभी कर्मचारियों को उर्दू सीखनी ही पड़ती थी। शिक्षा में भी उर्दू अनिवार्य थी। इसलिए पढ़ी-लिखी जनता को हिन्दी के व्याख्यान सुनने-समझने में कोई अड़चन नहीं थी। किन्तु अब भाषावार राज्यों के निर्माण से यह स्थिति समाप्त हो गई है और हिन्दी के बजाय अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं का मोह हावी हो गया है।

जहाँ तक भीड़ का प्रश्न है, सिकन्दराबाद और हैदराबाद के वार्षिकोत्सवों पर भीड़ इतनी टूटकर पड़ती थी कि प्रबन्धकों की सारी व्यवस्था कम पड़ जाती थी। ४०-५० हजार तक की सामान्य उपस्थिति मैंने सारे भारत में और किसी स्थान के वार्षिकोत्सव पर नहीं देखी; महासम्मेलनों की बात अलग है। सन् ४२

बाले सुलतान बाजार आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर, जो रियासत का सर्वप्रमुख आर्यसमाज माना जाता था और प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का भी मुख्यालय था, मेरे भाषण की कैसी धूम रही, यह मुझे बाद में पता लगा जब एक मास का अपना प्रचार-कार्य समाप्त कर मैं वापस लाहौर पहुँच चुका था। मुझे सूचित किया गया कि भविष्य में ५ वर्ष के लिए मेरा हैदराबाद रियासत में प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया है। मेरे पीछे, पण्डित नरेन्द्र जी को मेरे भाषण के समर्थन में दो शब्द कहने के लिए पुलिस और सरकार की ओर से काफी परेशानी भुगतनी पड़ी। यह बाद में मुझे नरेन्द्र जी से ही पता लगा।

पंजाब में प्रथम प्रोग्राम

पंजाब-सभा में उपदेशक के रूप में नियुक्ति के पश्चात् सबसे पहला प्रोग्राम मुझे झंग शहर के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव का मिला। यह इलाका अपने कद्दावर जवानों के लिए विख्यात है। झंग शहर के साथ ही लगा है झंग-मघियाना। दोनों जगह आर्यसमाज का अच्छा काम था, अलग-अलग समाज-मन्दिर बने थे और दोनों के वार्षिकोत्सव भी अलग-अलग तिथियों में होते थे। इस इलाके के शहरों में हिन्दुओं का बाहुल्य था, पर देहातों में मुस्लिम आबादी का। आर्यसमाज के जलसों में मुसलमान भी आते थे, पर उनकी संख्या नगण्य ही होती थी।

झंग में कुछ ऐसा रंग जमा कि प्रातः मेरा उपदेश, दोपहर मेरा व्याख्यान और रात को भी मेरा प्रवचन। जब दो दिन इसी तरह गुजर गए तो मैंने मन्त्रीजी से कहा कि अन्य उपदेशक भी आए हुए हैं, उनके व्याख्यान आप क्यों नहीं करवाते? मन्त्रीजी कहने लगे—"मैं क्या करूँ? लोग आपके व्याख्यानों के लिए ही आग्रह करते हैं!" मुझे हैरानी हुई। मेरे व्याख्यानों में लोगों को ऐसी विशेषता क्या लगी कि मेरे ही व्याख्यानों के लिए आग्रह करते हैं? जब जलसे के तीसरे दिन भी मुझे घण्टे-घण्टे-भर के तीन व्याख्यान देने पड़े, तो रात को मेरा सारा शरीर दुखने लगा। मुझे इस पर भी आश्चर्य हुआ। दुखता तो गला दुखता, सारा शरीर क्यों? तभी मैंने अनुभव किया कि व्याख्यान केवल गले का व्यायाम नहीं, सारे शरीर का व्यायाम है। बल्कि बाद में मैंने यह भी अनुभव किया कि एक घण्टे का जोरदार व्याख्यान एक घण्टे की कुश्ती से कम नहीं होता—कुश्ती केवल शरीर की नहीं,—वाणी, मन और दिमाग की भी।

कश्मीर की ओर

जून का महीना था। पंजाब की गर्मी भी मशहूर थी। तभी अचानक कश्मीर में राजौरी के वार्षिकोत्सव का प्रोग्राम मिला। बीच में एक-दो गाँवों में प्रचार करते हुए राजौरी का रास्ता पकड़ा, तो यात्रा का कोई साधन नहीं—न रेल, न बस।

पैदल ही जाना था। घोड़े पर अपना सामान लादो और घोड़े वाले के साथ पैदल सफर करो। अन्य उपदेशक ऐसे सफर से कतराते; मुझे आनन्द आता। यायावरी का चस्का था ही, देश-दर्शन का भी। पदयात्रा से बढ़कर इसका उपाय नहीं। ऊखड़-खाबड़ पहाड़ी रास्ता। रात को खुहीरट्टा पहुँचे। वहाँ भी कभी आर्यसमाज का अच्छा काम था और आर्यसमाज ने अनेक हरिजनों को यज्ञोपवीत देकर 'महाशय' बनाया था। उस प्रदेश में यज्ञोपवीतधारी 'महाशय' या 'आर्य' उपनाम से सम्बोधित होते। मुसलमान जमींदार हरिजनों को ही भय या प्रलोभन से धर्मान्तरित कर मुसलमान बनाना चाहते थे। आर्यसमाज के इस यज्ञोपवीत-आन्दोलन से मुसलमानों की दाल गलनी बन्द हो गई। इससे वहाँ हिन्दू-मुस्लिम तनातनी बढ़ी, आपस में मुकद्मेबाजी हुई और दोनों पक्षों के कुछ लोग गिरफ्तार भी हुए। बाद में मुस्लिम-बहुल इलाके में हिन्दुओं की संख्या थोड़ी—और आर्य-समाजियों की संख्या और भी थोड़ी—होने के कारण उन्हें अपनी अधिक सक्रियता पर अंकुश लगाना पड़ा। आर्यसमाजियों ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी, पर कार्य में गति मन्द हो गई।

अगले दिन राजौरी पहुँचे। नदी-किनारे बहुत सुन्दर स्थान है। कभी यह राजपुरी के नाम से हिन्दू रियासत थी। अब भी कश्मीर रियासत के 'धान के कटोरे' के नाम से विख्यात है। वहाँ राजमाह बहुत बढ़िया होता था। शहर हिन्दू-बहुल था; अधिकांश व्यापारी लोग थे। आर्यसमाज का काम भी बहुत अच्छा था, इस-लिए प्रतिवर्ष अपना वार्षिकोत्सव भी धूमधाम से मनाते थे।

सौभाग्य से कुँवर सुखलाल भी उत्सव पर पहुँच गए। सबकी बाछें खिल गईं। वे २५ वर्ष पहले कभी राजौरी आए थे; उसके बाद अब। मैंने गुलबर्गा जेल में ही उनके प्रथम दर्शन किये थे। पर इस वाणी के जादूगर का पहला व्याख्यान यहीं सुनने को मिला। सचमुच उनकी वाणी में जादू था—राष्ट्रीयता के विचारों से ओतप्रोत। श्रोता ऐसे झूमते जैसे सपेरे की बीन पर नाग झूमने लग जाते हैं। वे तो सचमुच आर्यसमाज की अनुपम धरोहर थे और उनके व्यक्तित्व और व्याख्यान-कला पर आर्यसमाज उचित ही गर्व करता था। मैंने लाहौर में आर्यसमाज अनार-कली के वार्षिकोत्सव पर कुँवर साहब का व्याख्यान सुनने के लिए स्त्रियों और पुरुषों की इतनी भीड़ देखी है कि मैं दंग रह गया हूँ। लाहौर तो जैसे उनके पीछे दीवाना था। राजौरी में भी उनके व्याख्यानों के बाद मेरा ही नम्बर था। उसका प्रमाण यह कि देश-विभाजन से पूर्व राजौरी-आर्यसमाज का शायद ही कोई उत्सव हो जिसमें सभा से आग्रह करके मेरी माँग न की जाती। कई युवक तो मेरे बहुत ही भक्त बन गए।

राजौरी से कोटली और पुंछ भी गए। ये दोनों भी हिन्दू रियासतें थी और हिन्दुओं की खूब अच्छी बस्तियाँ थीं। कुँवर साहब भी कोटली के उत्सव पर हमारे

साथ गए। उत्सव पर खूब अच्छी रौनक रही। वहाँ लाहौर से स्त्री उपदेशिका द्रौपदीदेवी भी पहुँच गईं। पंजाबी उन्हें 'द्रौपदादेवी' कहा करते। वे उस समय स्त्री-उपदेशिकाओं में श्रेष्ठ थीं और खूब अच्छा व्याख्यान देती थीं। कोटली में ही प्रादेशिक सभा के उपदेशक श्री स्वामी धर्मानन्दजी से भेंट हुई।

कोटली से पुंछ पहुँचे। वहाँ ब्रह्मचारी जगन्नाथ पथिक से भेंट हुई। वे कुछ दिन से आर्यसमाज में ठहरे हुए थे। अच्छे योगाभ्यासी थे, बाल-ब्रह्मचारी थे, गुरुकुल काँगड़ी में १३वीं कक्षा तक पढ़े थे, कलाकार भी अच्छे थे। उत्सव पर वेदमन्त्रों के मोटो आदि सब उन्होंने अपने हाथ से तैयार किये थे। पर वे एकान्तप्रिय अधिक थे और बहुत मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने सन्ध्या पर योग की दृष्टि से बाद में बहुत अच्छी पुस्तक लिखी थी। कोटली और पुंछ दोनों के उत्सव भी बहुत अच्छे रहे। कितने दुःख की बात है कि कोटली और पुंछ जैसे हिन्दू-बहुल प्रदेश भी अब पाकिस्तान के पास हैं।

पुंछ से अलियाबाद और हाजीपीर दर्रे को पार करते हुए पहले बारामूला और फिर श्रीनगर पहुँचे। इसी हाजीपीर दर्रे को कबायलियों और पाक-सेना से मुक्त कराने के लिए भारतीय सैनिकों ने अद्भुत वीरता का परिचय दिया था, क्योंकि हाजीपीर ही वह स्थान है जहाँ से कश्मीर में सबसे अधिक पाकिस्तानी घुस-पैठ होती थी। परन्तु वह तो बाद की बात है। एक सप्ताह बारामूला में और फिर एक सप्ताह श्रीनगर में। गुरुकुल की छात्रावस्था में भी मैं अपने अन्य सहपाठियों के साथ श्रीनगर जा चुका था। इसलिए स्थान सर्वथा अपरिचित नहीं था। परन्तु अब उपदेशक के रूप में पहली बार आया था। हजूरीबाग का आर्यसमाज मन्दिर भव्य था। समाज-मन्दिर के सामने ही विशाल दर्शनीय चौगान था जिसमें सायंकाल घूमने वालों की खूब अच्छी रौनक रहती थी। शायद शहर के बीच में इससे बड़ा और हरा-भरा मैदान दूसरा नहीं होगा। अब आसपास और बड़ी इमारतें बन जाने से इस चौगान की शोभा और विस्तार भी कम हो गया है। इसी चौगान के किनारे शेख अब्दुल्ला के ज़माने में 'शेरे-कश्मीर अस्पताल' का निर्माण हुआ था, जो शायद शहर का सबसे बड़ा अस्पताल है।

श्रीनगर में मैं रोज शाम को नियमपूर्वक हरिपर्वत तक घूमने जाता जिसके शिखर पर शंकराचार्य का प्रसिद्ध मन्दिर बना है। तेज चाल से चलते हुए घण्टे-भर के अन्दर मैं चक्कर पूरा कर लेता। यहीं पहली बार श्री पं० चन्द्रभानु जी सिद्धान्त-भूषण से, जो आर्यसमाज नयाबांस, दिल्ली के यशस्वी पुरोहित और सिद्धान्तपरक प्रमाण-पुरस्सर व्याख्यान देने वाले विद्वान् उपदेशक थे, और स्वामी विज्ञानानन्द जी से भी भेंट हुई जिन्होंने बाद में गाजियाबाद के संन्यास आश्रम को सँभाला। बड़े तपस्वी संन्यासी थे।

यहीं श्री अवनिमोहन विद्यालंकार से भेंट हुई, जो आर्यसमाज मन्दिर के पास

ही रहते थे। उनकी पत्नी श्रीमती सरला आर्यसमाज की कन्या-पाठशाला में पढ़ाती थीं। दोनों मेरे परिचित थे। श्री अवनिमोहन हरियाणा के एक बड़े जमींदार के सुपुत्र थे, काफी जमीन थी, पर वे गुरुकुल से स्नातक बनने के पश्चात् सब सम्पत्ति को ठुकराकर राष्ट्रसेवा के काम में लग गए। महात्मा गांधी ने उन्हें विशेष रूप से ऊन की कताई को गृहोद्योग के रूप में पनपाने के लिए कश्मीर भेजा था। वे गांधी-आश्रम की मार्फत अपने अन्य साथियों के साथ इस काम में दत्तचित्त थे और उन्होंने ऊन की कताई के लिए बांडीपुर और पामपुर आदि अनेक केन्द्र खोले थे। उनकी पत्नी सरला गुरुकुल काँगड़ी में अंग्रेजी के प्राध्यापक गुरुवर श्री प्रो० लालचन्द जी की सुपुत्री थीं। उनके परिवार के साथ शिकारे से कई दर्शनीय स्थानों का अवलोकन किया। श्री अवनिमोहन जी का ८० वर्ष की आयु में इसी अगस्त १९९१ में देह-विलय हुआ है। एक त्यागी-तपस्वी राष्ट्रकर्मी और चल बसा।

कोहमरी

श्रीनगर के बाद कोहमरी के वार्षिकोत्सव का और सप्ताह-भर तक वेदकथा का प्रोग्राम सभा की ओर से मिला। उत्सव पर श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड, श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार (बाद में स्वामी समर्पणानन्द जी), श्री वीरेन्द्र सत्यवादी और श्री चिरंजीलाल प्रेम भी पहुँच गए। खूब रौनक रही। इन दिग्गज विद्वानों के भाषण सुनने के लिए उत्सव के दिनों में रावलपिण्डी से भी आर्यबन्धु पहुँचे। कृपाराम ब्रदर्स के नाम से भारत के अनेक बड़े शहरों में जिनकी विलायती गरम कपड़े की बड़ी-बड़ी दुकानें थीं और देश के प्रसिद्ध व्यापारियों में जिनकी गिनती होती थी, वे श्री कृपाराम जी कोहमरी और रावलपिण्डी दोनों आर्यसमाजों के प्रधान थे। दोनों जगह उनकी दुकानें थीं। वे गर्मियों में कोहमरी आ जाते थे। उस प्रदेश का सबसे बड़ा हिल स्टेशन वही था। जलसा खूब धूमधाम से सम्पन्न हुआ। उत्सव के बाद सब अपने-अपने अगले प्रोग्रामों को पूरा करने के लिए लाहौर वापस जाने के लिए समाज-मन्दिर से विदा होने लगे। श्री पं० धर्मदेव जी और पं० बुद्धदेव जी उत्सव समाप्त होते ही रावलपिण्डी रवाना हो गए थे। तभी एक घटना घटी।

उपदेशक कहने लगे—'समाज के प्रधान श्री लाला कृपाराम जी से नमस्ते कर आवें।' 'कहाँ?' 'उनकी दुकान पर—वे वहीं मिलेंगे।' मैंने कहा—'मैं नहीं जाऊँगा।' 'क्यों?' 'इसलिए कि इस समय वे समाज-मन्दिर में होते, तो मैं अवश्य उन्हें सादर और सविनय अपना नमस्कार निवेदन करता, पर इस काम के लिए उनकी दुकान पर जाना मैं उपदेशक की गरिमा के विरुद्ध समझता हूँ।' तब एक बुजुर्ग उपदेशक ने समझाया—'तुम समझते नहीं हो। दुकान जाने का उद्देश्य केवल नमस्ते करना नहीं है, बल्कि विदा के उपलक्ष्य में वे हरेक उपदेशक को उसकी और

उसके परिवार की आवश्यकता के अनुरूप गरम ऊनी विलायती कपड़ा भेंटस्वरूप प्रदान करते हैं।' मैंने कहा—'यदि यह उद्देश्य है, तब तो मैं वहाँ जाने की बात सोच भी नहीं सकता। उसका कारण यह है कि मैं विलायती कपड़ा पहनता नहीं। अपने गरम कोट और गरम बण्डी के लिए मैं कश्मीर के गांधी आश्रम से ऊनी पट्टू खरीद लाया हूँ। फिर उपदेशक की गरिमा वाली बात तो है ही।'

सबने कहा - 'तो तुम हमारा सामान लेकर बस-अड्डे चलो, हम प्रधानजी के पास होकर थोड़ी देर में आते हैं।'

सब चले गए। मैं उनका सामान लेकर बस-अड्डे पहुँचा और उनकी प्रतीक्षा करने लगा। कुछ देर बाद सब आए—बड़े प्रसन्न। मुझे कहने लगे—'तुम तो गुरुकुल में क्या पढ़े कि निरे बुद्धू-के-बुद्धू ही रहे!' और यह कहकर वे अपने साथ लाया विलायती कपड़ा दिखाने लगे—'यह देखो—एक सूट का कपड़ा मेरे लिए, एक पत्नी के लिए, और यह बच्चों के लिए। इन सबका मूल्य पाँच सौ रुपये से कम थोड़े ही होगा। (उस ज़माने के पाँच-सौ रुपये) सब मुफ्त। तुम भी चलते, तो तुमको भी मिलता। पर तुम तो बुद्धू हो!'

मैंने कहा—'मैं बुद्धू ही भला।' आर्यसमाज का जो चपरासी सामान के साथ हमें छोड़ने के लिए आया था, उसने लौटकर आर्यसमाज के मन्त्री महोदय को यह घटना सुनाई। कोहमरी आर्यसमाज के मन्त्री गढ़वाल के निवासी थे और एक निष्ठावान् आर्यसमाजी थे। यह घटना सुनकर वे भाव-विभोर हो गए और पंजाब-सभा के मन्त्री तथा वेद-प्रचाराधिष्ठाता को मेरे बारे में एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें उन्होंने मेरे व्याख्यानों की और सौजन्यपूर्ण सरल स्वभाव की प्रशंसा करते हुए अन्त में इस घटना का उल्लेख करके लिखा कि ऐसा स्वाभिमानी और निर्लोभी उपदेशक मैंने आज तक नहीं देखा। सभा के मन्त्री और वेद-प्रचाराधिष्ठाता दोनों गुरुकुल काँगड़ी के पुराने स्नातक थे। मेरी इस प्रशंसा से उन्हें प्रसन्न होना स्वाभाविक था—गुरुकुल की शिक्षा पर गर्व भी। जहाँ-जहाँ मैं गया था, वहाँ से मेरी अच्छी रिपोर्ट ही आई होगी।

दो-ढाई मास बाद जब मैं लाहौर पहुँचा तो मैंने देखा कि मेरे जैसे सबसे जूनियर, आयु में सबसे छोटे, नये उपदेशक के प्रति सभा के कर्मचारियों का रुख बदला हुआ था और मुझे अनायास ही विशिष्टता का दर्जा मिलने लगा था। उसके बाद मुझे इस योग्य मान लिया गया कि इसे उन समाजों में भी निश्शंक होकर भेजा जा सकता है जहाँ प्रायः पुराने अनुभवी और प्रतिष्ठित उपदेशक ही जाया करते हैं।

क्वेटा (बिलोचिस्तान)

उन्हीं दिनों क्वेटा का उत्सव निकट आ रहा था। वहाँ किसी एक कुशल

भजनोपदेशक और प्रतिष्ठित उपदेशक को महीने-भर के प्रोग्राम पर जाना पड़ता था। हफ्ता-दस दिन या दो-तीन दिन के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर जाना एक बात है, परन्तु किसी एक ही स्थान पर रहकर महीने-भर तक प्रवचन और व्याख्यान देना और श्रोताओं की उत्सुकता बनाए रखना सचमुच ही कड़ी परीक्षा है। तीन-चार व्याख्यान रटकर उपदेशक बन जाने वालों की ऐसे समय पोल खुल जाती है। अपनी गाँठ खाली हो, तो कब तक काम चलेगा !

जिस स्थान पर बड़े-बड़े महारथी अपना कौशल दिखा चुके हों, वहाँ मेरे जैसे नए खिलाड़ी को मैदान में उतारना जहाँ सभा के मूल्यांकन की परीक्षा थी, वहाँ मेरी भी। मैं गया। मेरे साथ सभा के मँजे हुए वरिष्ठ भजनोपदेशक कुँवर भद्रपाल थे। वे अपने स्वच्छ और सुरुचि-सम्पन्न खादी-परिधान के लिए विख्यात थे। रोज अपने कपड़े स्वयं धोया करते थे। उनके साथ मेरी भी यही आदत पड़ गई। यात्रा में उनके साथ अच्छी दोस्ती हो गई।

क्वेटा में प्रथम तीन सप्ताहों तक कथा और चौथे सप्ताह यजुर्वेद-पारायण यज्ञ की परम्परा थी। मैंने प्रथम सप्ताह ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर किसी कॉलेज के प्राध्यापक की तरह विद्वत्तापूर्ण भाषण दिये, द्वितीय सप्ताह जीवात्मा-सम्बन्धी पहलुओं पर और तीसरे सप्ताह मानव-जीवन-सम्बन्धी पहलुओं पर। एक-एक सप्ताह तक एक ही विषय के इस प्रकार प्रतिपादन पर आर्यजन स्तब्ध भी हुए, मुग्ध भी। मैंने गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्राच्य दर्शनों का और पाश्चात्य फिलॉसफी का अच्छा अध्ययन किया था। वह अध्ययन यहाँ काम आया। कहना नहीं होगा कि किसी नए उपदेशक से लोग इस प्रकार के गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों की आशा नहीं करते थे। मुझे प्रसन्नता है कि मैंने गुरुकुलीय शिक्षा और गुरुकुलीय स्नातकों की योग्यता की पताका को झुकने नहीं दिया। यज्ञ भी मेरी अध्यक्षता में खूब शालीन ढंग से सम्पन्न हुआ।

यज्ञ के पश्चात् तीन दिन वार्षिकोत्सव का अवसर आया। क्वेटा के आर्यबन्धु अपने उत्सव पर महात्मा नारायण स्वामी जी और वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी को अवश्य बुलाया करते थे। दोनों आर्यसमाज के मूर्धन्य संन्यासी थे। तब तक पुण्यश्लोक श्री स्वामी सर्वदानन्द श्री पुण्यलोक प्रयाण कर चुके थे। उनके पट्ट-शिष्य थे—राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री। इसलिए अब स्वामी सर्वदानन्द जी के स्थान पर वे आए। नारायण स्वामी जी तो आए ही। मैं हैदराबाद-सत्याग्रह के समय गुलबर्ग जेल में उनकी ही बैरक में उनकी चरण-शरण में रह चुका था। मुझे जब इस तरह उपदेशक के रूप में कार्य करते देखा तो बड़े प्रसन्न हुए, मेरी पीठ ठोंकी और आशीर्वाद देते हुए कहा कि यह तुमने बहुत अच्छा किया कि उपदेशक के रूप में आर्यसमाज की सेवा करने लगे, अन्यथा गुरुकुल के आजकल के स्नातक तो उपदेशक बनने से बिदकते हैं और इस कार्य में हीनता-बोध करते हैं। राजगुरु जी के

भी मैं गुलबर्गा जेल में ही सत्याग्रह के पाँचवें सर्वाधिकारी के रूप में दर्शन कर चुका था। वे अपने पाँच सौ सत्याग्रहियों का जत्था लेकर गए थे, पर उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क का अवसर नहीं आया था।

क्वेटा में इन दोनों महानुभावों ने आर्यजनों से मेरी प्रशंसा सुनी और वार्षिक-उत्सव पर मेरे व्याख्यान भी सुने और उक्त दोनों का स्नेह मेरे प्रति और बढ़ गया। वह स्नेह मेरी अमूल्य थाती बन गया।

क्वेटा-आर्यसमाज के प्रधान थे परमानन्द जी ठेकेदार। बहुत बड़े रईस थे। उनके काम का भी बहुत विस्तार था। प्रायः उन्हें अपने कार्य के विस्तार के कारण हवाई जहाज से ही सफर करना पड़ता। विमान-यात्रा उन दिनों इतनी आम नहीं थी। पर उनका हमेशा यह प्रयत्न रहता कि कहीं भी हों, रविवार के दिन क्वेटा जरूर पहुँच जाएँ जिससे आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में उपस्थित रह सकें। ऐसे निष्ठावान् व्यक्ति थे कि यदि सत्संग के समय कोई जरूरी तार आ भी जाता तो उसे बिना पढ़े उलटा करके रख देते और शान्ति-पाठ के बाद ही पढ़ते। कैसे धुन के धनी थे वे लोग! तब मैंने जाना कि केवल अपने धन-वैभव के कारण वे समाज के प्रधान नहीं चुने गए हैं, प्रत्युत आर्यसमाज के प्रति निष्ठा भी उसमें उतना ही बड़ा हेतु है।

उत्सव की समाप्ति पर अगले दिन उन्होंने महात्मा नारायण स्वामी जी और राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री जी को अपने निवास-स्थान पर भोजन के लिए आमन्त्रित किया। मुझे भी विशेष आग्रह करके बुलाया। भोजन के पश्चात् उन्होंने अपनी ओर से महात्मा जी को और राजगुरुजी को १५०-१५० रु० दक्षिणा दी। साथ ही मुझे भी १५० रु० का लिफाफा पकड़ाया। मैंने निवेदन किया कि मैं तो सभा से वेतन पाता हूँ, मुझे यह राशि लेने का अधिकार नहीं है। उन्होंने कहा—'यह आर्यसमाज की ओर से नहीं है। यह तो मैं अपने निजी तौर पर आपको दे रहा हूँ। यह तो मेरे स्नेह का प्रतीक है।' फिर मुझे एक ओर ले-जाकर कहने लगे—'आपके घर पर मकान आदि के बारे में किसी प्रकार की सहायता की जरूरत हो तो मुझे बताइए, मैं सहर्ष सहायता करूँगा।' मैं हैरान! आर्यसमाज में ऐसे सदाशयी लोग भी हैं, यह कल्पना मुझे नहीं थी। मैं उनकी इस उदारता को देखकर कृतकृत्य हो गया। मैंने हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया कि प्रभु की सब तरह से कृपा है, आप चिन्ता न करें।' फिर बोले—'कम-से-कम यह तो आपको लेना ही पड़ेगा' और यह कहकर वह लिफाफा मुझे पकड़ा दिया। मैं देखता रह गया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस युग में सभा के किसी उपदेशक को किसी भी समाज से किसी भी प्रकार की दक्षिणा देने का रिवाज नहीं था। वेतन और मार्ग-व्यय सभा देती ही थी। इसलिए उपदेशकों का समाजों से यही आग्रह रहता था कि आप जितनी भी राशि देना चाहें, वह वेद-प्रचारनिधि में ही दीजिए

और उसकी रसीद ले लीजिए। तभी तो पंजाब-सभा अधिक-से-अधिक उपदेशकों और भजनोपदेशकों को वेद-प्रचार के निमित्त रख सकती थी और भारत के अन्य प्रान्तों से भी वेद-प्रचार में रुचि रखने वाले विद्वज्जन सभा में उपदेशक बनने के लिए आते रहते थे एवं प्रान्त-भर में वैदिक धर्म की दुन्दुभि बजती रहती थी। अन्य प्रान्तीय सभाओं में अपने प्रान्त से इतर लोगों को रखने की प्रवृत्ति नहीं थी।

मुझे दी गई १५० रु० की यह दक्षिणा वाली बात अपनी विशिष्टता के कारण छिपने वाली तो थी नहीं। मैं तो लाहौर जब पहुँचता, तब पहुँचता, पर यह खबर वहाँ मुझसे पहले पहुँच गई। जब मैं अर्से बाद लाहौर पहुँचा तो सभा-कार्यालय में इसी की चर्चा थी। मुझे कहा गया कि तुम्हें वह दक्षिणा लेने का अधिकार नहीं है। मैंने कहा—मैं भी यही समझता हूँ। और यह कहकर मैंने वह राशि सभा में जमा करवा दी। पर मैं ठहरा गुरुकुल का बुद्धू। उस राशि की रसीद नहीं ली। शायद मुझे भान भी नहीं था कि उसकी रसीद मुझे लेनी चाहिए। परिणाम भुगतना पड़ा, जब भी मैं लाहौर जाता, क्लर्क मुझे कहता—१५० रुपये तुम्हारी तरफ बकाया हैं। मैं पूछता—कौन-से डेढ़ सौ रुपये ? तो कहा जाता—हम क्या जानें, तुम्हारे हिसाब में दर्ज हैं। बात पुरानी होने पर मेरे दिमाग से उतर भी गई थी। मैं हैरान था कि ये कौन-से डेढ़ सौ रु० हैं, कब सभा से मैंने लिये हैं—मुझे तो याद नहीं आता। अन्त में मुझे किसी साथी ने ही सुझाया कि कहीं ये क्वेटा वाले डेढ़ सौ रु० न हों ! तब रसीद न लेने की अपनी गलती मुझे समझ में आई, क्योंकि अब मेरे पास रुपये जमा करवाने का कोई प्रमाण नहीं था, इसलिए दुनियावी न्याय के हिसाब से क्लर्क ठीक था, मैं गलत। जब मेरे पास तीन महीने बाद डेढ़ सौ रुपये जमा हो गए—पहले ही कह चुका हूँ कि ५० रु० मासिक वेतन पर मेरी नियुक्ति हुई थी—तब मैंने डेढ़ सौ रुपये सभा को चुकाकर अपना पीछा छुड़ाया। इस बार मैं रसीद लेना नहीं भूला। एक शिक्षा मिली।

मैं जिस समाज में भी एक बार जाता, वहाँ के अधिकारी अगले वर्षों में भी सभा से निरन्तर मेरी माँग करते। पर अब सभा वाले भी अधिक चतुर हो गए थे, वे अपनी सुविधानुसार ही मुझे भेजते। अथवा जो समाज वेदप्रचार की राशि अधिक देना स्वीकार करते, वहाँ भेजते। अब मैं दुधारू गाय हो चला था।

दुबारा क्वेटा

अगले वर्ष भी क्वेटा गया। वही महीने-भर का कार्यक्रम। समय निकालकर मैं फोर्ट सण्डेमन, ज्यारत और चमन भी देख आया। 'ज्यारत' और अधिक ठण्डा स्थान था, जैसे शिमला के पास नारकण्डा। पाकिस्तान के जनक मुहम्मद अली जिन्ना को बीमार होने पर वहीं रखा गया था। 'चमन' देश का अन्तिम सीमावर्ती रेल स्टेशन था। वहाँ के रेल-स्टेशन से सीजन में प्रतिदिन ९० हजार पिट्ठू अंगूर

के लदते थे। यह 'अंगूर स्पेशल' ही एकमात्र ट्रेन थी। कोई इक्के-दुक्के मुसाफिर भी उसी में सफर करते। वैसे और सवारियाँ थीं भी नहीं। स्टेशन मास्टर प्रायः हिन्दू ही होते थे। स्टेशन मास्टर को एक पिट्ठू पर दो पैसे मिलते थे। हर तीसरे वर्ष उसे बदल दिया जाता था। इतने समय में ही वह अच्छी राशि बना लेता था। इसी प्रलोभन से लोग वहाँ जाने को तैयार होते थे, अन्यथा उस सीमावर्ती कबायली सुनसान रेगिस्तानी स्थान में कौन जाने को तैयार होता! स्टेशन से कुछ ही दूर अफगानिस्तान की सीमा लगती थी। सीमा पर गढ़वाली सैनिक तैनात रहते थे। अंग्रेज शासकों की दृष्टि में भी मुस्लिम और पठान सैनिकों की उतनी विश्वसनीयता नहीं थी। कन्धार वहाँ से ७५ मील दूर था। मुझे आश्चर्य हुआ कि 'चमन के अंगूर' के नाम से जो अंगूर सारे हिन्दुस्तान में ठेठ मद्रास तक पहुँचता है और शौक से बिकता है, उस अंगूर का एक दाना भी चमन में नहीं होता, सारा कन्धार से आता था। चमन का अर्थ भले ही बाग-बगीचा हो, पर चमन स्थान वस्तुतः पहाड़ी रेगिस्तान है, आबादी भी बहुत नगण्य। कबायलियों द्वारा लूटपाट का खतरा सदा विद्यमान, पर गढ़वाली सैनिकों के आतंक के कारण कबायली भी डरते थे। अंग्रेजों ने चमन तक रेल अफगानिस्तान से अंगूरों के आयात-व्यापार के लिए ही बनाई थी। व्यापारी कौम थी न! स्टेशन मास्टर जो प्रत्येक पिट्ठू पर दो पैसे वसूल करता था, वह सरकारी आमदनी ही तो थी! जल में रहने वाली मछली स्वयं कितना पानी पी लेती है, इसका हिसाब कौन रखे? सरकारी अधिकारी भी इस बात को जानते थे, पर वे जान-बूझकर अनदेखी करते, अन्यथा कोई स्टेशन मास्टर वहाँ जाने को तैयार ही क्यों होता?

क्वेटा में सब प्रोग्राम पूर्व-वर्ष की तरह ही सकुशल चला। इस वर्ष भी महात्मा नारायण स्वामीजी और राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्रीजी आए। समाज के प्रधान श्री परमानन्द जी ठेकेदार ने इस बार भी महात्मा नारायण स्वामीजी और राजगुरु जी को उसी तरह अपनी ओर से डेढ़-डेढ़ सौ रु० का लिफाफा पकड़ाया, पर मुझे छोड़ दिया। वे इस बात से खिन्न थे कि उनकी ओर से श्रद्धापूर्वक मुझे निजी रूप में दी गई राशि सभा में मैंने क्यों जमा करवा दी। उन्हें इसमें अपने स्नेह की अवहेलना लगी और उन्होंने स्पष्ट रूप से यह बात कह भी दी।

बहावलपुर में

गत वर्ष क्वेटा के बाद सक्खर आदि स्थानों पर प्रचार करते हुए मुझे १० दिन के लिए बहावलपुर जाने का प्रोग्राम मिला। मुस्लिम रियासत थी। रियासत में कई स्थानों पर आर्यसमाज का भी अच्छा कार्य था। मुस्लिम-बहुल इलाकों में आर्यसमाज के प्रति जनता के लगाव का एक कारण यह भी था कि इस्लाम के मुकाबले बौद्धिक स्तर पर हिन्दू जनता को चैतन्य प्रदान करने का काम केवल आर्यसमाज

ही कर सकता था। इसी कारण रियासती दमन के बावजूद आर्यसमाजी बने हिन्दू सिर ऊँचा करके चल सकते थे।

बहावलपुर के रेलवे स्टेशन का नाम था—'बगदादुल जदीद'—अर्थात् बगदाद से भी बढ़कर। सम्भव है, बहावलपुर नवाब के पूर्वज इराक से आए हों, इसलिए इराक की राजधानी की स्मृति में उन्होंने अपने स्टेशन का यह नाम रखा हो। उत्तरप्रदेश में बरेली के पास रामपुर भी मुस्लिम रियासत थी। वहाँ के नवाब भी इराक से आए थे, इसलिए वे अपने शव को इराक ले-जाकर दफनाने की वसीयत करके जाते थे। रियासत में पश्चिम दिशा की ओर पाँव करके सोना मना था, क्योंकि उस दिशा में मक्का-मदीना पड़ता है, इसलिए उस ओर पाँव करके सोने से उन तीर्थों का अपमान माना जाता। किसी सार्वजनिक स्थान पर किसी को पश्चिम दिशा की ओर पाँव करके सोते कोई सिपाही देख लेता, तो तुरन्त टोकता; आना-कानी करने पर उसका डण्डा भी तैयार रहता।

एक दिन एक गली में मैंने ८-१० साल की छोटी-छोटी लड़कियों को घूँघट निकाले जाते हुए देखा। मैं हैरान कि इतनी छोटी लड़कियों ने घूँघट क्यों निकाल रखा है? मैं समझा कि शायद कन्याओं का कोई धार्मिक त्यौहार होगा, किसी मन्दिर में जा रही होंगी, और उस त्यौहार पर घूँघट की परम्परा होगी। सब हिन्दू लड़कियाँ थीं। मुझे बताया गया कि ये कुँवारी कन्याएँ नहीं, विवाहिता हैं, इसलिए बिना घूँघट घर से बाहर नहीं निकल सकतीं। यह थी इस्लामी संस्कृति की देन जिसे हिन्दुओं ने अपनी बुद्धि-हीनता और पौरुष-हीनता के कारण अपना लिया था। मुझे यह भी बताया गया कि यहाँ पर्दे का इतना अधिक रिवाज है कि जब कभी नवाब की बेगमें कहीं बाहर जाती हैं तो सड़क के दोनों ओर सिपाहियों की पंक्ति सारे रास्ते खड़ी रहती है, पर वह मुँह फेरकर खड़ी होती है और यह देखती रहती है कि किसी घर की कोई खिड़की और दरवाजा सड़क की ओर खुला न हो—कि कहीं बेगमों पर नजर न पड़ जाए। हालाँकि बेगमें बुर्कों में और परदे में होंगी, पर नजर का इतना डर? सिपाही भी नहीं देख सकते, क्योंकि वे तो पहले ही मुँह दूसरी ओर करके खड़े होते।

जब बहावलपुर पहुँचा, तो किसी ने मेरी आवभगत नहीं की; चपरासी ने भी नहीं। सोचा होगा—कोई ऐरा-गैरा भजनीक होगा। मेरी आकृति में और शरीर के ढाँचे में भी कोई रोबदाब या आकर्षण की बात थी नहीं। हो सकता है, सभा की ओर से इनको मेरे प्रोग्राम की कोई सूचना न मिली हो। न सही सूचना, पर मेरा व्यक्तित्व चपरासी को सामान्य शिष्टाचार के योग्य भी नहीं लगा। एक धूल-भरी, टूटी-सी चारपाई पड़ी थी। मैंने पहले उसकी धूल झाड़ी, फिर उस पर अपना बिस्तर रखा। उसके बाद आसपास की जगह को साफ करने में लग गया। धूल साफ हो गई, तो समाज में लगे हैण्ड-पम्प से पानी लाकर ईंटों वाले फर्श पर छिड़क

दिया। उससे बाकी बची धूल बैठ गई। मैं हाथ-पाँव धोकर चारपाई पर बैठा। फिर चपरासी से कहा कि मन्त्रीजी से कह देना कि सभा के कोई उपदेशक आये हैं। पर मन्त्रीजी नहीं आए। दुकान छोड़कर कैसे आते? किसी ने भोजन के लिए भी नहीं पूछा। मैं बाजार में जाकर कोई ढाबा तलाश करके भोजन कर आया। आम तौर से पंजाब में किसी उपदेशक को भोजन करने के लिए बाजार जाना पड़े, इसे अच्छा नहीं माना जाना जाता था। लोग उत्सवों पर अपने घरों में या समाजों में ही व्यवस्था करते। अगले दिन सवेरे मन्त्रीजी आए। मैंने उनसे भोजन की शिकायत नहीं की; प्रचार की व्यवस्था के लिए आग्रह किया। उन्होंने कहा—'आज तो सम्भव नहीं है, मुझे फुरसत नहीं है। पर कल से कोशिश करेंगे।'

दोपहर को चपरासी भोजन लाया—ढाबे से ही, कच्ची रोटी और दाल। इसमें चपरासी का दोष नहीं था। सारी रियासत में, मुलतान और डेरा गाजी खाँ के इलाके में भी, रोटी तवे पर ही सेंकने का रिवाज है; तवे से उतारकर अंगारों पर नहीं। उत्तर भारतीयों की नजर में वह रोटी कच्ची होती है। खासतौर से उत्तरप्रदेश के शहरी लोग तो फूले हुए, हल्के-फुल्के, बिल्लौरी फुल्के खाने के शौकीन होते हैं। पर वहाँ के लोग वैसी ही कच्ची रोटी खाने के आदी हैं।

तीसरे दिन से प्रचार की व्यवस्था हो गई। बहुत थोड़ी-सी उपस्थिति। पर मैंने निराश होने के बजाय उत्साहपूर्वक जोश में भरकर ही व्याख्यान दिया। मुझे पता लगा कि उन्हीं दिनों पौराणिक पं० मध्वाचार्य शास्त्रार्थ-महारथी वहाँ आये हुए थे और उनके व्याख्यानों में खूब भीड़ जुटती थी। कारण—वे कोई विद्वत्तापूर्ण भाषण देने के बजाय हँसी-मजाक, चुटकुले-बाजी, ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति अपशब्दों का प्रयोग ही अपने भाषणों में विशेष करते थे। इसलिए अशिक्षित या अल्प-शिक्षित लोगों की भीड़ उनके व्याख्यानों में स्वाभाविक थी। रोज़ कुछ आर्यसमाजी मुझसे आकर कहते कि आज उसने ऋषि दयानन्द के बारे में यह कहा, आज आर्यसमाज के बारे में यह कहा। मैं कहता—किसी अपशब्द या व्यक्तिगत आलोचना का जवाब मेरे पास नहीं है। उन्होंने हमारे सिद्धान्तों के विरुद्ध कुछ कहा हो तो बताइए, उसका उत्तर मैं अवश्य दूँगा। लोग कहते—सिद्धान्त की बात तो वे करते ही नहीं, बस हँसी-मजाक और चुटकुलेबाजी ही करते रहते हैं। इधर मैंने किसी भी दिन अपने व्याख्यान का स्तर नहीं गिरने दिया। किसी के लिए कभी किसी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। मैं पूरे उत्साह के साथ आध्यात्मिक ढंग के प्रवचन देता रहा। कुछ लोग कहते—नौसिखिया है, यह शास्त्रार्थों के लटके-झटके और विरोधियों का मज़ाक उड़ाने वाली लफ्फाजी क्या जाने! पर सुशिक्षित लोगों पर इसका बहुत अच्छा असर पड़ा। वे मेरी विद्वत्ता, वक्तृत्वकला और सुसंस्कृत भाषा से प्रभावित हुए। धीरे-धीरे यह स्थिति हो गई कि सुशिक्षित लोगों की भीड़ मेरे व्याख्यानों में बढ़ती गई; मध्वाचार्य जी के

व्याख्यानों में केवल अशिक्षित लोग ही रह गए। इससे मध्वाचार्य जी और उत्तेजित हो गए और उन्होंने आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के प्रति गाली-गलौज और बढ़ा दिया। तब रियासत की नवाबी सरकार भी चेती। उसको लगा कि रियासत में कहीं आर्यसमाजियों और सनातनियों में दंगा न भड़क उठे। रियासत की शान्ति भंग करने के आरोप में उन्होंने शास्त्रार्थ-महारथी जी को रियासत से निष्कासित कर दिया। इससे मेरी ख्याति में चार चाँद लग गए। मध्वाचार्य को रियासत से निकलवाने का श्रेय अनायास मुझे मिल गया। फिर क्या था! मेरी प्रवचनमाला के अन्तिम दिनों में तो भीड़ इतनी बढ़ गई कि समाज का सारा आँगन भर जाता और मुझे छत पर बैठकर व्याख्यान देना पड़ता। उन दिनों लाउडस्पीकर का रिवाज उतना नहीं था, इसलिए भीड़ बढ़ने पर आवाज में दम ही काम आता था।

मैंने सप्ताह-भर तक प्रातःकाल यज्ञ का कार्यक्रम भी चलाया। जिनके पास यज्ञोपवीत नहीं थे, मैं उनको यज्ञोपवीत प्रदान करता और उनसे बीड़ी-सीगरेट या मद्य-मांसादि का व्यसन छोड़ने की प्रतिज्ञा करवाता। यज्ञोपवीत ग्रहण करने के के बदले लोग पाँच या दस रु० जो भी दक्षिणास्वरूप मुझे देते, मैं यज्ञ की समाप्ति पर वह राशि आर्यसमाज को अपनी ओर से भेंट कर देता। इससे आर्यजनों में भी परस्पर सहयोग और सद्भावना का नया वातावरण बना, जिसके फलस्वरूप वार्षिकोत्सव बड़ी सफलता से और धूमधाम से सम्पन्न हुआ। इस उत्सव पर पं० लोकनाथ जी तर्क-वाचस्पति, श्री राजगुरु जी धुरेन्द्र शास्त्री तथा रियासत के अन्य स्थानों के कई प्रमुख आर्यनेता पधारे। सीतापुर के श्री उत्तमचन्द शरर, अलीपुर के प्रसिद्ध वकील श्री मनोहरलाल जी आदि से यहीं पहली बार भेंट हुई।

उत्सव के अन्तिम दिन आर्यसमाज के सब अधिकारी इकट्ठे होकर आए और मेरे चरण छूकर एक ओर बैठ गए। मैं उनकी ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखने लगा। वे बोले—'आपसे क्षमा-याचना करने आए हैं।' मैंने पूछा—'किस बात की?' कहने लगे—'हमने आपको समझा नहीं, आपकी निरन्तर उपेक्षा की, पर आपने किसी दिन किसी प्रकार की कोई शिकायत नहीं की। हमसे बहुत बड़ी भूल हुई है। उसी के लिए आपसे क्षमा माँगने आये हैं।' मैंने कहा—'मैंने उपदेशक के नाते अपने कर्तव्य-पालन में कोई त्रुटि की हो, तो मुझे बताइए। मेरे साथ तो मेरे कर्तव्य का ही सम्बन्ध है। आप उसी की त्रुटि मुझे बताएँगे तो मैं उसे सुधारने का प्रयत्न करूँगा।' इससे सब भाव-विभोर हो गए; बोले—'एक ओर राजगुरु जी जैसे व्यक्ति हैं जिनकी सेवा करने में हम सब-के-सब जुटे रहे। पर वे अन्तिम दिन तक असन्तुष्ट ही रहे और कुछ-न-कुछ कमी निकालते रहे। एक ओर आप हैं जिनको समझने में हमसे इतनी भूल हुई, पर आपने किसी दिन एक शब्द तक नहीं कहा। इसी का हमें अफसोस है। हम सचमुच हृदय से आपसे माफी माँगते हैं।' मैंने कहा—

'वे राजगुरु हैं। मैं एक मामूली उपदेशक हूँ। मेरी और उनकी क्या तुलना!' कहने लगे—'आपका 'मामूलीपना' तो हमने प्रत्यक्ष देख लिया।' यह कहकर पुनः मेरा चरण-स्पर्श करके प्रसन्न मुद्रा में लौट गए, जैसे उनके दिल का बोझ हल्का हो गया हो।

देश के विभाजन के बाद, बहावलपुर के उन लोगों में से भारत के विभिन्न स्थानों पर कोई मिल जाता, मेरे चरण-स्पर्श किये बिना नहीं मानता। कहता—'आप तो हमारे गुरु हैं। आपसे हमने यज्ञोपवीत लिया था और मांस न खाने की प्रतिज्ञा की थी। अभी तक हम अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं, यह आपके उपदेशों का ही असर है। आप चिरायु हों!'

क्या देखा, क्या सीखा

मैंने पंजाब में उपदेशक के रूप में अपने पहले वर्ष के कार्य-विवरण की एक हल्की-सी झाँकी प्रस्तुत की है। आज लगभग पचास बर्ष बीत जाने पर भी ये घटनाएँ मेरे स्मृति-पटल पर वैसे ही अंकित हैं जैसे हाल में ही घटित हुई हों। इनमें पाठकों को आत्मस्तुति की गन्ध आ सकती है, पर मैंने अपनी ओर से अतिशयोक्ति से बचने का प्रयत्न किया है।

उसके बाद तो मैं भी अन्य उपदेशकों के संसर्ग में आते-आते नमक की खान की डली बन गया होऊँगा। पर मेरे जीवन में इस पहले वर्ष का बहुत महत्त्व है। मैंने बहुत-कुछ सीखा। पंजाब उस समय इतना बड़ा प्रान्त था कि उसमें आधुनिक पूर्वी पंजाब, हिमाचल, हरियाणा, दिल्ली, सिन्ध, बलोचिस्तान और फ्रण्टियर के इलाके शामिल थे। पंजाब-सभा का कार्यक्षेत्र ये सभी इलाके थे। इसलिए उपदेशकों और भजनोपदेशकों की अच्छी संख्या होने पर भी अन्य सब प्रान्तों के उपदेशकों की अपेक्षा वे अधिक व्यस्त रहते थे। विशेष रूप से फरवरी से अप्रैल और सितम्बर से नवम्बर के अन्त तक के उत्सवों के सीजन के ६ महीनों में व्यस्तता इतनी अधिक हो जाती थी कि किसी को इस अवधि में घर जाने की छुट्टी नहीं मिल सकती थी। उपदेशक भी काम में मस्त रहते थे। लोकप्रिय उपदेशकों की व्यस्तता और भी बढ़ जाती। उन्हें प्रायः शुक्र, शनि और रवि के तीन दिनों में कई-कई उत्सव भुगताने पड़ते—आज कहीं, कल कहीं, परसों कहीं। बस सफर-ही-सफर और व्याख्यान। विश्वयुद्ध के कारण रेलों में सैनिकों का आवागवन बहुत बढ़ गया था, इसलिए भीड़ के कारण गाड़ी में जगह मिलनी मुश्किल हो जाती। अच्छे उपदेशकों को इण्टर क्लास और सेकण्ड क्लास तक में सफर करने की अनुमति थी। पर कभी-कभी सेकण्ड क्लास में भी लटककर जाना पड़ता था। सर्दियों में कन्धे पर कम्बल और हाथ में दो जोड़ी कपड़ों का छोटा-सा थैला—बस इससे अधिक सामान ले-जाने की गुंजायश ही नहीं। उर्दू के 'सफर' में और अंग्रेजी के 'Suffer' में अन्तर नहीं

रहता। आजकल के जमाने की तरह 'रिजर्वेशन' का चलन नहीं था। स्टेशन पर गाड़ी आते ही, यदि रात का सफर करना होता, तो सबसे पहले यह देखते कि कौन-से डिब्बे में ऊपर की सीट खाली है। सीट दिखते ही भागकर अपना कम्बल डालकर बिछा देते और उस पर पसर जाते। उस समय लोग इतना ध्यान अवश्य रखते कि जिसने सीट पर पहले आसन जमा लिया उसका अधिकार वैधानिक मान लिया जाता और उससे कोई उलझने का प्रयत्न न करता। ऐसे समय शरीर की फुर्ती और चुस्ती काम आती।

इतने विस्तृत पंजाब में मैं अगले वर्षों में कहाँ-कहाँ गया, इसकी गिनती नहीं। बल्कि यह पूछिए कि कहाँ-कहाँ नहीं गया? न बड़े शहर छोड़े, न छोटे शहर। दिल्ली से पेशावर, लाहौर से कराची, हरियाणा और पंजाब तथा हिमाचल के देहात, कुछ भी तो नहीं छोड़ा। कई स्थानों पर बैलगाड़ी से जाना पड़ता, कई स्थानों पर ऊँट से। ऊँट की पीठ पर दोनों ओर छोटे खटोले उल्टे करके बाँध दिये जाते, जिन्हें कचावा कहते, उनमें सामान रखते और अक्सर ऊँटवाले के साथ पैदल चलते। कहीं-कहीं तो पन्द्रह-बीस मील पैदल जाने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। जहाँ अन्य उपदेशक वेद-प्रचाराधिष्ठाता की खुशामद कर ऐसे स्थानों के प्रोग्रामों से बचते, वहाँ मैं सहर्ष स्वीकार करता। पंजाब के शहरी इलाकों के अलावा आन्तरिक ग्रामीण इलाकों को निकट से देखने की लालसा भी इसमें कारण थी। जिन गाँवों में हिन्दुओं की बहुत थोड़ी आबादी थी, वहाँ प्रायः एक ही छोटे कमरे में एक ओर गुरुग्रन्थ साहब रखे रहते, एक ओर राम और कृष्ण की मूर्तियाँ। कोई उपदेशक जाता तो आर्यसमाज के उपदेश भी वहीं होते। कोई सनातनी और सिख प्रचारक जाता तो उसका प्रचार भी वहीं होता। हाँ, प्रचारक एक-दूसरे की भावनाओं का अवश्य ध्यान रखते। आपसी वैमनस्य का प्रश्न ही नहीं था; वह जैसे शहरों के लिए छोड़ दिया गया था। ऐसे स्थानों को धर्मसाल कहते थे। उपदेशक प्रायः ठहरते भी धर्मसाल में ही, क्योंकि और कोई स्थान इस योग्य नहीं होता।

इस प्रकार एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारा पंजाब मैंने खूब देखा। लोगों के गुण-दोष भी देखे। पंजाबियों की कर्मठता और शूरवीरता भी देखी, सौन्दर्यप्रियता और स्वास्थ्यप्रियता भी देखी। जहाँ गरीबों की गरीबी देखी, वहाँ सम्पन्न लोगों की चमक-दमक भी देखी। देहातों में मैंने अक्सर हिन्दुओं को भी मुसलमानी ढंग से रहते देखा—वैसी ही दाढ़ी, वैसा ही तम्बा, दाढ़ी को वैसे ही मेंहदी से रँगना, सिर्फ सिर की पगड़ी में फर्क होता। फ्रंटियर में यह भी नहीं—हिन्दू-मुसलमान दोनों ही कुल्ले पर एक-जैसी ऊँची नुकीली पगड़ी बाँधते, पर पठान प्रायः दाढ़ी रखते, और हिन्दू प्रायः सफाचट्ट रहते।

मुलतान, मुजफ्फर गढ़, डेरा गाजी खाँ जिलों में भी आर्यसमाज का अच्छा प्रचार था और वे प्रायः अपने उत्सव भी मनाया करते थे। उस प्रदेश के कई छात्र

गुरुकुल काँगड़ी में पढ़ते थे, इसलिए गुरुकुल के स्नातकों के प्रति वहाँ विशेष रुझान था। डेरा गाजी खाँ, जामपुर तथा मिट्ठन कोट या दाजल जाने के लिए सिन्ध नदी पार करनी पड़ती थी। कभी-कभी सिन्ध का पाट बीस-बीस मील चौड़ा होता था। उसमें जहाज चलते थे और कभी-कभी इस जहाजी सफर में दो-दो दिन लग जाते थे। उन सुदूर प्रदेशों में आर्यसमाज के प्रति अनुराग सचमुच दर्शनीय था। मैं लायलपुर और सरगोधा जिलों के नहरी सिंचाई के कारण नवसमृद्ध बने प्रदेशों में गया। सिन्ध के सक्खर, कराची, हैदराबाद, जैकबाबाद और सिब्बी जैसे स्थानों पर गया। जैकबाबाद और प्राचीन शिवि-गणराज्य की राजधानी सिब्बी हिन्दुस्तान के सबसे गरम इलाके थे। वहाँ गर्मियों में पानी इतना गरम हो जाता कि कभी-कभी उसमें बर्फ डालकर नहाना पड़ता। मैं फ्रंटियर के कोहाट, बन्नू, नौशेरा, रावलपिण्डी और पेशावर भी अनेक बार गया। मैं नाभा, पटियाला, जींद, कपूरथला जैसी सिख रियासतों में भी गया; हिमाचल, सिन्ध और हरियाणा के अनेक आन्तरिक प्रदेशों में भी। इन सब स्थानों की, जिनका मैंने ऊपर संकेत किया है, अपनी अलग कल्चर थी, पहचान थी, और सारे पंजाब को बहुरंगी गुलदस्ते का रूप देती थी।

मैं स्वभाव से अन्तर्मुखी हूँ और हृदय तथा बुद्धि को उत्कृष्ट मानते हुए अन्नमय कोष से सम्बन्धित शरीर के प्रति उपेक्षाभाव रखता रहा हूँ। पर सर्दियों में तेल की मालिश कर स्नान करना, कपड़े साफ रखना और प्रायः रोज हजामत बनाना, एवं नियमित व्यायाम करना अर्थात् अन्तरंग के साथ-साथ बहिरंग का भी उचित ध्यान रखना मैंने पंजाब में ही सीखा। उससे मुझे लाभ भी हुआ। स्वास्थ्य अच्छा हो गया। तीसमारखाँ तो मैं कभी भी नहीं रहा, हमेशा पतला-दुबला; पर चुस्ती और शारीरिक लचक की मुझमें कमी नहीं थी। जोरदार व्याख्यान भी अपने-आपमें एक कसरत ही होती। फिर तो कुछ ऐसी आदत पड़ गई कि जिस रात कहीं व्याख्यान नहीं देना होता, या कहीं सफर नहीं करना होता, उस दिन एक रिक्तता का बोध होता रहता। मनुष्य का भी कैसा विचित्र स्वभाव है!

विवाह और उसके बाद

सन् ४४ के जून मास में मेरा विवाह हुआ। समाज-सुधार की दृष्टि से यह क्रान्तिकारी विवाह था। तीस गाँवों की पंचायत ने इस विवाह का बहिष्कार किया था, क्योंकि वे इस अन्तर्जातीय विवाह के विरुद्ध थे। पर मेरे श्वसुर श्री जयदेव आर्य भी कट्टर आर्यसमाजी थे। उनके परिवार की सब कन्याएँ कन्या गुरुकुल हाथरस में पढ़ी थीं और सब पुत्र गुरुकुल चित्तौड़ में। जब स्थानीय बिरादरी के लोगों को पता लगा कि विवाह की वेदी पर कन्या घूँघट निकाले बिना बैठेगी और अपने मन्त्र स्वयं पढ़ेगी, तो विरोध के बावजूद सब उस विवाह को देखने आये। छतों तक दर्शनार्थियों की भीड़ लग गई। उस समय समाज-सुधारकों के और आर्य-

नेताओं के जो संदेश आये थे उनको पढ़कर सुनाने में दो घण्टे लगे थे। विवाह-संस्कार में वरपक्ष की ओर से श्री पं० व्यासदेव शास्त्री पुरोहित थे और कन्यापक्ष की ओर से श्री पं० राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री। उसी रात जातपाँत के विरोध में मेरा सार्वजनिक भाषण हुआ। इस विवाह से स्थानीय आर्यसमाज को और सामाजिक क्रान्ति के पक्षधरों को बड़ा बल मिला और हिन्दू समाज में उनका वर्चस्व बढ़ा।

विवाह के बाद मुझे गुजराँवाला हैडक्वार्टर मिला। वहाँ के आर्यसमाज के अधिकारियों ने मेरे आवास की व्यवस्था करने में अच्छा सहयोग दिया और मुझे एक आर्यसज्जन की बड़ी कोठी में दो कमरे किराये पर मिल गए। मेरी पत्नी के साथ मेरी माँ भी गुजराँवाला आई थीं, क्योंकि मैं तो अक्सर उपदेशकी में सफर पर रहता, फिर बिना मेरी माँ के नववधू को एकाकीपन अखरता। निकटवर्ती पड़ोसियों से भी अच्छा स्नेह प्राप्त हुआ। मेरे पीछे वे भी मेरे परिवार का ध्यान रखते। पर गुजराँवाला में मैं अधिक दिन नहीं रह सका। सन् ४६ के प्रारम्भ में ही मेरी पत्नी और माँ को वहाँ से आना पड़ा। पर वह विषयान्तर है।

१ जनवरी, सन् ४५ में श्री पं० शिवकुमार शास्त्री जी भी जेहलम गुरुकुल का आचार्य-पद छोड़कर सभा में उपदेशक बन गए। उनके सभा में आने का एक अवान्तर कारण मैं भी बना। जब मैं जेहलम आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर गया तो वहाँ मेरे व्याख्यान की ऐसी धूम रही कि पंडित जी की पत्नी जो पहले उनको उपदेशक बनने से रोक रही थी, मेरा व्याख्यान सुनने के बाद उसने उनको अनुमति दे दी और कहा कि यदि इस व्यक्ति-जैसे उपदेशक बनो तो मैं आपत्ति नहीं करूँगी। कहना नहीं होगा कि उन दिनों पंजाब में मेरी तूती बोलती थी और सबसे अधिक माँग वाला उपदेशक मैं ही था। सभा भी वेदप्रचार में अधिक राशि की शर्त रखकर आर्यसमाजों की माँग मानती। आमतौर पर समाजों के अधिकारी लाहौर में आकर सभा-कार्यालय में कहते—'हमें वह उपदेशक चाहिए जिसका नाम हमसे नहीं बोला जाता।' कहना नहीं होगा कि 'क्षितीश कुमार' नाम उर्दू में न शुद्ध रूप से लिखा जा सकता है, न उर्दू जानने वाले इसे शुद्ध रूप से बोल सकते हैं। उर्दू-प्रधान पंजाब में मेरे नाम का उच्चारण कठिन ही था।

शिवकुमार जी के आने के बाद उनकी और मेरी जोड़ी अच्छी जमी। शिवकुमार जी विद्वान् व्यक्ति थे, शरीर भी रोबदार था, व्याख्यानों में आवश्यक कथातत्त्व और शे'रो-शायरी की अच्छी पुट रहती थी। इसलिए जनता द्वारा उनके व्याख्यानों को पसन्द किया जाना स्वाभाविक था। पर सभा हमेशा इस बात का ध्यान रखती कि हम दोनों को एक ही स्थान पर न भेजा जाए, जिससे एक ही समय दो अलग-अलग समाजों को उपकृत किया जा सके।

वच्छोवाली और गुरुकुल काँगड़ी

उन दिनों पंजाब प्रतिनिधि सभा के दो उत्सव सबसे महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। नवम्बर के अन्त में वच्छोवाली का और अप्रैल में वैशाखी पर गुरुकुल काँगड़ी का। इन दोनों उत्सवों पर भीड़ भी खूब जुटती और इन स्थानों पर किसी का व्याख्यान होना प्रतिष्ठा की बात मानी जाती। पर सभा के उपदेशकों को इन उत्सवों पर बोलने का अवसर न मिलता, क्योंकि उनमें तो आर्यसमाज के और देश के बड़े-से-बड़े नेता व्याख्यान देने आते थे। सन् १९४५ के नवम्बर में वच्छोवाली के उत्सव पर मेरे व्याख्यान का निर्णय हुआ। मुझे सूचना दे दी गई। मैंने अपना विषय रखा —'दिल्ली चलो'। कार्यक्रम में मेरे नाम के साथ मेरा विषय भी छप गया। मैं यथासमय लाहौर पहुँचा। शनिवार को दोपहर बाद मेरा भाषण हुआ। लोग हैरान थे कि यह छोकरा 'दिल्ली चलो' का विषय घोषित कर क्या कहना चाहता है? यह वेद का कौन-सा मन्त्र है? आर्यसमाज का कौन-सा सिद्धान्त?

मैंने भाषण शुरू किया इस वाक्य से—"हम आकाशवाणी से बोलते हैं" और यह कहकर मैंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के सिंगापुर रेडियो से आजाद हिन्द फौज के बर्मा से हिन्दुस्तान की ओर कूच करते हुए सैनिकों के नाम दिये गए सन्देश का प्रारम्भिक अंश दोहराया—"भारतमाता के वीर सपूतो! इन पहाड़ियों, नदियों और जंगलों के पार है हमारी मातृभूमि भारतमाता। इस समय वह अपनी पर-तन्त्रता की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए अपने पुत्रों का आह्वान कर रही है। अब हम सबका एक ही लक्ष्य है—अपनी भारतमाता को विदेशियों का गुलाम नहीं रहने देंगे। इसलिए बढ़े चलो, बढ़े चलो! अब हम लालकिले पर अपना तिरंगा राष्ट्रीय ध्वज लहराकर ही छोड़ेंगे, जवानो! चलो दिल्ली, दिल्ली चलो!"

जनता एकदम स्तब्ध, जैसे मन्त्रविद्ध हो गई हो। कहना नहीं होगा कि उस समय चारों ओर सुभाष बोस और आजाद हिन्द फौज की चर्चा थी और जनता नेताजी के नाम के पीछे दीवानी थी। नगरकीर्तनों में जब कोई भजनीक गाता—'थोड़े दिन के अन्दर-अन्दर, फोड़ के पहाड़ समन्दर, चन्दर बोस आ जा, चन्दर बोस आ जा'—तो लोग मस्त हो जाते और उनके अन्दर देशभक्ति की तरंगें उठने लगतीं। आर्य जनता में कुछ अंग्रेजों के वफादार लोग शायद मन-ही-मन घबराए कि मैं आर्यसमाज के मंच से कोई राजनैतिक भाषण देने लगा हूँ। आर्यसमाज को राजनीति से सर्वथा अलग रखकर केवल धार्मिक संस्था घोषित करने का जितना तीव्र आन्दोलन इन वफादार लोगों ने चलाया था, उतना और किसी ने नहीं। पर मैं यह भी जानता हूँ कि इन वफादार लोगों में से बहुत-से अन्दर से पूर्णतया देश-भक्त थे और कोई-कोई तो प्रच्छन्न रूप से क्रान्तिकारियों की सहायता भी करते रहते थे, पर ऊपर से वफादारी का खोल ओढ़े रहते थे, ताकि उनकी सरकारी

सर्विस पर आँच न आने पावे। आर्यसमाज की युवा पीढ़ी तो खुल्लमखुल्ला क्रान्तिकारियों के साथ थी। प्रमाणस्वरूप, स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुत्र हरिश्चन्द्र, महात्मा हंसराज के सुपुत्र बलराज, महाशय कृष्ण के सुपुत्र वीरेन्द्र और श्री खुशहालचन्द खुर्सन्द (बाद में महात्मा आनन्द स्वामी) के सुपुत्र रणवीर के नाम गिनाये जा सकते हैं जिनको क्रान्तिकारी गतिविधियों में शामिल होने के कारण लम्बी-लम्बी सजाएँ मिली थीं। पर मैं संगठन के रूप में आर्यसमाज पर कोई आँच आने देने के लिए अपने-आपको हेतु नहीं बनने देना चाहता था। यही मेरी नीति थी।

मैंने तुरन्त अपने भाषण का काँटा बदला और कहा—"पर मैं आपको दिल्ली चलने का आह्वान इसलिए नहीं कर रहा हूँ। मैं आपको सन् १८७७ के दिल्ली-दरबार के समय दिये गए ऋषि दयानन्द द्वारा 'दिल्ली चलो' के उस आह्वान की ओर संकेत कर रहा हूँ जिसके अन्तर्गत उन्होंने विभिन्न मतावलम्बियों को बुलाकर समग्र देश को एक धर्म, एक जाति, एक भाषा और एक देश के सूत्र में आबद्ध कर 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के लक्ष्य की पूर्ति का वाहन बनाना चाहा था। इसके लिए उन्होंने सुझाव दिया था कि अपने-अपने मतों और उनसे सम्बन्धित कर्मकाण्डों को मानते हुए भी इस एक बात पर सब सहमत हो जाएँ कि हम सबका मूल है—वेद, वही स्वतःप्रमाण है, अन्य सब ग्रन्थ परतःप्रमाण हैं, क्योंकि सभी दृष्टियों से यही सत्य है, यही प्राचीन ऋषियों की मान्यता रही है और इसी में भारत का उद्धार निहित है। केवल भारत का ही नहीं, विश्व का उद्धार भी इसी में है।"

फिर मैंने कहा कि हमारा उद्देश्य केवल लालकिले पर तिरंगा लहराना नहीं, हमारा उद्देश्य तो समस्त संसार में ओ३म् की पताका लहराना है। दिल्ली-दरबार के समय ऋषि के दरबार में विभिन्न मतावलम्बियों के जो नेता उपस्थित हुए थे, उनमें ऋषि-जैसी राष्ट्रचेतना नहीं थी, इसलिए वे महर्षि के सुझाव से सहमत नहीं हो सके और राष्ट्रीय एकता के मूल सूत्र को नहीं अपना सके। पर ऋषि की आत्मा तो हम आर्यसमाजियों का ज्यों-का-त्यों आज भी आह्वान कर रही है—आर्यो! तुम चुप क्यों हो? क्यों हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हो? उठकर खड़े हो जाओ? ओम् की पताका हाथ में ले लो और एक बार 'दिल्ली चलो' का घोष गुंजाते हुए विजय-अभियान पर निकल पड़ो। ऋषि की आत्मा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। दिशाएँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं। विश्वशान्ति के लिए आतुर यह सारा संसार तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।"

व्याख्यान समाप्त। सारा पण्डाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। मैं भाषण देकर बैठा तो कुछ बुजुर्गों ने मेरी पीठ थपथपाई। बाद में मुझे पता लगा कि उस समय के सर्वमान्य आर्य नेता महाशय कृष्ण ने उर्दू के साप्ताहिक पत्र 'प्रकाश' में मेरे ऊपर एक सम्पादकीय टिप्पणी लिखी, मेरे भाषण की चर्चा की और कहा कि इस नवयुवक के रूप में आर्यसमाज में एक नई शक्ति का उदय हुआ

है। उर्दू न जानने के कारण मैं स्वयं तो उस टिप्पणी को पढ़ न सका, पर उस पत्र के अनेक पाठकों ने मुझसे उसकी चर्चा की।

अब तो गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव पर भी मेरा व्याख्यान निश्चित हो गया। सन् १९४६ के अप्रैल में वैशाखी वाली रात को मेरा व्याख्यान हुआ। उस व्याख्यान के लिए मैंने विषय दिया था—'अश्वमेध यज्ञ'। उसमें भी मैंने पहले ब्राह्मण-ग्रन्थों में और सायण-महीधरादि के वेदभाष्यों में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की चर्चा करते हुए उसकी बीभत्सता का उल्लेख किया और बाद में उसका निराकरण करते हुए कहा कि अश्व का असली अर्थ है—राष्ट्र। **'अश्वो वै राष्ट्रम्।'** अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा तो राष्ट्र की विजिगीषा का प्रतीक है। इसलिए राष्ट्र की विजय के और उन्नति के जितने उपाय हैं वे सब अश्वमेध यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं।

उसके बाद तो अनेक वर्षों तक गुरुकुल काँगड़ी के प्रत्येक वार्षिकोत्सव पर मेरा व्याख्यान होता रहा। गुरुकुल के अध्यापक तथा छात्र बड़ी उत्सुकता से प्रतिवर्ष मेरे व्याख्यान की प्रतीक्षा करते। इसे मैं गुरुकुल वालों की अपने प्रति आत्मीयता भी समझ सकता हूँ। पर मेरे व्याख्यानों में जब महाविद्यालय ज्वालापुर के छात्र भी आने लगे, पंचपुरी के कॉलेजों के अन्य छात्र भी, तब मुझे अपने विचारों की विशेषता प्रतीत होने लगी।

मेरे व्याख्यानों में हमेशा राष्ट्रीयता की पुट रहती। मैं ऋषि दयानन्द के और आर्यसमाज के राष्ट्रीयता-परक पहलू को तरह-तरह से उभारने का प्रयत्न करता, जबकि अन्य लोग उसे केवल धार्मिकता के नाम पर साम्प्रदायिकता की ओर ले जाने का प्रयत्न करते। प्रगतिशील विचारों वाले लोगों को मेरे विचार पसन्द आते और वे आर्यसमाज को एक नए दृष्टिकोण से देखने लगते। मेरी लोकप्रियता का रहस्य भी यही था। मैं अपने इस चिन्तन के लिए गुरुकुल काँगड़ी जैसी राष्ट्रीय संस्था की शिक्षा और वहाँ के गुरुजनों द्वारा दिये गए संस्कारों को श्रेय देता हूँ। कदाचित् उस शिक्षा और संस्कार के रहते मेरा चिन्तन उससे भिन्न हो भी नहीं सकता था।

राजनैतिक परिदृश्य

अभी तक मैंने अपने विषय से बाहर समझकर पंजाब के राजनैतिक परिदृश्य की जान-बूझकर चर्चा नहीं की। पंजाब एक विशेष प्रान्त था। सबसे अधिक जवान अंग्रेजों को इसी प्रान्त से सेना में भर्ती होने के लिए मिलते थे—हिन्दू, सिख और मुसलमान सभी। इसलिए अंग्रेज भी इस प्रान्त की ओर विशेष ध्यान देते थे। सन् १८५७ में पंजाब के लोगों ने, खासतौर से सिखों और मुस्लिम रियासतों ने अंग्रेजों का साथ दिया था; सन् १९३९ के विश्वयुद्ध में भी। इसलिए अंग्रेज-सरकार भी पंजाब को समृद्धि के साधनों से सींचने में पीछे नहीं रहती थी। भारत

में सबसे अधिक समृद्ध होने का प्रमाण-पत्र इस प्रान्त को इसीलिए मिलता था। हिन्दुओं की व्यापार-कुशलता, शिक्षित जनों की सरकारपरस्ती, जमीन पर खेती में सिखों की मेहनत और मुसलमानों की जवाँमर्दी, लोगों के कद्दावर स्वस्थ और सुन्दर शरीर—इन सबने मिलकर पंजाब को खुशहाल बनाया था। जिस कांग्रेस को उस समय राजनीति की राष्ट्रीय धारा माना जाता था, उसका असर जितना अन्य प्रान्तों में था, उतना पंजाब में नहीं।

वास्तविकता यह है कि आर्यसमाज ने जहाँ पंजाब में शिक्षा-संस्थाओं का जाल फैलाया, लोगों को आत्महीनता से निकालकर आत्मगौरव की भावना से भरा, सामाजिक सुधार और दलितोद्धार की ओर अग्रसर किया, वहाँ राष्ट्रप्रेम की ज्वाला भी पंजाबियों में उसी आर्यसमाज ने जगाई। सन् १९२० से पहले पंजाब में कांग्रेस का नाम भी नहीं था। जब से लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द ने कांग्रेस-आन्दोलन में सक्रिय हिस्सा लिया, तब से अन्य आर्यसमाजी भी खुल्लम-खुल्ला कांग्रेस का साथ देने लगे। प्रायः आर्यनेता ही कांग्रेस नेता भी होते। स्वदेशी और खद्दर का प्रचार भी सबसे अधिक आर्यसमाज में ही था। कुछ राष्ट्रभक्त सिख भी इस विषय में आर्यसमाज के साथ थे और वे अपनी खद्दरपोशी के कारण दूर से ही पहचाने जाते। इनमें वे खालिस्तानी सिख नहीं थे जो आज देश के लिए सिखों की कुर्बानी की डींग हाँकते हैं, क्योंकि वे तो तब अंग्रेजों के पिट्ठू थे और उन्हीं की कृपा से बड़ी-बड़ी जागीरें पाकर समृद्ध बने थे। सारी सिख रियासतें सन् १८५७ में अंग्रेजों की सहायता करने के फलस्वरूप ही उस रूप में आई थीं, इसलिए इन रियासतों में आर्यसमाज या कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को सहन नहीं किया जाता था। खद्दर का वेष आर्यसमाजियों की खास पहचान थी। यदि किसी ने पंजाब में खद्दर की धोती पहन रखी हो, तो आप आँखें बन्द करने उसे आर्यसमाज का उपदेशक घोषित कर सकते थे और आपका अनुमान सही होता। यों भी आर्यसमाज के उपदेशकों में उस समय पंजाब में उत्तरप्रदेश के लोगों की बहुलता थी। पंजाब-सभा और गुरुकुल-पार्टी के लोग खासतौर से कांग्रेसी विचारधारा से जुड़े थे। इसमें बहुत बड़ा कारण गुरुकुल-पार्टी में गुरुकुल काँगड़ी के स्नातकों का वर्चस्व था। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक स्वामी श्रद्धानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा के अनुकूल ढले थे। सन् ३०-३१ के सत्याग्रह के समय गुरुकुल काँगड़ी का महा-विद्यालय-विभाग तो बन्द ही हो गया था और गुरुकुल के अधिकांश छात्र तथा अध्यापक सत्याग्रह करके कारावास के अतिथि बने थे। पर उस समय यह किसी को कल्पना नहीं थी कि कभी पंजाब की राजनीति और पंजाब का भविष्य सारे देश का भविष्य बदल देगा। अंग्रेजों की कूटनीति ने और कांग्रेसी नेताओं की अदूरदर्शिता ने तथा मुस्लिम लीग की अराष्ट्रीय हठवादिता ने वह भी करके दिखा

दिया। सन् १९४२ के 'करो या मरो' आन्दोलन के कारण पंजाब तापमान के उबाल-बिन्दु पर पहुँच गया था।

सन् १९४७

तभी आ गया सन् १९४७। पंजाब की हवा में विष घुल चुका था। साम्प्रदायिकता तीव्रतर हो चली थी। देश-विभाजन अनिवार्य दीखता था। पंजाब के हिन्दू चिन्तित थे। लाहौर में तथा पंजाब के अन्य शहरों के मुस्लिम-बहुल मुहल्लों में हिन्दुओं की लूटमार प्रारम्भ हो गई थी। उनके घर और दुकानें जलाए जाने लगे थे। मई मास में एक दिन मैं अपने मित्र पं० मेधातिथि के साथ, जो मुसलमान से शुद्ध होकर आर्यसमाज के उपदेशक बने थे और कुरान के अच्छे आलिम थे, जिन्ना कैप पहनकर ऐसे मुहल्लों में जाकर अपनी आँखों से विनाशलीला देख आया था। इससे हवा का रुख पहचाना जा सकता था।

तभी निजाम हैदराबाद में सन् १९४२ में मेरे पाँच वर्ष के प्रवेश-निषेध के आदेश की समाप्ति का अवसर आ गया और वहाँ की सभा ने पंजाब-सभा से एक मास के लिए मेरी सेवाएँ माँग लीं। मैं जून मास में हैदराबाद चला गया। 'सुलतान बाजार' के उत्सव पर जब पहला व्याख्यान दिया तो कुछ नवयुवक मेरे पास आए और कहने लगे कि हम तो आपसे और गरम व्याख्यान की अपेक्षा करते हैं। मुझे हैरानी हुई। जहाँ सन् १९४२ में थोड़ा-सा गरम व्याख्यान देने पर ही पाँच वर्ष के लिए रियासत में मेरा प्रवेश रोक दिया गया था, अब वहीं के नौजवान मुझसे और गरम व्याख्यान की अपेक्षा रखते हैं। इसका अर्थ मैंने यही लगाया कि अब यहाँ भी थर्मामीटर में पारा बहुत ऊँचा चढ़ चुका है और निजाम के विरुद्ध युवक अन्तिम क्रान्ति के लिए सन्नद्ध हैं। महीने-भर में रियासत के अनेक स्थानों पर प्रचारार्थ गया। सभी स्थानों पर मैंने युवकों में पहले से अधिक जोश पाया। यही जोश बाद में, सन् १९४८ में रियासत के भारत-विलय में सहायक हुआ। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत सरकार के पुलिस-ऐक्शन में यदि आर्यवीरों का सहयोग न होता तो केवल तीन दिन में निजाम आत्मसमर्पण न करता। सरदार पटेल की दूरदर्शिता और आर्यवीरों ने यह चमत्कार कर दिखाया।

मैं जुलाई में दिल्ली वापस आया। तब तक पंजाब में मारकाट शुरू हो गई थी। स्थान-स्थान से भयप्रद खबरें आ रही थीं। सभी ने मुझे लिखा कि लाहौर मत आओ, यहाँ की और पूरे पंजाब की हालत ठीक नहीं है, अगले पत्र तक वहीं प्रतीक्षा करो। पर उस अगले पत्र की नौबत नहीं आई। अगस्त मास के शुरू से ही पंजाब से पलायन शुरू हो गया, पहले धीरे-धीरे, फिर तेजी से। पहले थोड़ी संख्या में, फिर बड़ी संख्या में। जब रेडक्लिफ ने पाकिस्तान और भारत का सीमा-निर्धारण घोषित कर दिया, तो पंजाब के सारे हिन्दू हताश हो गए। पहले आशा

थी कि कम-से-कम लाहौर तो अपनी हिन्दू-बहुलता और हिन्दू-वर्चस्व के कारण भारत के पास रहेगा, पर जब वह आशा पूरी नहीं हुई, तो उनके पास अपनी जान बचाने के लिए किसी-न-किसी प्रकार १४ अगस्त से पहले भारत भी सीमा में आ जाने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहा। १४ अगस्त को पाकिस्तान की नई सरकार सत्तारूढ़ हो जानी थी।

सेना का भी विभाजन हो चुका था। पर भारत और पाकिस्तान दोनों की सेनाओं का नियंत्रण अब भी अंग्रेज सेनापतियों के हाथ में ही था। आश्चर्य है कि इन अंग्रेज सेनापतियों ने भारत में या पाकिस्तान में कहीं भी साम्प्रदायिक उपद्रवों को रोकने के लिए सेना नहीं भेजी, क्योंकि देश का विभाजन तो उनकी कूटनीति का मुख्य अंग ही था और ब्रिटिश शासकों ने लार्ड माउण्टबेटन को भारत का वायसराय बनाकर भेजा ही इसलिए था कि वे अपने जादुई, मोहक और राजसी व्यक्तित्व से भारत के नेहरू आदि कांग्रेसी नेताओं को प्रभावित कर, जल्दी-से-जल्दी, देश का विभाजन करवा के वापस आ सकें। माउण्टबेटन के व्यक्तित्व के साथ लेडी माउण्टबेटन का व्यक्तित्व भी कम जिम्मेवार नहीं था। इन दोनों ने मिलकर ऐसी जादू की छड़ी घुमाई और ऐसी शतरंज बिछाई कि एक के बाद एक कांग्रेसी नेता इनके जाल में फँसते गए और अन्त में महात्मा गांधी भी, जो हमेशा यह कहते थे कि पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा, जीवित आँखों से ही देश के दो टुकड़े देखने को विवश हुए।

देश-विभाजन की यह कहानी इतनी दुःखद है और इतिहास की इतनी भयंकर त्रासदी है कि इसे अभूतपूर्व, अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व कहा जा सकता है। पर अब पछताए होत क्या! ४४ साल पुरानी उस त्रासदी को स्मरण कर इतने आँसू बहाए जा चुके हैं कि उसकी भी अलग गंगा बन सकती है। अकबर इलाहाबादी ने लिखा था—

बूट डासन ने बनाया, हमने इक मज़मूं लिखा।
मुल्क में मज़मूं न फैला, और जूता चल गया।।

जहाँ सद्यः-निर्मित पाकिस्तान से लाखों-करोड़ों की संख्या में मीलों लम्बे शरणार्थियों के काफिले अपना सब-कुछ लुटवाकर, अपने पुश्तैनी जमीन-जायदाद-मकान छोड़कर, बहुत-से घायल होकर और बहुत-से अपनी बहन-बेटियों को गँवाकर भारत आने को विवश हुए, उसकी कथा न ही कहना अच्छा है। उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप भारत में, और खासतौर से दिल्ली में हुए हिंसा के भयंकर ताण्डव को मैंने अपनी इन फूटी आँखों से साक्षात् देखा है—दुकान और मकान लुटते हुए, आमने-सामने गोलियाँ चलती हुईं, अपनी जान बचाने के लिए छिप-छिपकर भागते हुए, ट्रकों से लाशों के अम्बार ढोते हुए, छुरे हाथ में लेकर 'शिकार' का पीछा करते हुए अत्युत्साही युवक, धू-धू करके जलती हुई इमारतें, नई-नई बनी भारत-

सरकार के प्रधानमन्त्री पं० नेहरू का कभी गांधी ग्राउण्ड, कभी घण्टाघर और कभी चाँदनी चौक स्थित छुन्नामल की कोठी के छज्जे से हताशा और निराशा से भरा जनता को सम्बोधन और जनता की उपेक्षा, अन्त में नेहरू की यह घोषणा कि यदि आप लोग हिंसा बन्द नहीं करेंगे तो मैं सब-कुछ छोड़-छाड़कर हिमालय चला जाऊँगा। पर सब बेअसर। जब पाकिस्तान से हिन्दू-सिखों की लाशों से भरी ट्रेन अमृतसर पहुँची, तो पूर्वी पंजाब भी उन्मत्त हो उठा और इधर से भी मुसलमानों की लाशों से भरी ट्रेन लाहौर पहुँची। ऐसे माहौल में नेहरू या महात्मा गांधी की अहिंसा की अपील किसके कान पड़ती! लोग जैसे प्रतिहिंसा की ज्वाला से दहक रहे थे। दिल और दिमाग खो चुके थे। कोई अपील काम नहीं कर रही थी।

अन्त में सरदार पटेल ने गांधी मैदान में दिल्ली की जनता को सम्बोधित किया। उन्होंने नारा दिया—Hands off Delhi—अर्थात् दिल्ली में कुछ न करो, क्योंकि यहाँ विदेशों के राजदूत हैं, बड़े-बड़े अखबार हैं, विदेशी संवाददाता हैं, उनकी खबरें सारे संसार में पहुँचती हैं और विदेशों के लोग कहते हैं कि भारत के लोग इतने जाहिल हैं कि वे अपनी आजादी नहीं पचा सकते—असल में वे आजाद होने के योग्य हैं ही नहीं। इसलिए मेरी आप सबसे प्रार्थना है कि दिल्ली में कुछ मत करो! हमारे जो भाई लाखों-करोड़ों की संख्या में भारत आ रहे हैं, उनका दर्द मैं समझता हूँ। उनके ठहरने की, खाने की और पुनर्वास की व्यवस्था हमें करनी है। यदि दिल्ली में हिंसा जारी रही, तो सरकार यह काम नहीं कर सकेगी।

सरदार की इस अपील का जनता पर गजब का असर पड़ा। सचमुच दिल्ली में हिंसा बन्द हो गई और लोग शरणार्थियों की सहायता के रचनात्मक काम में लग गए। जब लाखों शरणार्थियों का जमघट दिल्ली में हो गया तो एकाएक इतने लोगों के भोजन की व्यवस्था सरकार के लिए कठिन हो गई। सरदार ने दिल्ली की जनता से अपील की कि हरेक घर से एक-एक रोटी इकट्ठी की जाए। छुरे हाथ में लेकर 'शिकार' का पीछा करने वाले स्वयंसेवक रोटियाँ इकट्ठी करने के काम में लग गए। सप्ताह-भर तक यह क्रम चलता रहा। बाद में शरणार्थियों के अलग-अलग शिविर बने, उनके लिए खाने की वैकल्पिक व्यवस्था की गई और उन्हें दिल्ली से भारत के अन्य स्थानों पर भी ले-जाया जाने लगा। पर इससे दिल्ली का बोझ कम नहीं हुआ। यहाँ तो रोज नए-नए काफिले पहुँचते।

सबसे पहला और सबसे बड़ा शरणार्थी-शिविर बना दीवान हाल के सामने वाले मैदान में—जहाँ आज लाजपतराय मार्केट बना है। उस शिविर के संचालन की व्यवस्था दीवानहाल आर्यसमाज के हाथ में रही। मैं खाली था ही। मुझे उसका भार सौंपा गया। मैं रोज वहाँ आठ-नौ घण्टे रहता। लोगों को राशन और कपड़े आदि जो राहत-कार्य के लिए दान में आते, उनका वितरण, रात को शिविर की चौकीदारी तथा अन्य आवश्यक कार्यों में आर्यवीर दल के युवकों ने अच्छा

सहयोग दिया। मुसलमान जिन मकानों को छोड़कर गए थे, उस निष्क्रान्त सम्पत्ति का वितरण सरकारी अधिकारियों के हाथ में था। जिन शरणार्थियों के परिवार में कई-कई लोग थे, वे अक्सर उन मकानों पर जा-जाकर अधिकार कर लेते, फिर धीरे-धीरे अधिकारी भी वही मकान उन्हें 'अलॉट' कर देते। पहाड़गंज और करौल-बाग जैसे मुस्लिम-बहुल इलाके प्रायः मुस्लिम-शून्य हो गए और वहाँ शरणार्थी जमने लगे।

जो शरणार्थी पंजाब (अब पाकिस्तान) के जिस स्थान से आए थे, उनके परिवार के जितने सदस्य थे, उसका विवरण हम रजिस्टर में दर्ज करते, उनकी आवश्यकता के हिसाब से उनको मकान 'अलॉट' करने की सिफारिश करते, उनका एप्लिकेशन तैयार करते और सरकारी अधिकारियों के पास भेजते। श्री बालमुकुन्द आहूजा उस समय आर्यसमाज के मन्त्री थे। वे अपनी दुकान पर उन प्रार्थनापत्रों को अंग्रेज़ी में टाइप करवाते।

सब शरणार्थी-शिविरों की देखभाल की इनचार्ज बनीं श्रीमती सुचेता कृपलानी। अक्सर दीवानहाल वाले शिविर में वे आतीं, लोगों का दुःख-दर्द सुनतीं और उनको आवश्यक सहायता का आश्वासन देकर चली जातीं। कभी-कभी इन्दिरा गांधी और लेडी माउण्टबेटन भी उस शिविर में आतीं, पर उनको देखते ही शरणार्थी उत्तेजित होने लगते, क्योंकि देश-विभाजन के लिए वे अंग्रेजों और कांग्रेस को ही जिम्मेदार मानते थे। इसलिए वे एक-दो बार से अधिक नहीं आईं। उन्होंने दिल्ली के मुसल-मानी मुहल्लों की सुरक्षा पर ही अधिक ध्यान देना उचित समझा।

कभी-कभी कुछ धनी-मानी और जागीरदार किस्म के लोग शरणार्थियों की सहायता के बहाने शिविर में आते और सुन्दर पंजाबी लड़कियों की तलाश करते। ऐसे समय आर्यवीर चौकस रहते और उन पर नजर रखते।

उन्हीं दिनों मुस्लिम-बहुल मेवात में भयंकर मारकाट शुरू हो गई। मुसलमान मेव लोग अपने घर छोड़-छोड़कर भागने लगे। गाँव के गाँव खाली हो गए। रेलवे-स्टेशनों पर और रेल-पटरियों के दोनों ओर मीलों तक वे लोग अपना-अपना सामान और बोरिया-बिस्तर बाँधे बाल-बच्चों के साथ पड़े थे—इस प्रतीक्षा में कि कब ट्रेन आये, इस दहशत से बचें और पाकिस्तान के लिए प्रयाण कर सकें। पर असामाजिक तत्त्व यहाँ भी उनका पीछा नहीं छोड़ रहे थे। तब भारत सरकार ने सेना के सिपाही उनकी रक्षा के लिए तैनात किये, आसमान में हेलिकॉप्टर गश्त लगाते रहते कि कहीं कोई खूँखार भीड़ इन पर हमला न कर दे। स्टेशनों पर गोरखा सिपाही तैनात किये गए जिनको आदेश था कि उपद्रवियों को देखते ही गोली मार दें।

उन्हीं दिनों अलवर आर्यसमाज से एक सज्जन यह सन्देश लेकर आये कि बहुत-से मेव शुद्ध होकर वैदिक धर्म ग्रहण करना चाहते हैं, पर हमारे पास शुद्धि-संस्कार

करवाने वाला कोई पण्डित और पुरोहित नहीं है, इसलिए उसकी कुछ व्यवस्था कीजिए। तब मैं आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री सुरेन्द्र शर्मा गौर को अपने साथ लेकर अलवर गया। गाड़ी सारी-की-सारी लगभग खाली थी। अलवर से लौटते हुए उसी गाड़ी में रोज हजारों की तादाद में मेव दिल्ली आते और यहाँ से सुरक्षित रूप से लाहौर और पाकिस्तान जाने वाली अन्य गाड़ियों में बिठा दिये जाते। अलवर जाते हुए गार्ड ने कहा कि गाड़ी के सब दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द रखिये, क्योंकि रेल की पटरी के दोनों ओर जो हजारों मेव पड़े हैं वे कहीं गुस्से में आकर गाड़ी पर हमला न कर दें।

हम अलवर के आर्यसमाज मन्दिर में पहुँचे। वहाँ १०-१२ मेव अपने परिवारों समेत शुद्ध होने की प्रतीक्षा में पड़े थे। आर्यसमाज वालों ने उनके खाने की और सुरक्षा की व्यवस्था अपनी ओर से की थी। श्री पं० सुरेन्द्र शर्मा गौर और मैंने मिलकर शुद्धि-संस्कार कराया, सबको यज्ञोपवीत देकर वैदिक धर्म की दीक्षा दी, उनके नए नाम रखे गए, उन्हें गायत्री मन्त्र का उपदेश देकर उसकी महत्ता बताई। उन्हें शुद्धि का प्रमाण-पत्र दिया। अब वे सब आश्वस्त थे कि हमें कोई जान-माल का खतरा नहीं रहेगा। एक दिन हमने और प्रतीक्षा की कि कुछ और मेव शुद्ध होने के लिए आएँ तो उन्हें विधिवत् वैदिक धर्म की दीक्षा दे दें, पर शाम तक ४-५ परिवार से अधिक नहीं आए। उसका कारण यह कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हिन्दू महासभा और आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ के अत्युत्साही नवयुवक शुद्धि के लिए यज्ञ आदि के विधि-विधान को अनावश्यक और अनुचित मानते थे। उनका कहना था कि इस सब अड़ंगे की क्या जरूरत है? बस सब पर एक साथ गंगाजल छिड़को और एक बार उनके मुख से 'हर-हर महादेव' का घोष लगवाओ—बस हो गए सब-के-सब हिन्दू। ऐसे माहौल में अपनी उपस्थिति व्यर्थ समझकर हम दिल्ली लौट आए।

शरणार्थियों में से जिनके आवास की व्यवस्था हो गई, वे शिविर छोड़कर चले गए। काफी लोग दिल्ली से अन्य स्थानों पर चले गए। वे सब समझ गए कि अब हमारे वापस पाकिस्तान-स्थित अपने घरों को लौटने की तीन काल में भी आशा नहीं है, अब भारत में ही रहना है, यहीं जीना है, यहीं मरना है। इसलिए जिसके जहाँ सींग समाये, चले गए। कोई अपने परिचितों के पास, कोई दूरस्थ रिश्तेदारों के पास, कोई जहाँ काम-धन्धा मिला वहाँ बिखरने लगे। कुछ अन्य शरणार्थी सरकारी शिविरों में चले गए। दीवानहाल वाला शिविर भी छीजने लगा। हमारा काम का बोझ कुछ हल्का हुआ।

तब मुझे भी अपने भविष्य की चिन्ता करनी पड़ी। पंजाब-सभा से पिछले ६ मास से मुझे वेतन नहीं मिला था। अब पंजाब-सभा क्या, सारा पंजाब ही उजड़ गया था। सभी का बुरा हाल था तो किसी की कोई क्या सुनता? मेरी जेब में

एक पैसा नहीं—एकदम खाली। कुछ दिन अपने छोटे भाई के पास रहा। उसके पास एक छोटा-सा कमरा था जिसमें मुश्किल से तीन या चार चारपाई से अधिक की गुंजाइश नहीं थी। उसकी पत्नी और बच्चे भी थे। गर्मियों में तो छत पर सो जाता, पर बरसात में मुश्किल होती। सब नीचे फर्श पर ही सोते। एक तरफ घर का सामान, एक तरफ रसोई का, बीच में हम सब सोने वाले। मैं दरवाजे की चौखट का सिरहाना बनाकर एक ओर लेट जाता। मुझे अपने ऊपर लज्जा आती। मैं ऐसे कब तक अपने छोटे भाई पर बोझ बना रहूँगा और मुफ्त की रोटी खाता रहूँगा! मैं बड़ा था, इसलिए मेरी शर्म भी बड़ी थी। छोटे भाई की पत्नी मुझसे पर्दा करती।

चिरकाल से मेरे मन में पत्रकार बनने की प्रबल इच्छा थी। उन्हीं दिनों 'नवभारत टाइम्स' निकलने की चर्चा चली। प्रसिद्ध पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकार उसके सम्पादक बने। मुझसे अपरिचित नहीं थे। पर मेरी उपदेशकी उसमें आड़े आई। सत्यदेव जी यह मानते थे कि उपदेशक लोग प्राय: गप्पें और कथा-कहानियाँ अधिक हाँकते हैं, इसलिए वे तथ्यपरक पत्रकारिता की विधा में सफल नहीं हो सकते। उन्होंने मुझे बहुत हतोत्साहित किया। उन्होंने साफ-साफ कहा कि तुम उपदेशक ही ठीक हो, पत्रकारिता तुम्हारे बस की नहीं। मेरे मन में अपनी योग्यता का सारा गर्व खर्व हो गया। बड़ी आत्मग्लानि हुई। पर हिम्मत हारने से कैसे काम चलता? इस बीच एक दिन मैं महाशय कृष्णजी से मिलने गया, जो लाहौर से आकर अपने मित्र और आर्यसमाज दीवानहाल के प्रधान लाला नारायणदत्त ठेकेदार के यहाँ ठहरे थे। मैंने अपनी तंगदस्ती की चर्चा की। उन्होंने कहा—हम कुछ नहीं कर सकते, सभी उजड़ गए हैं, सभी का बुरा हाल है। तब मैं 'अर्जुन' के कर्ता-धर्ता पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के पास गया। वे भी मुझे भली-भाँति जानते थे। शायद मेरी योग्यता और उपदेशक के रूप में मेरे यश से भी अपरिचित नहीं थे। फिर गुरुकुल के अच्छे स्नातकों में तो मेरी गिनती थी ही। उन्होंने तुरन्त कहा—'कल से आ जाओ।' कोई प्रार्थनापत्र नहीं, कोई औपचारिकता नहीं। मुझे खुशी हुई।

'अर्जुन' में नियुक्ति के बाद मुझे अपनी पत्नी की भी सुध आई, जो गुजराँवाला के बाद से अभी तक अपने मायके में ही थी। मेरी लाचारी के कारण वह भी वहाँ रहने को विवश थी। इस बीच मेरी पहली सन्तान भी हो गई थी। राजस्थान का रिवाज है कि पहली सन्तान मायके में ही होती है। इसलिए इतने दिन तक उसका मायके में रहना निभ गया और मेरे निखट्टूपन की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। मैं तो असलियत जानता था। पर दिल्ली में आवास के बिना कहाँ रहता?

कुछ लोगों ने सलाह दी—तुम भी पंजाब से आए हो, इसलिए शरणार्थी के रूप में अपना नाम दर्ज करवा के कोई निष्क्रान्त आवास अपने नाम 'अलॉट' करवा

लो। पर मेरे अन्तःकरण ने इसे गवारा नहीं किया। मैं मूलतः पंजाब का निवासी नहीं; मैं लुटा नहीं, पिटा नहीं। मेरे पिताजी भले ही कई साल तक रावलपिण्डी में व्यापार करते रहे और मैं ५-६ साल तक उपदेशकी करते हुए सारे पंजाब में एक सिरे से दूसरे सिरे तक चक्कर लगाता रहा, पर न वह मेरा जन्म-स्थान है न मेरे पुरखों का, फिर मैं अपने-आपको शरणार्थी कैसे मान लूँ? यह नितान्त सम्भव था कि अपने-आपको शरणार्थी दर्ज करवा लेने पर मुझे भी कहीं किसी शिविर में या किसी झुग्गी-झोंपड़ी में स्थान मिल जाता और बाद में सरकार द्वारा बनाए गए सैंकड़ों-हजारों मकानों में मेरे नाम भी कोई मकान किसी कालोनी में अलॉट हो जाता, पर इसके लिए मुझे असत्य का आश्रय लेना पड़ता। वह मैं नहीं कर सकता था। मेरा केवल सर्दियों का बिस्तर, कुछ गरम कपड़े और कुछ सादे कपड़े लाहौर के गुरुदत्त भवन में छूट गए सो छूट गए। बाद में पाकिस्तानियों द्वारा गुरुदत्त-भवन को आग लगा देने पर मेरा सामान भी अग्नि देवता की भेंट हो गया। इतना बड़ा गुरुदत्त भवन, उसमें चलने वाली अनेक संस्थाओं के कमरे, सभा का सारा कार्यालय और इतना बड़ा तामझाम तथा प्राचीन आर्यसाहित्य का पंजाब का सबसे बड़ा पुस्तकालय जब राख बन गए तो मेरे थोड़े-से सामान की क्या बिसात!

मकान की तलाश शुरू हुई। पर मकान कहाँ! सो भी हिन्दू बस्तियों में? जहाँ-कहीं भी गुंजायश होती, शरणार्थी पहले ही जा धमकते। मुस्लिम बस्तियों में भी अधिकांश निष्क्रान्त आवासों पर शरणार्थियों ने अपने बाहुबल और जनबल से दखल जमा लिया। उनकी हिम्मत थी, अधिकार भी। मुझमें न हिम्मत, न ताकत; एकाकी। मेरा छोटा भाई मालीवाड़े में रहता था। उसे साथ लेकर आस-पास के कई मुहल्लों में भटका। सभी जगह निराशा हाथ लगी। तभी एक रिश्ते-दार से पता लगा कि गली बताशेवाली के सामने की किनारे वाली गली में (किनारी बाजार उससे भिन्न है) एक मकान के तिमंजिले पर एक दुछत्ती खाली हुई है जिसे एक मुस्लिम किरायेदार खाली करके गया है। एक भड़भूंजे की जायदाद है। गया, देखा। गली इतनी गन्दी कि बदबू के मारे नाक बन्द करनी पड़े। आसपास के लोग सँकरी और लावारिस-सी गली समझकर वहीं पेशाब करते। ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ। तिमंजिलें पर दुछत्ती देखी, निराशा हुई। पानी की कोई व्यवस्था नहीं। पर तिमंजिले पर होने के कारण हवा साफ थी और रोशनी भी। लगभग १०×१० फुट का कमरा। फर्श पक्का, पर जगह-जगह से टूटा। कोई खिड़की नहीं। दरवाज़े की जगह टीन का पत्तर, दोनों ओर लोहे के सरिये, जिन पर अन्दर की ओर पुरानी बोरियाँ लगी हुईं। कहा गया कि आज ही अपना बिस्तर लाकर यहाँ डाल दो और रात को यहाँ आकर सो जाओ, क्योंकि कल का कोई भरोसा नहीं; किसी और ने आकर दखल कर लिया तो उसे हटाना मुश्किल हो जाएगा। क्या करता! सिर पर छत चाहिए तो यही सही! बिस्तर लाकर डाल दिया। रात को वहीं सोया।

भविष्य की तरह-तरह की कल्पना करता रहा। १७ रु० महीना किराया तय हुआ। तब मैंने अपने छोटे भाई को अपनी भाभी को लाने ब्यावर भेजा।

पाठकों को आश्चर्य होगा कि इसी मकान में मैं अगले १८ साल तक रहा। नीचे के नल से पानी ढोकर लाना पड़ता। रोशनी के नाम पर रात को मिट्टी के तेल की ढिबरी जलाते। उसी कमरे में रसोई, उसी में स्नान। शौचालय निचली छत पर कुछ दूर—पुराने ढंग का, गन्दगी से भरा। धीरे-धीरे अँगीठी आई, कोयला आया, साल-भर बाद दिवाली पर लालटेन भी आई। दिन में गर्मी की घुटने से बचने के लिए पिछली दीवार में एक छोटी-सी खिड़की बनवाई। दशहरे के बाद दिवाली से पहले मैं स्वयं कमरे के अन्दर अपने हाथों सफेदी करता। कई साल बाद जब बिजली आई और उसके बाद बिजली का पंखा भी आया तो बच्चों और पत्नी की प्रसन्नता का अनुमान आप लगा सकते हैं। आजकल की पीढ़ी के लोग और स्वयं हमारे बच्चे उस वातावरण की कल्पना भी नहीं कर सकते। मैं ही क्या, पंजाब से आए अधिकांश शरणार्थी इन्हीं परिस्थितियों से, और शायद इससे भी बुरी परिस्थितियों से गुजरे होंगे। मेरे साथी और मित्रगण वहीं मुझसे मिलने आते—रिश्तेदार और मेहमान भी, आर्यसमाज के लोग भी। कभी-कभी आर्य नेता भी नाते। गली में घुसते ही वे नाक-भौं सिकोड़ते। पर ऊपर पहुँचकर राहत की साँस लेते और लम्बी साँस लेते। इसी मकान में मेरे चारों बच्चे हुए। मैं तीन वर्ष के लिए लोगों के आग्रह से आर्यसमाज नयाबांस का प्रधान भी बना और उसके वार्षिकोत्सव स्मरणीय धूमधाम से मनाए। यहाँ से 'अर्जुन' का दफ्तर भी नये बाजार में होने के कारण नजदीक पड़ता।

इस प्रकार पत्रकारिता में बकायदा जम जाने के बाद मेरे सक्रिय उपदेशक जीवन की समाप्ति हुई। पर समाप्ति कहाँ? वही बात है—'छुटती नहीं ये काफ़िर मुँह से लगी हुई।' परिचित आर्य बन्धु अपने साप्ताहिक सत्संगों में प्रवचन के लिए बुलाते और मेरा कोई रविवार खाली नहीं होता। हाँ, दिन-रात सफर की मुसीबत छूट गई। अब एक ठिकाने पर अपने छोटे-से घोंसले में जम गया और अपने बच्चों की परवरिश तथा शिक्षा पर ध्यान देने की फुरसत मिली जो पहले वाली उपदेशकी में सम्भव नहीं थी।

सन् ४७ से लेकर सन् १९७९ तक पूरे ३२ वर्ष मेरा एकनिष्ठ पत्रकारिता का जीवन रहा। पर पत्रकारिता में भी 'मुँह से लगी' छूटी नहीं। कुछ मैं कम्बल को नहीं छोड़ सका, कुछ कम्बल मुझे नहीं छोड़ सका। पहले ५ वर्ष तक 'अर्जुन' में और बाद के २७ वर्ष दैनिक 'हिन्दुस्तान' में कार्य करते हुई भी सुदूर स्थानों से आर्यसमाजों के वार्षिकोत्सवों पर व्याख्यान के लिए मुझे बुलाया जाता। ऐसे समय प्रायः मैं अखबार में एक वर्ष में जो मेरा एक मास का साधिकार अवकाश बनता उसका प्रयोग करता और उस अवधि में देश-दर्शन पर निकल पड़ता। जैसे बम्बई

से निमन्त्रण आता तो मैं एक मास का अवकाश लेकर पश्चिमी भारत के सीमान्तों तक छू आता। मद्रास का निमन्त्रण आता तो तमिलनाडु और केरल के दर्शनीय स्थानों का चक्कर लगा आता। कलकत्ता का निमन्त्रण आता तो सारा पूर्वी भारत छान आता—जिसमें त्रिपुरा, मणिपुर, नागालैण्ड, बंगलादेश, सिक्किम और भूटान भी शामिल हैं। पटना का निमन्त्रण आया तो मैं बिहारशरीफ, नालन्दा, राजगृह और रांची तक हाथ मार आया।

अब भी कभी-कभी पुराने पंजाब के पुराने परिचित कोई-कोई बुजुर्ग कहीं मिल जाते हैं। वे लगभग आधी सदी पहली की घटनाओं को याद करते हुए कहते हैं कि हमने अमुक स्थान पर आपका व्याख्यान सुना था और उस व्याख्यान में आपने अमुक बात कही थी, यह हमें अब तक याद है। मैं भी हैरान होता हूँ कि इतनी पुरानी बात इन्हें अभी तक याद है, जबकि मैं बहुत-कुछ भूल चुका हूँ। अब न वह पंजाब रहा, न उस पीढ़ी के लोग रहे। अब पाकिस्तान बने पंजाब के उन स्थानों को दुबारा देखने का अवसर जीवन में कभी नहीं मिलेगा। तब से अब तक देश में कितने उतार-चढ़ाव और कितने उत्थान-पतन की घटनाएँ घटित हुई हैं, उनको जब अपनी आयु के ७५ वर्ष पूरे करने पर एक बार अतीत में झाँककर देखता हूँ, तब महाकवि भर्तृहरि का यह श्लोक स्मरण आता है—

सा रम्या नगरी महान् स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्।
पार्श्वे तस्य च सा विदग्धपरिषत् ताश्चन्द्रबिम्बाननाः॥
उद्वृत्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः।
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥

वे विश्वविजयी प्रतापी सम्राट्, उनके वशंवद वे राजे-महाराजे और उनकी रमणीय राजधानियाँ, वे दरबारी, वे सामन्त सरदार और उनके चाटुकार, वे चन्द्रमुखी रानियाँ, वे उद्धत राजकुमार—ये सब जिस कुटिल काल के कारण केवल स्मृतिशेष रह गए हैं, उस काल को नमस्कार है!

मेरे उपदेशक-जीवन के ज्ञात-अज्ञात, नाम-अनाम श्रोताओ!

उजाले अपनी यादों के हमारे साथ रहने दो।
न जाने किस गली में जिन्दगी की शाम हो जाए!

□□□

लेखक द्वारा रचित एवं सम्पादित कृतियाँ

स्वेतलाना
दिव्य दयानन्द
देवता कुर्सी के
श्रीकृष्ण सन्देश
लन्दन - स्मारिका
ओ मेरे राजहंस !
निजाम की जेल में
मॉरीशस - स्मारिका
दयानन्द - दिव्यदर्शन
जातिभेद का अभिशाप
तूफान के दौर से पंजाब
कश्मीर : झुलसता स्वर्ग
गांधीजी के हास्य - विनोद
हिन्द की चादर पर दाग
राष्ट्रीय एकता की बुनियादें
आर्यसमाज की विचारधारा
सातवलेकर अभिनन्दन - ग्रन्थ
बंगलादेश : स्वतन्त्रता के बाद
ईश्वर : वैज्ञानिकों की दृष्टि में
फिर इस अन्दाज से बाहर आई
जलबिन्दु (गुजराती से अनूदित)
सत्यार्थप्रकाश शताब्दी स्मारिका
आर्यसमाज में गुरुकुल की आहुति
डी० ए० वी० शताब्दी स्मारिका
भारत हिन्दू (आर्य) राज्य कैसे ?

●

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६